धर्मशास्त्रों में न्यायव्यवस्था का स्वरुप

डा० शशि कश्यप

2000

न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन

दिल्ली भारत

FOREWORD

It gives me pleasure to write foreward to book. The theme of this book in itself does not seem to be a novel one. But it has been so arranged that the nature and scope of administration of justice in Dharmaśāstras, is presented well in modern relevance. Some of the chapter-headings are meant for the historical Survey beginning with Vedas such as : Dharmadarśana in Vedas, epics etc. (Ch. I) and also along cosmic evolution. However, other topics relating to kingship and judiciary are important even in present context with the replacement of State for king. The special contribution of the book, as it appears to me is the role of the important vedic deity, namely Varuṇa. The fourth and fifth chapters dealing with *Vyavahāra* section which covers both civil and criminal law of present times incorporate. The treatment of substantive and procedural aspects are very much relevant in the present day context. The sixth chapter deals more with civil and criminal procedures highlighting the ordeal aspect of *Dharmaśāstra*, which is unique in traditional Hindu Law and absent in British legal system. The seventh chapter deals with the parallel provisions in ancient cum traditional and modern systems of judicial procedure, regarding judgement, review and fresh judgement. Dr. Shashi Kashyap has presented for our ready reference sections from Indian Penal Code running parallel often litera-legis and more often in the spirit of law. This again is her special contribution. The appended bibliography adds much value to the book :

I hope and wish this publication will add to the recent publications both ways to Hindi Sahitya as well as Vidhisahitya in Hindi.

Dr. P. P. Apte

आभार

'धर्मशास्त्रों में न्यायव्यवस्था का स्वरूप' पुस्तक को तैयार करने व उसके प्रकाशनार्थ सहयोग करने वाले सभी विद्वानों, सहयोगियों व संबंधियों का आभार प्रकट करना मेरा परम कर्त्तव्य है। सर्वप्रथम, प्रस्तुत विषय पर कार्य करने हेतु उत्साहित करने वाले प्रो. वी. पी. उपाध्याय, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय की मैं हार्दिक आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा स्वरूप मैं प्रस्तुत विधि विषयक विषय पर कार्य करने के लिए संलग्न हुई। प्रो. रमाकांत आंगिरस, संस्कृत विभाग, पंजाब-विश्वविद्यालय का आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने पुस्तक को तैयार करने में समय समय पर अपना अमूल्य परामर्श दिया।

अपने पति श्री. बी. के कश्यप, पुत्री साक्षी व पुत्र मनन के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन केवलमात्र औपचारिकता है जिनके सहयोग के फलस्वरूप मैं अपनी अभिलषित पुस्तक को पूरा कर सकी।

मैं डॉ. पी. पी. आप्टे, निवृत्त संपादक, संस्कृत कोश, डेक्कन कॉलेज, पुणे, संप्रति विज़िटिंग प्रोफ़ेसर अनन्ताचार्य इन्डॉलाजिकल रिसर्च इंस्टीटयूट की हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपना अमूल्य समय निकालकर इस पुस्तक का प्राक्कथन लिखना स्वीकार किया।

न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन के श्री सुभाष जैन जी का आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने मेरी पुस्तक को प्रकाशित करने की हार्दिक इच्छा प्रकट की व तत्परता दिखाई। ग्रंथ के प्रकाशित करने में उनका सहयोग मुझे सदा स्मरणीय रहेगा।

मुम्बई — डॉ० शशि कश्यप
मार्च, २०००

भूमिका

न्यायव्यवस्था के अध्ययन के लिए हमारे धर्मशास्त्र मुख्य स्रोत हैं। इस विषय पर अध्ययन करते हुए अधिकांशतः विद्वानों ने मनुस्मृति व याज्ञवल्क्यस्मृति को ही आधार बनाया है व धर्मसूत्रों में उपलब्ध सामग्री को छोड़ दिया है। किन्तु न्यायव्यवस्था के स्वरूप की सम्यक जानकारी के लिए धर्मसूत्रों को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। धर्मसूत्र ही वस्तुतः स्मृतियों व अन्य नीतिग्रन्थों के आधार हैं। धर्मसूत्रों की सूत्रमयी गूढ़विचारधारा ही स्मृतियों में अधिक स्पष्ट होती गयी। अतः न्यायव्यवस्था के स्वरूप व विधिनियमों में आवश्यकतानुसार परिवर्तन व परिवर्धन के विषय में जानकारी के लिए मुख्य धर्मसूत्रों व स्मृतियों के अध्ययन के साथ-साथ अन्य स्मृतियों व ग्रन्थों को भी इस पुस्तक का मूल आधार बनाया है।

किसी भी देश में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने व प्रजा को कर्त्तव्य पालन करने के लिए जागरूक रखने की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था न्यायव्यवस्था ही है। न्याय का स्रोत वेदों को माना गया है व दण्ड तथा प्रायश्चित न्यायव्यवस्था की आत्मा है। 'न्याय' शब्द अपना एक व्यापक अर्थ रखता है। 'नियमेन ईयते इति' अर्थात् जो नियम से चले या जिसे नियम से चलाया जाय वह 'न्याय' है। अपि च 'नीयन्ते प्राप्यन्ते विवक्षितार्था येनेति' अर्थात् जिसके द्वारा अभिलषित अर्थ की प्राप्ति हो, या जो विवक्षितार्थ की ओर ले जाय वही 'न्याय' है। न्यायप्राप्ति से सन्तोष होता है। सन्तोष से व्यवस्था स्थापित होती है व व्यवस्था से धर्म की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो धर्म की ओर ले जाय वही न्याय है। न्यायव्यवस्था के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि अगर कहीं विवाद का विषय हो तो साक्षी को झूठ नहीं बोलना चाहिए यही न्यायव्यवस्था है।

न्यायव्यवस्था में राजा सर्वोपरि होता है। राजा के द्वारा यदि न्यायपूर्वक अपराधी को दण्ड दिया जायेगा तभी प्रजा प्रसन्न रहती है और प्रजा के प्रसन्न रहने पर ही प्रजा स्वकर्म रूप धर्म का पालन करती है। व तभी धर्म, अर्थ व काम ये तीनों वृद्धि को प्राप्त करते हैं। अतः न्याय के द्वारा धर्म की रक्षा होनी चाहिए। लेकिन बिना दण्ड के न्यायव्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती है और दण्ड कानून (विधि) से ही नियंत्रित है। राजा के द्वारा सभी के लिए न्याय की व्यवस्था होने से किसी को कभी किसी तरह का भय नहीं होगा। भयरहित होने पर ही प्रजा स्व-स्व धर्मों का पालन करने में समर्थ होती है। लेकिन अपराध करने पर भी यदि प्रजा को दण्डित नहीं किया जाता तो प्रजा क्रोधित होकर उपद्रव भी कर सकती है अतः न्याय करते समय राजा को स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिए। प्राचीनकाल में पशुपक्षियों के साथ भी न्याय

किया जाता था इस तथ्य की पुष्टि महाभारत के प्रसंग से की जा सकती है। न्याय से संतुष्ट ही स्वधर्म का पालन करने में समर्थ होता है इससे समाज में विषमतायें नहीं होगीं व विषमताओं के अभाव में व्यवस्थाओं में भी विरोध नहीं होगा।

प्राचीनकाल में न्यायव्यवस्था का स्वरूप वेदों में की गई विभिन्न देवताओं की स्तुतियों के आधार पर ही जाना जा सकता है। लेकिन न्यायव्यवस्था के लिए कानून की आवश्यकता कब और कैसे हुई ? यह भी जानना आवश्यक है। सम्भवतः सृष्टि उत्पत्ति के पश्चात् ही जब उसके रक्षण का प्रश्न उठा होगा तभी से कानून का आविर्भाव हुआ होगा। व नियमों को तोड़ने वालों के लिए दण्ड स्वरूप न्यायव्यवस्था की स्थापना हुई होगी।

वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसके उत्पत्तिकर्त्ता व रक्षण के नियमों के विषयों में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। वरुण देवता की स्तुति में कहे गये मन्त्रों से हमें उनके सृष्टि उत्पत्तिकर्त्ता व लोकशासक रूप का परिचय प्राप्त होता है। वरुण को स्थान-स्थान पर 'धृतव्रत' व 'सुक्रतु' आदि विशेषणों से संबोधित किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि सृष्टि को नियंत्रण में रखने के लिए वे सर्वदा ही तत्पर रहते हैं। सृष्टि को नष्ट होने से बचाने के लिए एक नियम, कानून की आवश्यकता थी और वह नियम 'ऋत' व 'सत्य' रूपी व्यवस्था थी जिस व्यवस्था में बंधी हुई सम्पूर्ण प्रकृति अपने-अपने कार्यों में लगी रहती है। इस 'ऋत' के नियामक रूप में वरुण की सत्ता उपलब्ध होती है। वरुण न केवल दूसरों से ही नियमों का पालन करवाते हैं अपितु स्वयं भी उतनी ही तत्परता व निष्ठा से नियमों का पालन करते हैं। वरुण देव के पाश कानून (नियम) भंग करने वालों को सभी स्थानों और कालों में आबद्ध कर लेते हैं। लेकिन अपराध करने पर भी प्रायश्चित करने वालों पर वरुण दया करते हैं। इस प्रकार से वैदिककाल में कानून विषयक कोई स्पष्ट नियम नहीं थे। सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त निश्चित व्यवस्था ही कानून का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है और जिस व्यवस्था को 'ऋत' व 'सत्य' की संज्ञा दी गयी है।

दण्ड के बिना न्यायव्यवस्था सुचारुरूप से नहीं चल सकती है। दण्ड ही वह शक्ति है जिसके द्वारा अराजकता का शमन एवं व्यवस्था की स्थापना हो सकती है। इसी कारण दण्ड को धर्म कहा गया है। व दण्ड धारण करने वाले राजा को 'दण्डधर' कहा गया है। यदि राजा ईर्ष्या, द्वेष व मात्सर्य का त्याग करके निष्पक्ष भाव से दण्ड देता है तभी उसके राज्य में न्याय का प्रकाश होता है व समाज में व्यवस्था कायम रह सकती है। अतः समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिए राजा की परम आवश्यकता होती है। न्यायकर्त्ता राजा की उत्पत्ति के विषय में धर्मशास्त्रों में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। जबकि वैदिक मन्त्रों में उत्पत्ति विषयक उल्लेख प्राप्त होता है। वेदों में 'राजा' और 'राजपद' के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समय में राजा

का चयन गुणों के आधार पर किया जाता था वैदिक आर्यों का राजा 'नेतृत्व' गुण से युक्त था। वह शत्रुओं का दमन करने के लिए नियुक्त किया जाता था। ऋग्वेद में 'इन्द्र' को नेता व यजुर्वेद में 'विजेता' व पुरम्भेता' कहा गया है। राजा का चयन केवल मात्र दुष्टों का संहार करने के लिए ही न होकर बल्कि ज्ञान का प्रसार करने के लिए भी किया जाता था। जैसा कि वाजसनेयि संहिता में कहा गया है– 'इस राज पद के लिए तेरा अभिषेक कर रहा हूँ तू इस राज्य में ज्ञान का प्रसार कर, वैदिक काल में प्रजा को प्रसन्न, सुखी व संतुष्ट रखने वाला भी राजा हो सकता था। वरुण की स्तुति करते हुए वैदिक ऋषि स्वयं को सुखी रखने का आहवान करता है। न केवल प्रजा को सुखी व प्रसन्न करने वाले अपितु सत्य का प्रकाश करने वाले को भी राजा कहा जाता था। अन्यत्र गुणों के आधार पर वेदों में अग्नि को भी राजा कहा गया है। रक्षक गुण के कारण वह सभी के द्वारा वाञ्छनीय है। धर्मशास्त्रों के अनुसार राजा को कुलीन, सत्यबोलने वाला, विनीत, वृद्धों की सेवा करने वाला, प्रजापालन में तत्पर रहने वाला व पक्षपात रहित न्याय करने वाला होना चाहिए। वादी व प्रतिवादी या स्वजनों के प्रति न्याय से हटकर पक्षपातपूर्ण निर्णय देना महांन् दुर्गुण था क्योंकि पक्षपातपूर्ण न्याय से प्रजा राजा के विरोध में बगावत कर देती है अतः पक्षपात रहित होकर स्व और पर की भावना से हटकर न्याय करना एक आवश्यक गुण था।

प्रजापालन राजा का परम कर्त्तव्य है लेकिन प्रजापालन रूप कर्त्तव्य का पालन दुष्ट-निग्रह के बिना संभव नहीं है और दुष्टों का निग्रह व्यवहार (न्याय) से ही हो सकता है। अतः राजा को प्रतिदिन स्वयं व्यवहार को देखना चाहिए। मनु के अनुसार मुकद्दमों को देखने का इच्छुक राजा ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करके स्वयं झगड़ों के कारणों को तय करे। सम्यक् व्यवहार दर्शन करने वाला राजा यज्ञ के समान फल का अधिकारी होता है जबकि निरपराधी को दण्डित करने वाला व अपराधी को छोड़ देने वाला राजा निन्दा का भागी होता है।

धर्मशास्त्रों में 'व्यवहार' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया गया है। लेकिन 'व्यवहार' शब्द के 'झगड़ा या मुकद्दमा' अर्थ को ही प्रस्तुत पुस्तक में ग्रहण किया गया है। कात्यायन के अनुसार उचित आचरण नियम (सम्यग् भाषण, अहिंसन) का जब लोभ, द्वैष वशात् उल्लंघन किया जाय तो वह मनुष्यों का विवाद 'व्यवहार' कहलाता है। व्यवहारदर्शन के लिए राजा को सर्वप्रथम लोकपालों को प्रणाम करके धर्मासन पर बैठकर, दक्षिण हाथ को उठाकर, शरीर को ढ़ककर व एकाग्रचित्त होकर मुकद्दमों को देखना प्रारम्भ करना चाहिए। मनु के अनुसार न तो राजा को और न ही किसी राजकर्मचारी को विवाद प्रारम्भ करना चाहिए। अर्थी व प्रत्यर्थी के द्वारा लाये हुए विवाद को लोभादि के कारण दबाना नहीं चाहिए और न ही उसकी उपेक्षा करके मौन रहना चाहिए।

'व्यवहार' शब्द का अर्थ व व्यवहारदर्शन की विधि के उल्लेख के पश्चात् 'व्यवहारपद' का अर्थ व संख्या का भी उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। झगड़े, विवाद या मुकद्में के विषय को 'व्यवहारपद' कहा जाता है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र या स्मृतिनियमों के विरुद्ध किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा पीड़ित किया जाता है। पीड़ित होने पर जब वह राजा या न्यायाधिकारी को इसका निवेदन करता है तो इसे ही 'व्यवहारपद' कहा जाता है। अपराधों का सिलसिला वैदिककाल से ही प्रारम्भ हो गया था और इस काल की पृष्ठभूमि सूत्रकाल को दायभाग के रूप में मिली थी। महाभारत काल में अपराधों की बहुलता दृष्टिगोचर होती है। धर्मसूत्रों में व्यवहारपदों के विषय में सामग्री मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी लेकिन (अपराधों) व्यवहारपदों का विस्तार से निरूपण स्मृतिकालीन साहित्य में ही उपलब्ध होता है। धर्मशास्त्रों में विभिन्न प्रकार के अपराध व उनके लिए निर्धारित दण्ड व्यवस्था का विवेचन किया गया है क्योंकि दण्ड ही वह शक्ति है जिसे विधि की सुरक्षा के लिए बनाया गया है। जिनके अन्तर्गत विवाद उत्पन्न होता है, उन विवाद के विषयों का अठारह शीर्षकों में विभाजन किया गया है। सभी प्रकार के विवाद इन अठारह शीर्षकों के अन्तर्गत आ जाते हैं। यद्यपि यह विधान औपचारिक ही है लेकिन प्राचीन भारत की न्यायपद्धति के आधार– स्तम्भ कहे जाने वाले कानूनवेत्ताओं को भी 'अठारहपदों' का विभाग मान्य था। इन विवादों के भेदोपभेदों के रूप में अनेक प्रकार के विवादों का उपचार स्मृतियों में उपलब्ध होता है। नारद ने इन प्रभेदों की संख्या १०८ बतलाई है। अपराधों (व्यवहारपदों) का वर्गीकरण करते हुए अपराधविधि एवं नैतिकविधी को पृथक् किया गया है। न्यायविद् बृहस्पति ने सर्वप्रथम व्यवहारपदों का धनमूलक व हिंसामूलक रूप से वर्गीकरण किया है। यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उन्होंने १४ व्यवहारपद 'धनमूलक' व चार (४) 'हिंसामूलक' माने हैं। याज्ञवल्क्य ने व्यवहारपदों के सम्बन्ध में अर्थविवाद (सिविल झगड़े) का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अर्थसंबंधी व मारपीट (हिंसा सम्बन्धी) रूप में झगड़ों को दो भागों में बाँटा है। हिंसा से सम्बन्धित मुकद्दमों को वाक्पारूष्य, (अपमान तथा गाली गलौच सम्बन्धी) दण्डपारूष्य (मारपीट करना) साहस (हत्या तथा अन्य प्रकार की हिंसाए) तथा स्त्रीसंग्रहण (व्यभिचार व परभार्यालंघन) नाम से पुकारा जाता है। हिंसामूलक व अर्थमूलक विवादों में भिन्न-भिन्न दण्डों का भी विधान किया गया है। सभी प्रकार के झगड़ों को मिटाने के नियम आदि एक ही प्रकार के थे। एक ही प्रकार की कचहरियों में उन्हें सुना जाता था।

न्यायकार्य में राजा को बहुत अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता थी क्योंकि न्यायकार्य बहुत अधिक गहन होता था। व्यवहार (न्याय) की प्रक्रिया में व्यवहार के भिन्न-भिन्न पाद माने गये हैं क्योंकि व्यवहार द्विपाद है या चतुष्पाद इस विषय में पृथक्-पृथक् मत मिलते हैं।

धर्मशास्त्रों में अभियोग का परीक्षण सुनिश्चित न्यायिक प्रक्रिया के माध्यम से होता था। न्याय व्यवस्था के समस्त प्रतिबन्धों की पूर्ति पूर्व व उत्तर पक्ष को करनी पड़ती थी। न्यायालय में उपस्थित होकर वाद की स्थापना करने वाला व्यक्ति पूर्वपक्ष तथा जिस व्यक्ति पर आरोप लगाया जाता था वह उत्तरपक्ष होता था। दोनों पक्ष विवाद के निर्णय हेतु अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करते थे व पक्ष की पुष्टि हेतु प्रमाण प्रस्तुत करने पड़ते थे। प्रमाण लिखित, मौखिक व भोग के रूप में होते थे। तदनन्तर वाद का निर्णय करने की 'क्रिया' का प्रारम्भ होता था जिसमें साक्षियों के साक्ष्यों के आधार पर तथ्यों की सिद्धि अथवा असिद्धि तथा पक्षों के तर्क-वितर्क सम्मिलित होते थे। अभियोग का पूर्ण परीक्षण हो जाने पर न्यायाधीश निर्णय की लिखित घोषणा करता था। आरोप प्रमाणित होने पर अपराधी को दण्डित किया जाता था व निर्दोष तथा सत्यवादी व्यक्ति को जयपत्र प्रदान किया जाता था। जयपत्र पर सम्बन्धित विवाद का पूर्ण विवरण, साक्षियों की संख्या व न्यायाधीश के दिनाङ्क सहित हस्ताक्षर होते थे। न्यायालय की मुद्रा भी लगी होती थी। प्रथम न्यायालय में पराजित व्यक्ति के द्वारा उच्च न्यायालय में 'पुनर्निवेदन' (अपील) की भी व्यवस्था थी। ऐसी अवस्था में पूर्व निर्णय अप्रभावी हो जाता था। लेकिन यदि व्यक्ति अपील में भी पराजित हो जाता था तो उसे पूर्व निर्धारित दण्ड का दुगुना दण्ड देना पड़ता था। लेकिन पुनर्न्याय केवल नियमविरुद्ध कार्य में ही होता था। नारद ने स्पष्ट रूप से कहा है कि साक्षी तथा सभ्यों आदि के दोष में ही 'पुनर्न्याय' होता था। अपने कार्यों से हारने वाले के लिए पुनर्न्याय नहीं होता था।

इस प्रकार धर्मशास्त्रकालीन न्यायव्यवस्था अपने में अद्वितीय व अमूल्य थी।

'जलदा'
प्रभादेवी
मुम्बई

शशि कश्यप

संकेत-सूची

अथर्व०	अथर्ववेद
अनु०	अनुशासनपर्व
आ०ध०सू०,	आपस्तम्बधर्मसूत्र
उद्	उद्धृत
ऋक्०ऋग्०	ऋग्वेद
कात्या०	कात्यायन
का०स्मृ०सा०	कात्यायन स्मृतिसारोद्धार
का०नी०सा०	कामन्दकीयनीतिसार
कौ०अ०	कौटिल्य अर्थशास्त्र
गौ०ध०सू०	गौतमधर्मसूत्र
छा०उप०	छान्दोग्योपनिषद
तै०आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै०उ०	तैत्तिरीयोपनिषद
तै०स०	तैत्तिरीयसंहिता
नारद, ना०स्मृ०	नारदस्मृति
नीति०वा०	नीतिवाक्यामृतम्
परा०मा०	पराशरमाधवीय
बृह० बृहस्पति०	बृहस्पतिस्मृति
मनु०, मनु०स्मृ०	मनुस्मृति
महा०	महाभारत
मैत्रा०सं०	मैत्रायणिसंहिता
यजु०	यजुर्वेद
याज्ञ०स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
वासिष्ठ	वसिष्ठधर्मसूत्र
वा०स०	वाजसनेयिसंहिता
वृहद्०	वृहदारण्यकोपनिषद्
वी० मि०	वीर मित्रोदय
व्य०प्र०	व्यवहार प्रकाश
शत०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शान्ति०	शान्तिपर्व
शुक्र०	शुक्रनीतिसार
स्मृ० च०	सम्पतिचन्द्रिका

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

धर्म दर्शन

जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए भारतीय धर्मवेत्ताओं ने चार पुरुषार्थों की व्यवस्था की है– धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष । इन चारों पुरुषार्थों में धर्म को प्रमुखता दी गयी है। उसकी प्रमुखता का कारण यह है कि वह शेष तीनों पुरुषार्थों में अनुस्यूत है। मोक्ष प्राप्ति के लिए अर्थ अनर्थकारी न हो, कामसेवन चारित्रिक अधः पतन का कारण न बने इनके नियन्त्रण और सम्यक् परिपालन के लिए धर्म की व्यवस्था की गयी है। धर्मानुसार (न्यायानुसार) कार्य करने से ही यह संभव है। धर्म एक व्यवस्था है, एक कानून है जिस कानून के अनुसार प्राप्त धन ही वास्तव में अर्थ है। अधर्म से, भ्रष्टाचार से, पापयुक्त नीति से व छल कपट (अन्याय) से प्राप्त धन अनर्थकारी होता है। अधर्म से अर्जित अर्थ पुरुषार्थ नहीं माना गया है अपितु वह पाप है। इसी प्रकार अनियन्त्रित काम सेवन कानून (धर्म) द्वारा मान्य नहीं है लेकिन विशेष परिस्थितियों में 'नियोग' के रूप में प्राचीन काल में उसे धर्म से मान्यता प्राप्त थी।[१] अतः धर्म का पालन करना चाहिए। धर्म का पालन न्याय से पृथक रहकर नहीं किया जा सकता। यथा न्याय करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि अपराधी व्यक्ति (अधर्मी व्यक्ति) छल, कपट या वितण्डा भाव से अपने अपराध को छिपा तो नहीं रहा है। 'प्रमाणैरर्थ परीक्षणं न्यायः'[२] के अनुसार न्यायाधिकारी को प्रमाणों के द्वारा ही वादी व प्रतिवादी के कथनों का निरीक्षण करके न्याय करना चाहिए तभी न्याय धर्मानुसार होगा। इस प्रकार धर्म न्याय पर आश्रित है। न्याय के धर्मानुसार करने के लिए छलादि का ज्ञान आवश्यक है। न्याय और धर्म के परस्पर एक दूसरे के पूरक होने के कारण ही इस पुस्तक में 'धर्म' शब्द को 'न्याय' के अर्थ में ग्रहण किया है। यद्यपि शब्दकोशों में 'धर्म' शब्द के आचार, कानून, कर्त्तव्य, न्याय व नैतिक गुण आदि अनेक अर्थ मिलते हैं।

---

१. देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये।
मनु०, ९/५९
विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन।
वही-९/६०.

२. न्यायभाष्य, १.१.१.।

वेदों में धर्म दर्शन--

'धर्म' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम ऋग्वेद में देखने को मिलता है। 'धर्म' शब्द का प्रयोग वहाँ पर कई अर्थों में हुआ है। यथा कहीं पर स्वभाव अर्थ में, कहीं पर विधि अर्थ में, कहीं पर निश्चित नियम अर्थ में और कहीं पर यज्ञानुष्ठान अर्थ में भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। यह अर्थ परिवर्तन ऋग्वेदीय मण्डलों में दर्शनीय है। ऋग्वेद के प्रारम्भिक मण्डलों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग स्वभाव अर्थ में दखने को मिलता है। 'धर्माणि सनता न दूदुषत'[१] अर्थात् 'प्राचीन धर्म दूषित नहीं होते' में 'धर्म' शब्द इसी अर्थ में आया प्रतीत होता है। अपने-अपने स्वभावगत गुणों (धर्मों) का अतिक्रमण न करते हुए तदनुकूल कार्य करना ही धर्म है। यथा ज्ञानी मनुष्य उत्तम मार्ग पर जाने के लिए यज्ञों में विशाल बल वाले विश्वानर अग्नि की सेवा करते हैं और रत्न प्राप्त करते हैं। मरण-रहित अग्नि देवों की सेवा करता है। इसीलिए प्राचीन धर्म दूषित नहीं होते हैं।

यही 'धर्म' शब्द ऋग्वेद के पंचम मण्डल में 'निश्चित नियम' (व्यवस्था) अर्थ में प्रयुक्त हुआ दिखायी पड़ता है। मित्र और वरुण धर्मपूर्वक देव के विधान से अपने-अपने नियमों की रक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं।[२] मित्र और वरुण द्युलोक में तेजस्वी तथा गति करने वाले सूर्य को स्थापित करते हैं और मेघ की सामर्थ्य से सारे विश्व की रक्षा करते हैं अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि में व्यवस्था की स्थापना करने वाले वरुण व मित्र हैं। यदि क्षण भर के लिए भी व्यवस्था में अव्यवस्था आ जाय तो सम्पूर्ण सृष्टि में हाहाकार हो जाय। इस व्यवस्था को बनाये रखने के कारण ही मित्र व वरुण सुशोभित होते हैं । सत्य (धर्म) के मार्ग पर चलते हुए अपने व्रतों का पालन करते हैं। वरुण का धर्म (कानून) इतना कड़ा है कि उसके कानून से धुलोक व पृथिवी लोक भी कांपते हैं।[३] नियम तोड़ने वालों को वरुण कठोर दण्ड देते हैं। इसीलिए मनुष्य वरुण से प्रार्थना करते हुए दिखायी देते हैं– 'हे वरुण ! हम मनुष्यों से तुम्हारे कर्म में अज्ञानवश जो त्रुटि रह गयी है, उन पापों के कारण हमारी हिंसा मत करना।'[४]

---

१. ऋक्०, ३.३.१; समिध्यमानः प्रथमानुधर्मा। वही, ३.१७.१.।आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे। वही, ४.५३.३.

२. धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया।
वही, ५.६३.७.

३. द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणां विष्कम्भिते अजरे भूरिरेतसा।
वही- ६.७०.१.

४. अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा
नस्तस्मादेनसो देवरीरिषः। वही, ७.८९.५.

'यज्ञानुष्ठान' अर्थ में भी 'धर्म' शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है। ऋग्वेद के पंचम मण्डल में ऋषि अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहता है– हे अग्ने ! तुम सहस्रों को पराजित करने में समर्थ हो। हव्य द्वारा प्रदीप्त और प्रवृद्ध होकर तथा देवताओं के दूत होते हुए तुम हमारे यज्ञानुष्ठान को सम्पुष्ट करने वाले हो। पुरुष सूक्त कहता है कि देवताओं ने यज्ञ के द्वारा यज्ञ किया अर्थात् धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त किया। ये धर्म ही प्रथम धर्म थे।[१] धर्म के ही अनुसार यज्ञादि को प्रचलित किया जाता है। यहां पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'धर्म' यज्ञ से प्राप्त किया। अतः धर्म का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान से है।

ऋग्वेद के समान यजुर्वेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग 'धारण और धारक' (स्वरूप) अर्थ में मिलता है।[२] अग्नि अपनी धारण शक्ति से यज्ञ को धारण करती है।

अथर्ववेद में 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'धार्मिक क्रिया व संस्कारों से अर्जित गुण' के अर्थ में किया गया है। धर्म का लक्षण बतलाते हुए कहा है कि पराक्रम, प्रगलभता, सुख-दुःखादि, हानि-लाभ आदि की प्राप्ति में भी हर्ष शोकादि छोड़कर सत्यधर्म में दृढ़ रहना, दुःख का निवारण और सहन करना, ब्रह्मचर्य आदि अच्छे नियमों से शरीर का आरोग्य, बुद्धि की चतुराई आदि बल का बढ़ाना, सत्य विद्या (वेद) की शिक्षा, कोमल प्रिय भाषण करना, इन्द्रियों को पापकर्मो से रोककर सदा सत्य पुरुषार्थो में प्रवृत्त रखना, तथा न्याय से युक्त होकर पक्षपात रहित सत्य का आचरण व असत्य का त्याग करना ही धर्म है।[३]

ऐतरेय ब्राह्मण में 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'समस्त धार्मिक कर्त्तव्य' अर्थ में किया गया है।[४]

वेदों के पश्चात् वेदों के ही सिद्धान्तों को लेकर चलने वाले उत्तर वैदिक साहित्य (उपनिषद् साहित्य) में 'धर्म' शब्द के अर्थ में पर्याप्त अन्तर दिखायी पड़ता है।

---

१. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्।
ऋक्० १.६४.५०.
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।
यजु०, ३१.१६.

२. मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां ध्रुवेण धर्मणा
विश्वस्यारिष्ट्ये यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिन्द्रईडितः।
वही, २/३.

३. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले।।
अथर्व०, ११.७.१७.

४. धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युत्कृष्टमेवंविदभिषेक्ष्यन्नेतयार्चाभिमन्त्रयेत। ऐतरेय ब्राह्मण, ७/७

यह अर्थ परिवर्तन समय की मांग थी। केवल मात्र धार्मिक अथवा यज्ञानुष्ठान आदि अर्थों में 'धर्म' शब्द का प्रयोग समाज की स्थिति को दृढ़ नहीं कर सकता था। अतः उपनिषद् साहित्य में 'धर्म' शब्द का प्रयोग एक महत्वपूर्ण अर्थ में मिलता है, जो कि पश्चातभावी धर्मशास्त्र साहित्य में उपलब्ध आश्रमधर्म के बीज का वपन सा प्रतीत होता है। छान्दोग्योपनिषद्[१] के अनुसार धर्म की तीन शाखाएं मानी गयी हैं- यज्ञ, अध्ययन एवं दान। दान देना गृहस्थ का कर्त्तव्य है अतः 'दान'-धर्म की गृहस्थ रूप एक डाल है। तप-धर्म के कार्य में कष्ट सहना, सब व्रतों का पालन करना अर्थात् वानप्रस्थ आश्रम का निर्वाह करना-यह धर्म की दूसरी शाखा है तथा ब्रह्मचारी बनकर अपने को तपस्या से क्षीण करते हुए आचार्य कुल में रहना-ब्रह्मचर्य रूपी डाल धर्म की तीसरी शाखा है। अतः यहां पर 'धर्म' शब्द आश्रमों के विलक्षण कर्त्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'सत्य बोलो' व 'धर्म का पालन करो।''[२] धर्म के विषय में वहाँ कहा गया है कि जो बात जैसी जानी गई है उसको हिंसा और कपटरहित होकर कहना ही धर्म का आचरण करना है। तैत्तिरीयारण्यक में सत्य और ऋत दोनों को एक ही कहा गया है। पक्षपात रहित सत्य भाषण करना ~ सत्य का आचरण करना से बढ़कर अन्य कोई धर्म का लक्षण नहीं है क्योंकि सत्य से ही उत्तम सुख की प्राप्ति होती है। अतः सभी मनुष्यों को सदा सत्य बोलना चाहिए। धर्म लक्षण के प्रसंग में वहाँ पर 'तप', दम, शम, दान आदि का भी वर्णन किया गया है। तपादि के द्वारा विद्वान् लोग परमेश्वर को प्राप्त होते हैं तथा काम, क्रोध आदि शत्रुओं को जीतकर धर्म में स्थिर रहते हैं। 'दान' देना भी धर्म है क्योंकि दान से ही शत्रुओं को भी जीतकर मित्र कर लेते हैं। सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा धर्म में ही है। धर्म से ही मनुष्य पापों से छूट सकता है। धर्मोचित कार्यों को करने के लिए मन का पवित्र होना भी आवश्यक है क्योंकि मन के पवित्र होने से ही सभी धर्मकार्य सिद्ध होते हैं।[३]

बृहदारण्यकोपनिषद्[३] के अनुसार भी धर्मपालन सभी के लिए सामाजिक एवं सांस्कृतिक महत्व रखता था ब्रह्मा ने श्रेयोरूप धर्म को रचा था। धर्म क्षेत्र का भी क्षेत्र

---

१. त्रयोधर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो
ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्।
छा० उप०, २/२३.

२. 'सत्यं वद', 'धर्मं चर' -तैत्तिरीयोपनिषद्, ११.११.

३. ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः
शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।
तै० आ० १०/८.

४. धर्मात् परं नास्ति.....एवं यो वै स धर्मः
सत्यं वै तत् तस्मात्सत्यंवदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति
धर्म वा वदन्तं सत्यं वदतीत्येतद् ध्यैवैतदुभयं भवति।
वृहद्०, १/४/११-१४.

है, बल का भी बल है, क्योंकि धर्म से परे कुछ नहीं है। धर्म के बल से ही निर्बल व्यक्ति बलवान पर ऐसे शासन करता है जैसे राजा की सहायता से शासन कर रहा हो। वहाँ कहा गया है कि सत्य ही धर्म है, सत्य और धर्म ये दोनों एक ही वस्तु हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से समाज का काम तभी चल सकता है जब वे अपने-अपने धर्म का पालन करें।

दर्शन में धर्म–

मीमांसा दर्शन में जैमिनि ने धर्म के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है– वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है।[१] अर्थात् वेदों में मनुष्यों के लिए जिसके करने की आज्ञा दी है, वही धर्म है और जिसके करने की आज्ञा नहीं दी गयी है वह अधर्म कहलाता है। मीमांसक सम्मत धर्म लक्षण में सभी कर्त्तव्यों, नियमों, विधियों, कानूनों व सत्य आचरणों का समावेश हो जाता है जिनका वेदों में निर्देश किया गया है। दूसरे शब्दों में मीमांसक वेदोक्त धर्म लक्षण की ही स्थापना करते हैं।

मीमांसक अभिमत 'धर्म' लक्षण में 'चोदना' शब्द की प्रेरणा उसे कहां से प्राप्त हुई ? यह प्रश्न उठता है। यदि इस पर सूक्ष्म रूप से विचार करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि वेदों के 'गायत्री मन्त्र'[२] के 'प्रचोदयात्' पद से ही उसे यह प्रेरणा प्राप्त हुई है। गायत्री मन्त्र में भगवान सूर्य से यह प्रार्थना की गयी है कि वह बुद्धि को शुभ कर्मों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में प्रवृत्त करें।

वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा करते हुए कणाद मुनि कहते हैं कि जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि होती है वही धर्म है।[३] यह अभ्युदय और निःश्रेयस् क्या है ? अभ्युदय का अर्थ है– लौकिक उन्नति व निःश्रेयस् का अर्थ है– मोक्ष (हमेशा एक जैसा रहने वाले आनन्द) लौकिक उन्नति व मोक्ष का साधन है- सत्यभाषण, सत्य का आचरण करना, तप, दान, कामक्रोध आदि से रहित होना व यज्ञानुष्ठान। सत्याचरण रूप धर्म का अनुष्ठान करने से व्यक्ति इहलोक में तो सुख को पाता ही है परलोक में भी शाश्वत सुख का अधिकारी हो जाता है। वैशेषिक सम्मत धर्म का लक्षण मूल रूप से वेदोक्त धर्म की ही व्याख्या है। वेदों में, जैसा कि हमने पहले देखा है, शम, दम, यज्ञ, सत्याचरण को धर्म का लक्षण कहा गया है।

बौद्ध धर्म साहित्य में प्रयुक्त 'धम्म' शब्द संस्कृत के 'धर्म' शब्द का पालि रूपान्तर है। बौद्ध साहित्य मे धर्म शब्द व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और इसकी एक निश्चित परिभाषा देना कठिन है। 'धम्म' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं

---

१. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। पूर्वमीमांसासूत्र, १.१.२.

२. ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य
धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

३. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक सूत्र, १.१.२

यथा-अनुशासन, कानून या धर्म।[१] इसका अर्थ प्रसंग के अनुसार ही लगाया जा सकता है। प्रायः इसका प्रयोग विशेष रूप से बुद्ध के द्वारा उपदेशित कानून या धर्म से होता है।[२] धम्मपद में भी 'धम्म' शब्द सदाचार के लिए प्रयुक्त हुआ है। अप्रमाद, अक्रोध, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह और अवैर आदि सदाचार के नियम हैं। समस्त पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना तथा अपने चित्त को शुद्ध करना यही बुद्ध का अनुशासन है।[३] बौद्धधर्म में अवैर से वैर को तथा अक्रोध से क्रोध को जीतने के लिए आत्मदमन पर विशेष जोर दिया गया है।[४]

बौद्ध धर्म साहित्य में 'धर्म' का एक अन्य अर्थ है– अत्यन्त सूक्ष्म प्रकृति तथा मन के अन्तिम तत्त्व जिनका पुनः पृथक्करण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार जगत् के अत्यन्त सूक्ष्मतम पदार्थों की ही संज्ञा धर्म है। बुद्ध के प्रधान मान्य सिद्धान्त 'सर्वं अनात्म' के अनुसार आत्मा को छोड़कर सर्ववस्तुओं की सत्ता या अस्तित्व है। सर्ववस्तु की दूसरी संज्ञा 'धर्म' है। धर्म का इस विलक्षण अर्थ में प्रयोग हम बुद्धधर्म में ही पाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का अनुशासन रूप जो धर्म है उसका मूल भी वैदिक धर्म में ही निहित है।

जैन परम्परा में 'वस्तु का स्वभाव' धर्म कहा गया है।[५] प्रत्येक वस्तु का किसी न किसी प्रकार का अपना स्वभाव होता है। वही स्वभाव उस वस्तु का अपना धर्म माना जाता है। उत्तम क्षमादि दस धर्म हैं, सम्यक् दर्शनादि रत्नत्रय धर्म हैं, जीवों की रक्षा करना धर्म है। आचार्य कुन्दाचार्य के अनुसार चारित्र ही धर्म है। सम्यक् दर्शन ही धर्म का मूल है।[६] आत्मा के अहिंसा, संयम, तप आदि गुणों को भी धर्म का नाम

---

१. Dharma has many meanings. under one aspect it mean religion, particularly the religion taught by Budha, the Law which every Budhist should accept and observe. Under another aspect dharma is virtue or the realisation of the law.
धम्मपद की भूमिका, मैक्समूलर, एफ. जिल्द- १०.

२. प्रवचनधर्मता पुनरत्र नैरात्म्यं बुद्धानुशासने वा।
अभिधर्म कोश की व्याख्या 'स्फुटार्था' में।

३. सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा।
सचित्त-परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।। धम्मपद, १४.५.

४. न हि वैरेन वेरानि सम्मन्तीध कदाचन।
अवेरेण च सम्पन्ति एस धम्मो सनातनो।

५. धम्मोवत्थु सहावो, रवमादि भावो य दसवि हो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्रवणं धम्मो।

६. चारित्तं खलु धम्भो। प्रवचनसार १८१.
दसणं मूलो धम्मो। दर्शन पाहुडा, १२१.

दिया गया है।[१] महावीर ने कहा है कि सत्य आचरण से धर्म का पालन करें जिससे वास्तविक कल्याण हो[२] क्योंकि धर्म के अतिरिक्त इस संसार में कोई वस्तु विद्यमान नहीं है जो उपयोग में आये। तथ्यतः सत्यं शिवं सुन्दरम् की समष्टि ही धर्म है। महावीर ने धर्म के विषय में जो कुछ कहा वह लोकमंगल की भावना से सम्बन्धित है इसलिए उन्होंने हिंसा का घोर विरोध किया तथा प्रत्येक प्राणी को धर्म का आचरण स्वीकार करने के लिए कहा क्योंकि धर्म का आचरण अति दुष्कर है।[३]

जैन सम्मत धर्म लक्षण को देखने से ज्ञात होता है कि उन्होंने वेदों में उपलब्ध धर्म शब्द के अर्थ तथा मनुस्मृति आदि धर्म ग्रन्थों में उपलब्ध धर्म शब्द के अर्थ से भिन्न अर्थ को स्वीकार नहीं किया है। वेदों में स्वरूप अर्थ, शम, दम, तप आदि अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है उसी तरह का प्रयोग जैन परम्परा में भी देखने को मिलता है।

कामसूत्र में धर्म के विषय में कहा गया है कि पारमार्थिक एवं परोक्ष फल देने वाले यज्ञ आदि कर्मों में जल्दी प्रवत्त न होने वाले मनुष्य का शास्त्र के आदेश से प्रवृत्त होना एवं इसी लोक में प्रत्यक्ष फल मिलने से मांस आदि खाने में प्रवृत्त मनुष्य का शास्त्र के आदेश से निवृत्त होना-यहीं प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप दो प्रकार का धर्म है।[४]

कामसूत्रोक्त धर्म का अर्थ मीमांसा सूत्रोक्त धर्म के ही समान प्रतीत होता है। वहाँ भी विधि रूप कर्म को ही धर्म कहा गया है। कामसूत्रकार ने धर्म का जो लक्षण बताया है। उसके मूल में लोक में अभ्युदय और परलोक में कल्याण प्राप्त करने की भावना निहित है।

महाभारत और धर्म दर्शन—

महाभारत में 'धर्म' की बड़ी ही व्यापक तथा विशद कल्पना स्वीकार की गयी है। इस विश्व के नाना विभिन्न अवयवों को एक सूत्र में, एक श्रृंखला में बाँधने वाला जो सार्वभौम तत्व है वही धर्म है। धर्म के बिना प्रजाओं को एक सूत्र में धारण करने वाला तत्व दूसरा नहीं है।[५] धर्म की परिभाषा बताते हुए भीष्मजी ने युधिष्ठिर से कहा

---

१. जैनदर्शन, मेहता मोहनलाल, पृ० ८.

२. जाजा वच्चइ रयणी, नसा पडिनिगत्तई।.......
धम्मं च कुणमाणस्य सफला जत्तिराइओ।।
उत्तराध्ययन, ४/२४-२५.

३. धम्मं चर सदुच्चरं । उत्तराध्ययन, १८/३३.

४. अलौकिकत्वाददृष्टार्थत्वादप्रवृत्तानां यज्ञादीनां शास्त्रात् प्रवर्त्तनम्,
लौकिकत्वादृष्टार्थत्वाच्च प्रवृत्तेभ्यश्च मांसभक्षणादिभ्यः
शास्त्रादेव निवारणं धर्मः। कामसूत्र, १.२.७.

५. सर्वत्र विहितो धर्मः सत्यप्रेत्य तपः फलम्।
महाभारत, शन्तिपर्व, १७४/२.

है कि 'प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है अतः जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् सिद्ध हो, वही धर्म है।[१] अन्यत्र भी कहा गया है कि धारण करने के कारण ही धर्म को धर्म कहा जाता है। धर्म ही समाज को धारण करता है।[२] धर्म की इसी प्रकार की व्याख्या शन्तिपर्व में भी की गयी है।[३] एक स्थल पर सत्य को ही धर्म कहा गया है।[४] दयानन्द भाष्यभूमिका में भी सत्य आचरण व धर्माचरण को एक ही कहा गया है। धर्माचरण व न्यायाचरण को हम पृथक नहीं कर सकते हैं क्योंकि धर्म का पालन न्याय के अनुसार ही होना चाहिए। महाभारत में इसीलिए कहा गया है कि अगर किसी सभा में न्याय के लिए व्यक्ति के उपस्थित होने पर सभासद्गण न्याय करने के लिए उद्यत नहीं होते तो धर्म (न्याय) को महान् पीड़ा पहुँचती है। किसी राजसभा में आर्त व्यक्ति जो दुःखों से प्रताड़ित होकर न्याय मांगने जाता है जलते हुए आग के समान होता है। उस समय सभासदों का यह पवित्र कर्त्तव्य होता है कि वे सत्य धर्म के द्वारा उस प्रज्जवलित अग्नि को शान्त करे अर्थात् राजा का यह कर्त्तव्य होता है कि वह न्याय की मांग करने वाले व्यक्ति को धर्म के अनुसार न्याय प्रदान करे। न्याय को धारण न करने पर वह पाप का भागी होता है।[५]

'राजधर्म' रूप विशेष धर्म का निरुपण करने के अतिरिक्त महाभारत में सामान्य धर्म का निरुपण भी किया गया है। वहाँ कहा गया है कि अपने लिए जो वस्तु प्रतिकूल हो वह दूसरों के लिए कभी नहीं करनी चाहिए।[६] इसी प्रकार से 'अहिंसा को परमधर्म'[७] कहा गया है लेकिन हमें इसका व्यभिचार (अव्यवस्था) भी देखने को मिलता है। यथा ऋग्वेद[८] में विवाह के अवसर पर वधू के घर में अतिथियों के मनोरंजन एवं स्वागत के लिए एक या अनेक गायों के वध का विधान किया गया है। लेकिन मनु

---

१. ग्भवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यात् प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।
शन्ति पर्व १०९-११०

२. धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः
यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः
महा०, कर्णपर्व ६९/५८.

३. महा, शन्तिपर्व १०९-११.

४. यत् सत्यं स धर्मो यो धर्मः स प्रकाशो यः प्रकाशस्तत् सुखमिति। वही- १०९/५.

५. सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत।।
महा०, सभापर्व, ६८/६०.

६. श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत। —महाभारत

७. अहिंसा परमो धर्मः। वही, अनुशासनपर्व। १.११.१३

८. ऋग्वेद, १०.५.६.

कहते हैं कि वेद विहित हिंसा अहिंसा ही जाननी चाहिए क्योंकि धर्म वेद से ही प्रकट हुआ है और वेदविहित हिंसा द्वेष से नहीं की जाती है।[१] वह देश, काल, कर्म आदि के नियम में होती है।

उपर्युक्त विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसंग, परिस्थिति व काल के अनुसार ही नियमों में परिवर्तन होता है। मनु ने भी कहा है कि मनुष्यों के धर्म सत्ययुग में भिन्न प्रकार से होते हैं, त्रेता में अन्य प्रकार से, द्वापर में दूसरे प्रकार से तथा कलियुग में अन्य भाँति होते हैं।[२] सत्ययुग में तप, त्रेता में ज्ञान, द्वापर में यज्ञ और कलि में केवल दान को ही धर्म कहा गया है।[३]

धर्मशास्त्र और धर्म दर्शन–

भारतीय धर्मशास्त्रों में मानवीय आचार एवं गुणों को धर्म माना गया है।[४] वे मनुष्य के लिए पालनीय हैं। धर्म के इस रूप का स्रोत वेदों को माना जाता है। मनु के अनुसार वेद अखिल धर्म का मूल है।[५] आपस्तम्ब धर्मसूत्र की उज्जवला टीका में कहा गया है कि धर्म इस प्रकार के काम को कहते हैं जो अपूर्व के माध्यम से स्वर्ग और मोक्ष का कारण बनता है।[६]

मनु ने जिस किसी को जो भी धर्म कहा है वह सब वेदों में ही कहा गया है। अतः स्पष्ट होता है कि वेदोक्त धर्म व मनु के कहे धर्म में कोई अन्तर नहीं हैं मनु ने धर्म का लक्षण करते हुए का है कि वेद, स्मृति, आचार और मन की प्रसन्नता ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।[७]

धर्मशास्त्रों में धर्म का रूप तीन प्रकार से मिलता है–

---

१. या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्वभौ। मनु०, ५/४४.

२. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरेऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरुपतः। मनु०, १/८५.

३. मनु १/८६.

४. आचारः परमोधर्मः। मनु०, १/१०८.

५. वेदोऽखिलोधर्ममूलम्। वही, २/६.
वेदोधर्ममूलम्। गौ० ध० सू०, १/१ तथा
श्रुतिस्मृतिविहितोधर्मः। वासिष्ठ०, १.४.६.

६. कर्मजन्योऽभ्युदयनिः श्रेयसहेतुरपूर्वारव्य आत्मगुणोधर्मः।
आ०ध०सू० १/१ पर उज्जवला टीका।

७. वेद्ः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।
मनु०, २/१२.

१. धर्म का सामान्य रूप

२. आश्रमों और वर्णों के विशिष्ट कर्त्तव्यों के रूप में धर्म व

३. स्त्री, पुरुष, राजधर्म, देशधर्म व जातिधर्म आदि धर्म विशेष का स्वरूप के रूप में विशेष धर्म।

मनु और याज्ञवल्क्य ने धर्म के कुछ सामान्य लक्षणों का उल्लेख किया है। जो कि मनुष्य के नैतिक गुण हैं। ये दस धर्म के लक्षण हैं[१] धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग। जो द्विज उपर्युक्त धर्म के दस लक्षणों का अध्ययन व आचरण करते हैं वे मोक्ष को प्राप्त करते हैं। याज्ञवल्क्य ने धर्म के नौ लक्षण बताये हैं।[२] जिनमें से सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह दम आदि मनु और याज्ञवल्क्य दोनों में समान रूप से पाये जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने अहिंसा, दान आदि कुछ नवीन लक्षणों को स्थान दिया है। याज्ञवल्क्य ने उस सामान्य धर्म को "आत्मदर्शन" कहा है।[३] गीता में यज्ञ, तप, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, दया, क्षमा आदि धर्मों को सत्वगुणमयी प्रकृति का आश्रय ग्रहण करने वाले कहा है। जन्मधारण करने वाले के स्वभाव से ही ये धर्म होते हैं।[४]

धर्म के सामान्य लक्षण के अतिरिक्त मनु ने ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के पृथक्-पृथक् विशेष धर्मों का भी कथन किया है।[५] यह धर्म विशेष विशिष्ट कर्त्तव्यों के रूप में मिलता है। अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार ब्रह्मचारी, क्षत्रिय, शूद्र व वैश्य का जो-जो कर्त्तव्य निर्धारित किया गया है वही उसका धर्म है। यथा-पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना, दान देना और लेना ब्राह्मण का कर्त्तव्य है। प्रजा की रक्षा करना, दान देना यज्ञ करना, पढ़ना, विषयों में अनासक्ति क्षत्रियों का कर्म है। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, व्यापार करना, ब्याज लेना और खेती करना वैश्यों का धर्म है तथा सेवा करना शूद्र का कर्त्तव्य कर्म है। अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करना इन सबका लक्ष्य है। कर्त्तव्य (धर्म) का अतिक्रमण होने पर दण्ड का भागी होना पड़ता है।

धर्म के उपर्युक्त रूपों के अतिरिक्त मनु ने स्त्रीधर्म, पुरुषधर्म, राजधर्म, देशधर्म

---

१. धृतिक्षमादमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।
मनु०, ६.९२.

२. अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्।
याज्ञ०स्मृ०, १/१२१.

३. इत्याचार दमोऽहिंसा दान स्वाध्याय कर्मणाम्।
अयं तु परमोधर्मौ यद्योगेनात्मदर्शनम् ।।
याज्ञवल्यस्मृति, १/८.

४. भगवद्गीता, ३/१६.

५. मनु०, १/८८-९१.

आदि विशेष धर्मों[१] का भी वर्णन किया है। स्त्री का धर्म है कि वह सदैव प्रसन्नचित्त रहे वह अपने घर के कार्यों को चतुराई से करे। पति की अनिच्छा से व्रत, उपवास आदि न करे क्योंकि स्त्री पति की सेवा के निमित्त जो धर्म कार्य करती है उसी से स्वर्ग में प्रतिष्ठा पाती है।[२]

स्त्री पुरुष मरण पर्यन्त परस्पर एक दूसरे के अनुकूल रहें यह संक्षेप में स्त्री पुरुष धर्म है।[३] राजा का धर्म है कि वह प्रतिदिन वेदज्ञ, विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करे क्योंकि वृद्धों की सेवा करने वाले का सदा राक्षस भी सम्मान करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म, व विशेष धर्म के रूप में धर्म के जिन लक्षणों को कहा गया है उनका पालन करना आवश्यक है लेकिन परिस्थिति व काल के अनुसार कभी-कभी इन नियमों में अतिक्रमण भी देखा जाता है वहाँ पर धर्म सामान्य नियमों का अतिक्रमण ही न्याय है क्योंकि वही धर्म है। और फिर धर्म का स्वरूप तो युग-युग में परिवर्तित होता है। मनु ने स्वयं ही कहा है– मनुष्यों के धर्म सत्ययुग में भिन्न प्रकार के होते हैं, त्रेता में अन्य प्रकार से, द्वापर में दूसरे प्रकार से तथा कलियुग में अन्य भाँति होते हैं।[४] मनु के इस कथन को ध्यान में रखते हुए हम देखते हैं कि यद्यपि धर्मशास्त्रों में व अन्य ग्रन्थों में सत्य, अहिंसा आदि को धर्म का सामान्य लक्षण कहा गया है जो जैसा है उसे वैसा कहना ही सत्य है। सत्य से ही व्यवहार और न्याय होता है तभी पृथ्वी पर सुख और शान्ति विराजमान होती है आत्मोन्नति के लिए सत्य का अनुष्ठान करना आवश्यक है लेकिन परिस्थिति वश इस सामान्य धर्म नियम में भी परिवर्तन देखा जाता है। सत्य बोलो, प्रिय बोलो लेकिन कड़वा सत्य मत बोलो यही सनातन धर्म है।[५] अतः

---

१. स्त्रीधर्मयोगं तापस्यं मोक्षं संन्यासमेव च।
राज्ञश्च धर्ममखिलं कार्याणां च विनिर्णयम्।
मनु०, १/११४.
देशधर्मान्जातिधर्मान् कुलधर्मांश्च शाश्वतान्।
पाषण्डगणधर्मांश्च शास्त्रेऽस्मिनुक्तवान् मनुः ।।
मनु०, १/११८.

२. वही ५/१५०, १५५.

३. वही– ९/१०१.

४. अन्य कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगेन्दूणां युगह्रासानुरूपतः।
वही, १/८६.

५. सत्यं बूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात् एष धर्मः सनातनः।।
वही, ४/३८.

यदि सत्य भाषण किसी निरपराध व्यक्ति की मृत्यु का कारण बनता है तो वह त्याज्य है। वही धर्म है।

इसी प्रकार "अहिंसा को परम धर्म" कहा गया है लेकिन हमें इसका व्यभिचार भी देखने को मिलता है यथा ऋग्वेद में विवाह के अवसर पर वधू के घर में अतिथियों के मनोरंजन एवं स्वागत के लिए एक या अनेक गायों के वध का विधान किया गया है। मनु कहते हैं कि वेद विहित हिंसा अहिंसा ही जाननी चाहिए। क्योंकि धर्म वेद से ही प्रकट हुआ है। वेद विहित हिंसा द्वेष से नहीं की जाती। वह देश, काल कर्म आदि के नियम में होती है।[१] यदि धर्म के सामान्य नियमों का अतिक्रमण अनुचित रूप से होता है। तो दण्ड का भागी भी बनना पड़ता है यथा ऋग्वेद में ब्रह्महत्या, मदिरापान, चोरी, गुरुपत्नीगमन और पापाचार का निषेध किया गया है।[२] लेकिन नियमों का उल्लंघन होने पर कानून के रक्षक वरुण पाप भी देते हैं तभी तो उनसे पापमुक्त करने की प्रार्थना भी की गयी है।

उपर्युक्त सम्मत विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वेदों के अनुसार चाहे तप, यज्ञ, दान आदि को धर्म लक्षण माना जाय अथवा मीमांसकों के अनुसार "चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" को माना जाय या फिर वैशेषिक के अभ्युदय व निःश्रेयस के हेतु को धर्म कहा जाय या फिर धर्मशास्त्रों के द्वारा मान्य धर्म के सामान्य व विशेष लक्षणों को माना जाय सबका मूल एक ही है। सभी का मुख्य सूत्र है स्व – स्व निर्धारित नियमों (धर्मों) का पालन करना व कर्त्तव्य कर्मो को करना। जिनका पालन न करने पर दण्ड का भागी बनना पड़ता है। न्याय भी धर्मानुसार ही होना चाहिए। न्याय व धर्म एक दूसरे पर परस्पर आश्रित हैं। अतः धर्म का पालन न्याय के अनुसार ही होना चाहिए। इसी कारण अपनी पुस्तक में "धर्म" शब्द का अर्थ परम्परा प्राप्त नैतिक अर्थ में न लेकर न्याय अर्थ में लिया गया है। जैसा कि कहा भी है– शासन योग्य स्त्री, दास, पुत्रादि तथा छात्रों का धर्म से (न्याय, कानून) से शासन करना चाहिए व धर्म (कानून) रहित अर्थ, काम का परित्याग करना चाहिए।

---

१. या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मोहि निर्बभौ।। मनु. ५/४४.

२. ऋक्०, १०.५.६.

३. शिष्यांश्च शिष्याद्धर्मेण वाग्बाहूदरसंयतः।
वही०, ४/१७५.

४. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ।
धर्मं चाप्यसुखोदर्कं लोकविकुष्टमेव च।।
वही- ४/१७६.

द्वितीय परिच्छेद

प्राचीन भारत में न्याय व्यवस्था

किसी भी देश में शांति व्यवस्था बनाये रखने व प्रजा को कर्त्तव्य पालन करने के लिए जागरुक रखने की सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवस्था न्याय व्यवस्था ही है। न्याय का स्रोत वेदों को माना गया है व दण्ड तथा प्रायश्चित न्यायव्यवस्था की आत्मा हैं। लेकिन यहाँ पर न्यायव्यवस्था के स्वरूप को जानने से पूर्व यह जानना भी आवश्यक है कि "न्याय" शब्द का अर्थ क्या है ? "न्याय" शब्द अपना एक व्यापक अर्थ रखता है। "नियमेन ईयते इति" अर्थात् जो नियम से चले या जिसे नियम से चलाया जाय वह न्याय है।[१] अपि च, नीयन्ते प्राप्यन्ते विवक्षितार्था येनेति' अर्थात् जिसके द्वारा अभिलषित अर्थ की प्राप्ति हो, या जो विवक्षितार्थ की ओर ले जाय वही न्याय है। न्याय प्राप्ति से सन्तोष होता है। सन्तोष से व्यवस्था स्थापित होती है व व्यवस्था से धर्म की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जो धर्म की ओर ले जाय वही न्याय है। मृच्छकटिक नाटक व पंचतन्त्र में "न्याय" शब्द का प्रयोग मुकद्मा (लॉ-सूट), न्याय प्रक्रिया व निर्णय आदि अर्थ में हुआ है। शुक्र का कथन है कि "न्याय में प्रवृत्त रहने वाला राजा अपने को तथा प्रजावर्ग को त्रिवर्ग से युक्त करता है।[२] न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में मनु का कथन है कि अगर कहीं विवाद का विषय हो तो साक्षी को झूठ नहीं बोलना चाहिए यही न्याय व्यवस्था है। लेकिन अगर साक्षी प्रश्न का झूठ उत्तर देता है तो उस व्यवस्था को भंग करने के कारण साक्षी नरक को प्राप्त करता है और व्यक्ति सत्यपालन रूप धर्म का पालन नहीं कर पाता। न्याय व्यवस्था में राजा सर्वोपरि है। राजा के द्वारा यदि न्यायपूर्वक अपराधी को दण्ड दिया जायेगा तभी प्रजा प्रसन्न रहती है और प्रजा के प्रसन्न रहने पर ही प्रजा स्व-स्व कर्म रूप धर्म का पालन करती है।[३] जब तक प्रजा के साथ न्याय नहीं होगा तब तक समाज में धर्म का आचरण नहीं होगा। धर्माचरण न होने पर समाज विश्रृंखलित हो

---

१. शब्द कल्पद्रुम, काण्ड– २.

२. न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमथ च प्रजाः।
त्रिवर्गेणोपसंघते निहन्ति ध्रुवमन्यथा।।
शुक्र १.६७.

३. यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा ।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति।।
मनु० ७/२५.

जायेगा। न्याय व्यवस्था के डगमगाने पर प्रजा में अप्रसन्नता व अत्याचार बढ़ते हैं। न्याय- व्यवस्था के सुचारु होने पर ही धर्म, अर्थ व काम ये तीनों वृद्धि को प्राप्त करते हैं। अन्यथा नहीं। अतः न्याय के द्वारा धर्म की रक्षा होनी चाहिये।[१] लेकिन बिना दण्ड के न्यायव्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती है। दण्ड के द्वारा ही सम्पूर्ण विश्व को सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। मनुस्मृति के अनुसार वास्तविक राजा दण्ड ही है क्योंकि दण्ड में ही राज करने की शक्ति है। वह दण्ड ही पुरुष है क्योंकि अन्य सभी लोग उस दण्ड से शासनीय होने के कारण स्त्रीतुल्य हैं। वह दण्ड ही नेता है क्योंकि सभी को उनके उचित कार्यों की ओर ले जाने का कार्य दण्ड ही करता है।[२]

दण्ड की उत्पत्ति–

स्मृतिकारों के अनुसार अति प्राचीन काल में स्वर्ण युग था, लोग नीतियुक्त आचरण करते थे। धीरे-धीरे उनके जीवन में बेईमानी आ गयी। इसी लिए विद्वानों एवं राजा ने नियमों का निर्माण किया और कानूनों का प्रचलन हुआ। मनु के अनुसार कृतयुग (सत्ययुग) में धर्म अपनी सम्पूर्णता (चतुष्पाद) के साथ विराजमान था, किन्तु धीरे-धीरे त्रेता, द्वापर व कलियुग में चोरी, झूठ व धोखाधडी के कारण क्रमशः धर्म की अवनति होती चली गयी।[३] बृहस्पति व नारद के अनुसार जब लोग धार्मिक व सत्यवादी थे उस समय न तो कानून (व्यवहार) की आवश्यकता थी और न ही द्वेष व मत्सर था। जब लोगों में धर्म का ह्रास होने लगा तब धर्म एवं न्याय का प्रवर्त्तन हुआ तथा राजा झगड़ों को दूर करने वाला एवं दण्डधर घोषित हुआ।[४] अतः वह राजा शास्त्र मर्यादा के अनुसार अपेक्षित कार्यों में जिस धर्म की व्यवस्था करता है (जिस कानून को बनाता है) उसे न चाहने वालों को भी उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। राजा प्रजा से नियमों का पालन करवा सके इसीलिए उसके लिए भगवान ने सम्पूर्ण जीवों के रक्षक, धर्म

---

१. धर्म एव हतो हन्ति धर्मों रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्
मनु. ८/१५.

२. मनु० ७/१७.

३. चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे ।
नाधर्मेणागमः कश्चित्परस्तस्य प्रवर्त्तते ।।
इतरेष्वागमाद्धर्मः पादशस्त्ववरोप्यते ।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते ।। मनु० १, ८१-८२.

४. धर्मप्रधानाः पुरुषाः पूर्वमासन्नहिंसकाः।
लोभद्वेषाभिभूतानां व्यवहारः प्रवर्त्तत इति।
धर्मैकतानाः पुरुषा यदासन् सत्यवादिनः। तदा न व्यवहारोऽभून्न द्वेषो नापि मत्सरः। नष्टे धर्मै मनुष्याणां व्यवहारः प्रवर्तते। दृष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः स्मृतः। नारद व बृहस्पति, स्मृति-चन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड, पृ०-१ पर उद्धृत एवं वीरमित्रोदय, व्यवहारकाण्ड, पृ० ५ पर उद्धृत।

स्वरूप पुत्र, दण्ड की सृष्टि की।[१] याज्ञवल्क्य ने भी धर्म व दण्ड की एकरूपता प्रतिपादित की है।[२] "दण्डवशात् ही सभी अपने-अपने धर्मों का पालन करने में संलग्न रहते हैं व स्वधर्म रूप व्यवस्था से विचलित नहीं होते।[३] लेकिन दण्ड का प्रयोग देश, काल व जाति आदि का विचार करके ही करना चाहिए। यदि दण्ड का प्रयोग लोभ या प्रमाद से होता है तब सभी ओर विनाश ही दृष्टिगोचर होता है।[४] यदि राजा दण्ड प्रयोग में शिथिलता करता है और निरालस्य होकर अपराधियों को उचित दण्ड नहीं देता है तो सामाजिक व्यवस्था और राज्य व्यवस्था बिगड़ जाती है ऐसी स्थिति में "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की व्यवस्था चलने लगती है। बलवान दुर्बल को शूल से बेंधकर उस प्रकार सताने लगते हैं जैसे मछलियों को लोहे की सलाखों में छेदकर पकाया जाता है।[५] दण्ड का समुचित प्रयोग न होने पर किसी के अधिकार और भाग की रक्षा नहीं हो पाती हैं व प्रजा में मात्स्यन्याय उत्पन्न हो जाता है फिर जिस प्रकार से बड़ी मछली छोटी मछलियों को खा जाती है उसी प्रकार मनुष्यों में भी बलवान व्यक्ति कमजोर व्यक्ति को कष्ट पहुँचाने लगता है अतः दण्ड के द्वारा ही रक्षित व्यक्ति समर्थ बन जाता है। इसी मात्स्य न्याय का उल्लेख रामायण,[६] महाभारत,[७] कौटिल्य[८] व कामन्दकीयनीतिसार आदि में भी मिलता है।[९] शपतथ ब्राह्मण में आया है कि जब कभी अकाल पड़ता है तो बलवान दुर्बल को दबा बैठता है। क्योंकि पानी ही न्याय है"

---

१. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः। मनु० ७/१४.

२. धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।
याज्ञ० १/१३४.

३. मनु० ७/१५.

४. समीक्ष्य सधृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः ।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः। मनु० ७/१९.

५. यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डयेष्वतन्द्रितः ।
शूले मत्स्यानिवापक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः ।। मनु० ७/२०.

६. मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ।
रामायण, २/६७/३१.

७. दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलान् बलवत्तराः ।
शान्तिपर्व, १५/३०.
–राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः .... जले
मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलं बलवत्तराः। वही, ६७-१६.

८. अप्रणीतो हि मत्स्यन्नयायमुद्भावयति। वलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। तेन गुप्तः प्रभवतीति। कौ०अ०, प्रथमप्रकरणं, अध्याय–३, ११-१२.

९. दण्डाभावे परिध्वंसि मात्स्यो न्यायः प्रवर्तते। का० नी० सा०,
२/४०, अपि च नीतिवाक्यामृत दण्डनीतिसमुद्देश, ७.

इसका तात्पर्य यह है कि जब वर्षा नहीं होती तब न्याय का राज्य समाप्त हो जाता है और मात्स्यंन्याय कार्यशील हो जाता है।[१] लेकिन इस मात्स्यन्याय का प्रवर्तन मनुष्यों में न हो इसीलिए दण्ड की व्यवस्था (दण्ड का प्रयोग) होना आवश्यक है।

दण्ड की व्युत्पत्ति–

शुक्रनीति[२] एवं कामन्दक[३] के अनुसार "दण्ड" शब्द की व्युत्पत्ति "दम" से हुई है अर्थात् नियन्त्रण या शासन। इसी कारण राजा को दण्ड का रूप कहा गया है क्योंकि नियंत्रण राजा में केन्द्रित है। शुक्र के अनुसार जिस उपाय से मनुष्य दुराचार से निवृत्त और सदाचार में प्रवृत्त किया जाता है उसे दण्ड कहते हैं और जिससे दमन किया जाता है उस उपाय अथवा साधन का नाम भी दण्ड है। इस व्याख्या से दण्ड के दो रुप ज्ञात होते हैं– एक तो यह कि जो अपराध एवं अप्रिय कार्य को भविष्य में न करने की प्रेरणा देता है। तथा दूसरा यह है कि जो अपराधी को दण्डित करता है व अपकारित को उचित न्याय दिलाता है। इसी दण्ड के नियमों को नीति इसलिए कहा गया है क्योंकि नीति का अर्थ है "ले चलना" अर्थात् जो दण्ड की ओर ले चले। मत्स्यपुराण, अग्नि पुराण तथा शान्तिपर्व में आया है कि "दण्ड" नाम इसलिए पड़ा है कि यह अनियन्त्रित लोगों को दबाता है और अभद्र तथा अनीतिमान को दण्डित करता है।[४] दण्ड ही सब पर राज्य करता है, सबकी रक्षा करता है। यह न्याय के रक्षकों के सो जाने पर भी जगा रहता है। बुद्धिमान् लोग इसे धर्म कहते हैं।[५] दण्ड कानून (विधि) से ही नियंत्रित है। जहाँ एक ओर "न्याय दण्ड के बिना पंगु हैं" का सिद्धान्त सही है वहीं यह भी सही है कि केवल दण्ड के भय से ही अधिकार और कर्त्तव्य की सुरक्षा नहीं हो सकती है इसी लिए कानून की सुरक्षा के लिए दण्ड की शक्ति को उसका सहायक बनाया गया है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण, ११.६.२४.
२. शुक्रनीति, १.१५७.
३. दमो दण्ड इति ख्यातस्तात्स्थ्याद्दण्डोमहीपतिः। कामन्दक, २/१५.
निवृत्तिरसदाचाराद्दमनं दण्डतश्च तत्।
येन सन्दम्यते जन्तुरुपायो दण्ड एव सः।। शुक्र, ४/१/४३.
४. यस्माददान्तान्दमत्यशिष्टान्दण्डयत्यपि। दमनाद् दण्डनाच्चैव तस्माद् दण्डं विदुर्बुधाः। शान्तिपर्व, १५/८.
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः। अग्निपुराण, २२६/१६, अपि च, मत्स्यपुराण, २२५/७.
५. दण्डः शास्तिप्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषुर्जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।
मनु० ७/१८ अपि च, शान्तिपर्व, १५/२.

अतः स्पष्ट है कि राज्य की इच्छा एवं दण्डशक्ति व्यक्ति एवं राष्ट्र को धर्म की

सीमाओं के भीतर रखती है, आज्ञा के उल्लंघन पर दण्ड देती है तथा सबका कल्याण करती है। भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं उन लोगों के हाथों का दण्ड हूँ जो दूसरों को नियन्त्रित करते हैं अर्थात् शासन करने वालों का दण्ड हूँ।[१]

दण्ड ही धर्मार्थ की रक्षा करता है। वनपर्व में लिखा है कि बिना दण्डनीति के सारा विश्व बन्धन तोड़ डालेगा। शान्तिपर्व में कहा गया है कि दण्डनीति ही सम्पूर्ण विश्व का आश्रय है। कौटिल्य के अनुसार दण्ड के द्वारा ही प्राप्त वस्तुओं की रक्षा की जा सकती है। अतः उनके अनुसार दण्डनीति अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराने वाली, प्राप्त वस्तुओं की रक्षा करने वाली, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करने वाली, वृद्धि को प्राप्त वस्तुओं को उचित स्थानों में प्रतिपादित करने वाली है।[२] प्रजा के दोषों को नष्ट करने में या दूर करने में दण्ड उसी प्रकार समर्थ होता है जिस प्रकार आयुर्वेद शास्त्र के अनुकूल औषधि का सेवन रोगी के समस्त वात, पित्त, कफ की विकृति को नष्ट करने में समर्थ होता है।[३] लेकिन वह दण्ड न तो अधिक कठोर और न ही अधिक कोमल होना चाहिए अपितु सीमा के भीतर ही होना चाहिए। अपराध के अनुसार न्यायोचित दण्ड ही इस लोक और परलोक की रक्षा करता है।[४]

यद्यपि न्यायालय में न्यायाधीश के सामने मुकद्दमे में वादी व प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने पक्ष को सच्चा कहते हैं एवं वकीलों के माध्यम से अपना-अपना पक्ष सत्य सिद्ध करने में प्रयत्न शील रहते हैं परन्तु उनमें से सच्चा एक ही होता है। ऐसी अवस्था में वादी व प्रतिवादियों के परस्पर विरुद्ध कथन से सत्य का निर्णय न हो सकने पर साक्षियों व खुफिया पुलिस के द्वारा अनुसन्धान करके अपराधी का निश्चय करना चाहिए। अपराधियों के अपराध का निर्णय करके यथादोष दण्ड विधान से राष्ट्र की सुरक्षा होती है। मनुष्य स्वभाव से ही विषयों के वशीभूत होता है। परस्पर स्त्री और धन में लोभित रहता है। वह सज्जनों के द्वारा सेवितधर्म के मार्ग पर दण्ड के भय से ही

---

१. दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।
भ० गीता, १०/३८.

२. अलब्धलाभार्थाः लब्धपरिरक्षिणीः रक्षितविवर्धिनीः,
वृद्धस्य तीर्थेषु प्रतिपादनी च। – कौ० अर्थ० प्र० अधि० वार्तादण्डनीतिस्थापना, ६

३. चिकित्सागम इव दोषविशुद्धिहेतुर्दण्डः।
नीतिवाक्यामृत, दण्डनीतिसमुद्देश,।

४. तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः। मृदुदण्डः परिभूयते।
वही, ११-१२। अपि च, मृदुमप्यवमन्यते तीक्ष्णादुद्विजते जनः।
मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णोभव मृदुर्भव ।।
शान्तिपर्व, १०३/३४.

स्थित रहता है।[१] अतः दण्ड के भय से ही प्रजा सदैव नियमों (कानूनों) का पालन करती है। इसके विपरीत काम और क्रोध के वश में होकर अनुचित रूप से प्रयुक्त दण्ड प्रजा को कुपित कर देता है।[२] और क्रुद्ध होकर प्रजा राजा के खिलाफ भड़क सकती है। प्रजा के क्रोधित हो जाने पर वह स्व-स्व धर्म का पालन नहीं कर सकेगी।

आपस्तम्ब धर्मसूत्र के अनुसार अपराध का सन्देह होने पर राजा को दण्ड नहीं देना चाहिए।[३]

महाभारत में भीष्म कहते हैं कि भगवान् बृहस्पति न्यायानुकूल धर्म की ही प्रशंसा करते हैं। प्रजा को प्रसन्न रखना ही राजा का सनातन धर्म है और वह अपने धर्म का पालन सत्य की रक्षा व न्यायोचित व्यवहार से ही कर सकता है। राजा न्याय के द्वारा न केवल चारों वर्णों के धर्मों की रक्षा करे अपितु पशु पक्षियों के साथ भी न्याय होना चाहिए तभी समाज में विपल्व नहीं होगा व धर्म सुरक्षित रहेगा। राजा के द्वारा सभी के लिए न्याय की व्यवस्था होने से किसी को कभी किसी तरह का भय नहीं होगा। भयरहित होने पर ही प्रजा स्व-स्व धर्मों का पालन करने में समर्थ होगी। उचित न्याय न मिलने पर मनुष्य हताहत होकर धर्म का सम्पर्क ही छोड़ देगें यदि अपराध करने पर भी प्रजा को दण्ड नहीं दिया जायेगा तो प्रजा क्रोधित होकर उपद्रव भी कर सकती है व अपने-अपने धर्मों का त्याग कर देगी। राजा को न्याय करते समय स्नेहवश पक्षपात नहीं करना चाहिए।[४] न्याय करते समय दोनों पक्षों (वादी व प्रतिवादी) की बातों को सुनकर अपना निर्णय सुनाये क्योंकि विशुद्ध न्याय पर ही राज्य प्रतिष्ठित होता है।[५] न्यायोचित व्यवहार से ही धर्म की रक्षा हो सकती है। प्राचीनकाल में

---

१. इदं प्रकृत्या विषयैर्वशीकृतं परस्परं स्त्रीधनलोलुपं जगत्।
सनातनेवर्त्मनिसाधुसेविते प्रतिष्ठते दण्डभयोपपीडितम्।।
का०नी०सा०, २/४२.

२. सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्।
मनु०, ७/२ अपि च,
न्याय्यदण्डत्वम। गौ० धर्म० सू० २/१/८.
देखिए, का०नी०सा० २/३७.

३. न च सन्देहे दण्डं कुर्यात्। .... अपराध सन्देहे
राजा दण्डं न कुर्यात्। २/१०/२.

४. यथा पुत्रास्तथा पौत्रा दृष्टव्यास्ते न संशयः।
भक्तिश्चैषां न कर्त्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते।
महा०अनु० ६९/२७.

५. श्रोतुं चैव न्यसेद् राजा प्राज्ञान् सर्वार्थदर्शिनः।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम्।
वही– ६९/२८.

पशुपक्षियों के साथ भी न्याय किया जाता था इस तथ्य की पुष्टि महाभारत के प्रसंग से की जा सकती है। महाराज जनमेजय के द्वारा अपने भाईयों के साथ यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। यज्ञ करते हुए उनके उस यज्ञानुष्ठान के काल में वहाँ सरमा का पुत्र कुत्ता आकर उपस्थित हो जाता है। जनमेजय के भाईयों के द्वारा मारे जाने पर वह बहुत रोता हुआ अपनी माता के पास पहुँचा। पुत्र के द्वारा स्वयं को निरपराध साबित कर देने पर पुत्र के दुःख से दुःखी उसकी माता सरमा उस यज्ञ स्थल में जाकर राजा जनमेजय को शाप देती है। चूँकि तुमने मेरे निर्दोष पुत्र को मारा है इसलिए तुम को अलक्षित भय आकर घेर लेगा। इस प्रकार से निरपराध को मारने के पाप करने के दण्डस्वरूप शाप देकर सरमा सन्तुष्ट हो जाती है[१] व इस प्रकार के न्याय से सन्तुष्ट ही स्वधर्म का पालन करने में समर्थ होता है। इससे समाज में विषमतायें नहीं होगीं। विषमतायें न होने से व्यवस्थाओं में भी विरोध नहीं होगा। अतः न्याय वह मार्ग है जिसके द्वारा समाज में आन्तरिक व्यवस्था आती है और व्यवस्था आने से विषमतायें नष्ट हो जाती हैं। समय-समय पर न्याय देना व लेना हर व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है। कठोपनिषद् में नचिकेता अपने पिता के द्वारा बूढी व शिथिल इन्द्रिय गौओं को दान में दिये जाने पर अपने पिता का विरोध करता है। वह कहता है कि यह अन्याय है जो गाय दूध नहीं देतीं व अधिक दिन तक जीवित नहीं रहने वाली हैं ऐसी गौओं को दान में देना अन्याय है। अतः वह अपने पिता से कहता है कि इस तरह की गौओं को दान में देकर वे अन्याय कर रहे हैं व उनसे न्याय की मांग करता है कि मैं भी आपका प्रिय हूँ आप मुझे किसे देगें। पिता के द्वारा यम को दिये जाने की बात सुनकर वह यमलोक जा पहुँचता है व अपने पिता के द्वारा किये अन्याय का प्रायश्चित करना चाहता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि समाज का स्तम्भ न्यायव्यवस्था ही है। यह बात जितनी प्राचीन युग में सत्य थी उतनी ही आज भी सत्य है। प्राचीनकाल में न्यायव्यवस्था का स्वरूप वेदों में की गई विभिन्न देवताओं की स्मृतियों व धर्मशास्त्रों के आधार पर ही जाना जा सकता है। लेकिन इस न्यायव्यवस्था के निरुपण के साथ-साथ यह भी जानना आवश्यक है कि कानून की आवश्यकता कब और कैसे हुई जिन नियमों (कानूनों) को तोड़ने वालों के लिए दण्ड व न्याय की आवश्यकता हुई। सम्भवतः सृष्टि उत्पत्ति के पश्चात् ही जब उसके रक्षण का प्रश्न उठा होगा तभी से उस कानून का आविर्भाव हुआ होगा। तथा उन नियमों को तोड़ने वालों के लिए दण्ड स्वरूप न्यायव्यवस्था की स्थापना हुई होगी। वेदों में सृष्टि की उत्पत्ति, उसके उत्पत्तिकर्ता व रक्षण के नियमों के विषय में पर्याप्त उल्लेख मिलता है। वरूण देवता

---

१. महा०, आदिपर्व, अध्याय ३, श्लोक २-८.

की स्तुति में कहे गये मन्त्रों से हमें उनके सृष्टिउत्पत्तिकर्ता व लोकशासक रूप का परिचय प्राप्त होता है। वरूण को स्थान-स्थान पर धृतव्रत व सुक्रतु आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है जिससे यह ज्ञात होता है कि सृष्टि को नियन्त्रण में रखने के लिए वे सर्वदा ही तत्पर रहते हैं। वे कौन से नियम हैं जिनका पालन करने का उन्होंने व्रत लिया व किस प्रकार से व्रतभंग करने वालों को दण्ड देकर न्याय करते हैं इसको जानने से पूर्व उनके सृष्टिउत्पत्तिकर्ता के स्वरूप को जानना आवश्यक है क्योंकि सृष्टिकर्ता ही सृष्टि के रक्षण के विषय में प्रयत्नशील रहता है।

जल-आदि तत्त्व-

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदों, पुराणों व धर्मशास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि सर्वप्रथम जल की सृष्टि हुई थी। तत्पश्चात् सम्पूर्ण सृष्टि की रचना हुई। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि सृष्टि के आरम्भ में न सत् था, न असत् था, न अन्तरिक्ष था, न व्योम था, न प्रकाश, था, न मृत्यु का भय था, न अमृत था। रात और दिन का कोई चिह्न नहीं था। पहले अन्धकार से ढ़का अन्धकार ही था। आदितत्त्व के रूप में केवल जल का ही अस्तित्व स्वीकार किया गया है।[१] विश्व के एकमात्र विधाता विश्वकर्मा को सम्बोधित किये गये सूक्त में कहा गया है– "सृष्टि के पूर्व में उसे ही जलों ने गर्भ रूप में धारण किया।[२]

तैत्तिरीय संहिता में भी आदि में जल की सत्ता स्वीकार की गयी है।[३] शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार भी सृष्टि के प्रारम्भ में केवल जल ही था। जलों से ही सम्पूर्ण सृष्टि हुई।[४] वृहदारण्यकोपनिषद् कहता है– सृष्टि के आदि में जल ही था जल ने ही सत्य को रचा, सत्य ने ब्रह्म को वह ब्रह्म ने प्रजापति को रचा।[५] ऋग्वेद में दिन और रात्रि का विभाजन करने वाले सूर्य का उद्भव भी जल से ही हुआ कहा गया है।[६] आपः से सूर्य की उत्पत्ति ऐतरेय ब्राह्मण में भी कही गयी है। तनदुसार "निश्चय ही आपः

---

१. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम् नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि……।
तम आसीत् तमसा गृढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
ऋक्, १०/१२९/१-३.

२. तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आप। वही, १०/८२/६.

३. आपो वा इदमग्रे सलिलम् आसीत्। तैत्ति०सं० ५/७/५/३.

४. आपो ह वाऽइदमग्रे सलिलमेवास। शत० ब्रा० ११/१/६/१-२.

५. आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त,
सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिम्। वृहदा० ५/५/१.

६. यद् देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत
अत्रा समुद्रा आ गूढहमा सूर्यमजर्भतन।
ऋक्० १०/७२/७.

से जन्म लेने वाला यह आदित्य प्रातःकाल आपः से उदित होता है और सायंकाल आपः में प्रवेश करता है।[१] हिरण्यगर्भसूक्त[२] में भी सूर्य का मूल जल में स्वीकार किया गया है। जल से ही सम्पूर्ण भुवनों की उत्पत्ति हुई है।[३] इस जल तत्त्व को ही आपः, सलिल एवं समुद्र आदि नामों से कहा गया है। न केवल सूर्य अपितु अग्नि की उत्पत्ति भी जल से ही कही गयी है। अन्धकार में किसी प्रकार का कार्य-कलाप होना संभव नहीं होता है अतः प्रकाश की इच्छा से ध्यानरत देवगणों ने जीवमात्र की रक्षा के लिए पूजनीय अग्नि को जलों से उत्पन्न किया है।[४] अगर प्रकाश न होता तो सम्पूर्ण जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। अंधकार में कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता है। केवल प्रकाश की रचना ही वरुण ने नहीं की है अपितु सम्पूर्ण सृष्टि के रचयिता विष्णु भी जल से ही उत्पन्न हुए हैं। ऋषि द्वारा की गयी विष्णु की स्तुति से यह स्पष्ट हो जाता है– "हे विष्णो, जलोत्पादक, अत्यन्त यशस्वी, रक्षक, विस्तृत तुम मित्र के समान सुख देने वाले हो।[५]

धर्मशास्त्रों में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया भी वैदिक सृष्टि प्रक्रिया के समान है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सृष्टि की कामना से भगवान ने सबसे पहले जल की सृष्टि की फिर उसमें अपना वीर्याधान किया। उससे एक अण्डे का जन्म हुआ। वह अण्डा सोने जैसा चमकीला था। उस अण्डे में भगवान स्वयं गर्भित हुए। उस अण्डे में सप्तद्वीप, सागर, लोक, पाताल आदि का निर्माण हुआ।[६] यह भी कहा गया है कि सिसृक्षु भगवान स्वयोनिरूपा प्रकृति को क्षुब्ध करते हैं, जिससे अप् की सृष्टि होती है। इस अप् में वे बीजाधान करते हैं जिससे हिरण्यमय हेमाणु की उत्पत्ति होती है। इस हिरण्याण्ड में वह परमपुरुष भगवान् स्वयं प्रविष्ट होकर उसे उर्वरित करते हैं। वह उर्वरित अण्डा उस अप् में बढ़ने लगता है। उसके विवृद्ध होकर पक जाने पर वही गर्भस्थ पुरुष (हिरण्यगर्भ) अपने पूर्ण विकसित रूप में उससे बाहर निकलता है।

---

१. एष (आदित्यः) वा अब्जा अद्भ्यो वा एष प्रातरुदेति।
आपः सायं प्रविशति। ऐत० ब्रा० ४/२०.

२. ऋक्. १०/१२१.

३. अपांनपादसुर्यस्य मह्ना विश्वान्यर्यो भुवना जजान।
वही– २/३५/२.

४. मित्रं न यं शिम्या गोषु गव्यवः स्वाध्यो विदथे अप्सु जीजनम्।
वही– १/१५१/१.

५. भवा मित्रो न शेव्यो घृतासुतिर्विभूतधुम्न एवया 3
सप्रथाः अधा ते विष्णो विदुषा चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्चराध्यो हविष्मता।
वही, १/१५६/१.

६. अण्डस्यान्तस्त्विमे लौकाः सप्तद्वीपात्रमेदिनी। मनु० १/१०.

७. वही, १/८-९.

जल के नेता-वरुण–

"वरुण" शब्द वृ "वरणे" धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ है– आवृत्त करना। सायणाचार्य "वृ" धातु से निष्पत्ति मानते हुए इसका अर्थ "आवृत्त करने वाला या दुष्टों को अपने बन्धन में बाँधने वाला" करते हैं। तैत्तिरीयसंहिता की टीका में उन्होंने इसका अर्थ "अन्धकार की तरह छिपाने वाला" भी किया है।[१] "वरुण" शब्द के अन्य अर्थ जल-देव (वारुणीवल्लभ), अपाम्पतिः, अप्पतिः) समुद्र का देवता (सिन्धु पतिः) भी है।[२] एक स्थल पर मित्र के साथ वरुण को "सिन्धुपति" कहा गया है। समुद्र में वरुण की स्थिति भी वेदों में स्वीकार की गयी है।[३] चूँकि वरुण का सम्बन्ध जल से स्वीकार किया गया है और हमारे वेदों, धर्मशास्त्रों आदि में सृष्टि की उत्पत्ति जल से स्वीकार की गयी है इसलिए वरुण सृष्टि उत्पत्ति कर्ता हो जाते हैं।

सृष्टि के आदि में अस्तित्वयुक्त इस जल के स्वामी वरुण हैं। मेघ वरुण की प्रेरणा पाकर ही जल को रचता है।[४] वैदिक मन्त्रों में "ऋत" शब्द का अर्थ जल भी किया गया है इसलिए वरुण के एक सूक्त[५] में भी यह स्पष्ट उल्लेख है कि इन्द्र और वरुण ने अपने बल से जल के द्वार को खोला है और सूर्य को आकाश में स्थापित किया है। सोमपान करके प्रसन्नचित्त इन्द्रावरुण शुष्क नदियों को जल से भरते हैं।[६] व वृष्टि जल से सबको सुख देते हैं। ऋषि वरुण की स्तुति करते हुए कहता है– स्वयं प्रकाशित और अपनी महिमा से संसार के जीवों को रचने वाले वरुण के लिए यह हवि रूप अन्न है।[७] वरुण विश्व के स्वामी हैं। विश्व को धारण करने वाले अदिति

---

१. वरुण शब्दस्यान्धकारवदावरकवाचित्वात्।
तै०सं० (सायण) १.८.१६.१.
अन्धकारेणावरणहेतुत्वाद्रात्रेर्वारुणत्वम्।
वही, २.१.७.४.

२. आ राजाना मह ऋतस्य गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातमर्वाक्।
ऋक्, ७/६४/२.

३. अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः।
अथर्व., ७.८३.१, वरुणोऽपामधिपतिः स मामवतु।
वही, ५/२४/४.

४. ऋक्, ७/६४/२.

५. वही, ७/८३/३.

६. अन्वपां खान्यतृन्तमोजसा सूर्यमैरयतं दिवि प्रभुम्।
इन्द्रावरुणा मद अस्य मायिनोऽपिन्वतमपितः पिन्वतं धियः।
वही, ७/८२/३.

७. इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तुमह्ना
अति यो मन्द्रो यजथाय देवः सुकीर्तिं भिक्षे वरुणस्य भूरेः।
ऋक्० २/२८/१.

वरुण जल की रचना करते हैं और उन्हीं की महिमा से नदियाँ बहती हैं, ये सदा चलती रहती हैं और पीछे की ओर लौटती नहीं। यह वेगसहित पृथिवी पर आती हैं।[१] वरुण की वेशभूषा जल है। मित्र और वरुण जल बरसाते हैं। वरुण मशक से धुलोक, पृथिवी और अन्तरिक्ष में लोकहितार्थ जल छिड़कते हैं।[२] उस जल से सम्पूर्ण विश्व के राजा वरुण भूमि को गीला करते हैं। दिव्य जल से परिप्लुत वर्षा उन्हीं के यहाँ से आती है। वरुण का स्वर्णिम आवास जल में है। वे जल के सर्वोच्च पति हैं।[३] जल ही वरुण की पत्नियाँ हैं।[४] मित्र और वरुण जल के नेता हैं। इस प्रकार जल-वृष्टि के द्वारा वरुण मनुष्यों को धारण करते हैं। अतः जल ही जीवन का आरम्भ है व वरुण जीवन देने वाले हैं।

सृष्टिकर्ता वरुण

ऋग्वेद में वरुण के सृष्टिकर्ता होने के सम्बन्ध में कई सूक्त उपलब्ध होते हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि वरुण ने ही सूर्य, पृथिवी, भूमि आदियों की रचना की है। वरुण ने ही रात्रियों को दिन से पृथक् कर दिया है।[५] वरुण में ही तीन स्वर्ग हैं, इनमें तीन प्रकार की भूमियाँ और छः प्रकार की दिशाएँ हैं। वरुण ने सूर्य को स्वर्ग के झूले के समान तेज के निमित्त रचा है।[६] वरुण ने सूर्य के समान समुद्र की रचना की है। वे ही जल की रचना करने वाले व सभी उत्पन्न पदार्थों के स्वामी हैं।[७] मित्र, वरुण और अर्यमा ने ही वर्ष, मास, दिवस, रात्रि, यज्ञ और मन्त्र को बनाया है।[८]

---

१. प्र सीमादित्यो असृजद्विधर्ता ऋतं सिन्धवो वरुणस्य यन्ति।
वही, २/२८/४.

२. नीचीनबारं वरुणः कबन्धं प्रससर्ज रोदसी अन्तरिक्षम्।
तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा यवं न वृष्टिर्व्युनत्तिभूमा।
वही, ५/८५/३.

३. द्रष्टव्य, वरुणोऽपामधिपतिः (स मामवतु)
अथर्व० ५/२४/४.

४. आपो वरुणस्य पत्न्यः। तै०सं० ५/५/४/१.

५. सर्गो न सृष्टो अर्वतीर्ऋतायञ्चकार महीरवनीरहभ्यः।
ऋक्, ८/८७/१.

६. तिस्रो धावो निहिता अन्तरस्मिन्तिस्रो भूमीरुपराः षड्विधानाः
गृत्सो राजा वरुणश्चक्र एतं दिवि प्रेङ्खं हिरण्यं शुभे कम्॥
वही, ७/८७/५.

७. अव सिन्धुं वरुणो द्यौरिव स्थाद् द्रप्सो न श्वेतोमृगस्तुविष्मान्
गम्भीरशंसो रजसो विमानः सुपारक्षत्रः सतो अस्य राजा।
वही, ७/८७/६.

८. वि ये दधु शरदं मासमादर्ध्यज्ञमक्तुं चादृचम्।
अनाप्यं वरुणो मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान आशत। वही, ७/६६/११.

न केवल सूर्य, अग्नि आदि अपितु उत्तरवैदिक काल में सृष्टिकर्ता के रूप में मान्यता प्राप्त विष्णु की उत्पत्ति भी जल से ही हुई है।[१] क्योंकि सृष्टि की प्राक्कालीन अवस्था में सब कुछ जल ही था और उस जल के आगार अथाह समुद्र के स्वामी वरुण हैं। विष्णु का निवास स्थान भी समुद्र है। वह समुद्र में ही शयन करते हैं इस प्रकार वरुण विष्णु के भी उत्पत्तिकर्ता हो जाते हैं। विष्णु का गृह समुद्र था मार्कण्डेय पुराण के कथन से इस बात की पुष्टि हो जाती है। तत्त्वदर्शी मुनियों ने जल को "नार" कहा है। वह "नार" पूर्वकाल में भगवान का अयन (गृह) था इसलिए विष्णु को नारायण कहते हैं।[२] सम्पूर्ण जगत् विष्णु से व्याप्त है। वे ही जगत् के आदि तथा अजन्मा हैं। विष्णु के द्वारा ही आविर्भाव व तिरोभाव होता है। वे ही सृष्टिकर्ता व संहारकर्ता हैं[३] विष्णु की चार मूर्तियों में से पन्नग शैया पर जल में शयन करने वाली विष्णु की मूर्ति से ही सृष्टि कार्य होता है।[४] विष्णु अकेले ही पृथिवी, आकाश व सब लोकों को धारण करते हैं व मनुष्यों को मधुर अन्नादि से युक्त करते हैं।[५] विष्णु भी अपने तीन पगों से तीनों भुवनों को नाप लेते हैं और इस पदक्रमण करने में वे भी नियमों (कानून) का ही पालन करते हैं।[६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि पुराणों में विष्णु का सृष्टिकर्ता का रूप प्रकट हुआ है लेकिन सृष्टिकर्ता होने पर भी जल ही उनका निवास स्थान है और वेदों में वरुण को ही जल का स्वामी माना गया है। जल से ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार जल के स्वामी वरुण विष्णु के भी सृष्टिकर्ता हो जाते हैं।

सृष्टि का निर्माण हो जाने पर सृष्टिकर्ता को स्वभावतः अपनी रचना की रक्षा की चिन्ता होती है। क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न हुई है या प्राप्त हुई है उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय यही सृष्टिकर्ता या वस्तु प्राप्तकर्ता का ध्येय होता है। अतः इस भौतिक सृष्टि के उत्पन्न हो जाने पर उसको नष्ट होने से बचाने के लिए वरुण को एक नियम, एक कानून की आवश्यकता थी। और वह नियम "ऋत्" व सत्य रूपी दैवी व्यवस्था

---

१. भवा मित्रो न शेव्यो धृतासुतिर्विभूतद्युम्न एवया 3 सप्रथाः
अधा ते विषणो विदुषा चिदर्ध्यः स्तोमो यज्ञश्चराध्यो हविष्मता।
ऋक् १/१५६/१.

२. आपो नारा इति प्रोक्तार्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
अयनं तस्यताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः।। मार्कण्डेयपुराण ४/४३.

३. आविर्भावतिरोभावदृष्टादृष्टविलक्षणम्
वदन्तियत्सृष्टमिदन्तथैवान्ते च संहृतम्।। वही– ४/३९.

४. येनविश्वमिदं व्याप्तमजेन जगदादिना। मार्कण्डेयपुराणं, ४/३८.

५. यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाना स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत धामेको दाधार भुवनानि विश्वा। ऋक्, १/१५४/४.

६. ऋग्० १/२२/१ 8

थी जिस व्यवस्था (कानून) में बंधे हुए सभी देवगण, तारागण, चन्द्रमा अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति उस दैवी विधान में आबद्ध अपने-अपने कार्यो में लगी रहती है। लेकिन यह (दैवी कानून) है क्या ? इसको हम देखते हैं–

सृष्टि का रक्षक तत्त्व-ऋत व सत्य–

इस दृश्यमान जगत् की छोटी से छोटी वस्तु भी स्वेच्छा से प्रवृत्त नहीं होती है अपितु एक व्यापक नियम के वशीभूत हो अपने जीवन का विस्तार करती है। दिन के पश्चात् रात्रि का आगमन, नित्यप्रति अपनी किरणों से सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशमान करते हुए सूर्य का पूर्व दिशा में उदय व रात्रि में रजत रश्मियों वाले चन्द्रमा का आविर्भाव आदि दृश्य जगत् में होने वाली व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं। इस समस्त चराचर में व्याप्त जगत् विषयक नियम को संहिताओं में "ऋत" की संज्ञा दी गयी है। यह ऋत ही देवताओं का संचालक और नियन्ता है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में ऋत और सत्य को सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा के तप से उत्पन्न कहा गया है। इस सत्य और ऋत के द्वारा रात्रि, समुद्र प्रादुर्भूत बताए गये हैं कि प्रज्वलित तपस्या से ऋत और सत्य उत्पन्न हुए, तदनन्तर पूर्ण दिन व रात्रि उत्पन्न हुए व इसके अनन्तर जल से पूर्ण समुद्र की उत्पत्ति हुई।[१]

"ऋृत"

ऋग्वेद में "ऋृत" शब्द का प्रयोग अनेक बार हुआ है लेकिन विभिन्न विद्वानों ने "ऋृत" शब्द के अर्थ भिन्न-भिन्न किये हैं–

निरुक्तकार यास्क ने "ऋृत" का अर्थ उदक, सत्य एवं यज्ञ किया है।[२] सायण ने ऋग्वेदभाष्य में यास्क के अनुसार ही "ऋृत" शब्द का अर्थ किया है।[३] लेकिन इसके

---

१. ऋृतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्यभिषतो वशी।।
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवी, चान्तरिक्षमथो स्वः।। ऋक्, १०/१९०/१-३.

२. ऋृतमित्युदकनाम-निरुक्त, २/२५, सत्यं वा यज्ञं वा। वही– ४/१९.

३. ऋृतेन अवश्यंभावितया सत्येन फलेन। ऋृतस्पृशा उदकादीन् स्पृशन्तौ। ऋक्, १/२/८ पर सायण भाष्य।
ऋृतस्य उदकस्य पदम् आवासस्थानम्। १०.५.२. सायण भाष्य।
ऋृतमिति सत्यनाम। १०.१९०.१, ऋृतं सत्यभूतं– १०.६७.२.
ऋृतेन यज्ञेन आदित्याः। १०.८५.१. ऋृतस्य यज्ञस्य संबन्धिनम्। ऋग् १०.९२.४.

अतिरिक्त सायण ने "ऋृत" को कर्मफल, स्तोत्र एवं गति अर्थ का वाचक भी माना है।[१] स्वामी दयानन्द ने भी निरुक्त के अनुसार ही "ऋृत" की व्याख्या की है।[२]

पाश्चात्य विद्वानों ने "ऋृत" को शाश्वत विधान, यज्ञ सम्बन्धी नियम व दैवी नियम (विधान) अर्थ का अभिधायक बताया है।

"ऋृत" शब्द गत्यर्थक "ऋृ" (जाना) धातु से निष्पन्न माना गया है। "ऋृत" की इस गत्यर्थक व्युत्पत्ति के आधार पर ऋृत का अर्थ प्राकृतिक नियम यथा सूर्य, चन्द्र, तारे, पृथिवी, आकाश और निरन्तर गति शील पदार्थों की निश्चित गति भी माना जा सकता है। प्रकृति एवं उससे नियन्त्रित समस्त पदार्थों की सतत गति में एक निश्चित व्यवस्था, नियम या निश्चित क्रम दिखाई देता है जो अनादिकाल से चला आ रहा है और जब तक विश्व है तब तक चलता रहेगा। इसी अभिप्राय से ऋत को जगत् का नियन्ता कहा गया है। नियमित एवं व्यवस्थित रूप से गतिशील रहने के कारण ही उदक का अभिप्राय भी "ऋृत" शब्द से ग्रहण किया गया है। सम्भवतः इसी आशय से निरुक्तकार यास्क एवं सायण ने "ऋृत" को उदक कहा है। इस जगत् के प्राणियों के कर्मफलों का नियन्त्रण भी एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार दिखाई देता है इसीलिए सायण आदि ने इसे कर्मफल का द्योतक भी माना है। प्रकृति में पायी जाने वाली नियमितता एवं व्यवस्था यज्ञ तथा उसकी विविध प्रक्रियाओं में देखी गयी। इसी कारण "ऋृत" शब्द "यज्ञ" अर्थ का अभिधायक भी बन गया। यज्ञों में व्रत, अनुष्ठान एवं सत्य-आचरण आदि नैतिकता के वह नियम दृष्टिगोचर हुए जिनका पालन यजमान एवं पुरोहित के लिए अनिवार्य था इसीलिए विकास की चरमावस्था में "ऋृत" नैतिकता एवं सदाचार का द्योतक बन गया। यज्ञ आदि में होने वाली व्यवस्था ही "ऋृत है अर्थात् अपनी-अपनी निर्धारित सीमा के अन्दर रहकर कर्त्तव्य कर्मो को करना। यही ऋृत व्यवस्था या नियम ही धर्मशास्त्रकाल में धर्म संज्ञा से अभिहित होने लगा था। वैदिककाल का ऋृत (कानून) प्राकृतिक नियमों से सम्बद्ध था जबकि लौकिक जगत् का धर्म मानवीय कर्त्तव्यों के रूप में प्रचलित था। यह एक ऐसा नियम है जिसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता। इस कठोर नियम से आबद्ध ऋग्वेद की एक ऊषा सम्बन्धी ऋृचा में कहा गया है। "द्युलोक और दुहितृस्थानीय, ज्योतिर्मय वस्त्रों को धारण किए हए सबके प्रति सद्भावना रखने वाली यह ऊषा देवी सामने दृष्टिगोचर

---

१. ऋृतस्य कर्मफलस्य भोक्तृणां। ऋग् १०/५/७.
ऋृतस्य गतस्य पलायितस्याग्नेः।, १.६५.३. सा०भा०
ऋृतस्य गतस्य देवयजनं प्राप्तस्याग्नेः। १.६८.५. सायण भाष्य।

२. सत्यस्य सर्वविधायुक्तस्य वेदचतुष्ट्यस्य सनातनस्य जगत्कारणस्य वा।
ऋृक् १.१.८. पर दयानन्द भाष्य।

हो रही है मानो वह सत्य के मार्ग का बुद्धिपूर्वक अनुसरण करती हुई भी अपने नियमों का अतिक्रमण नहीं करती है[१]

वेदों का यह "ऋृत" नित्य, शाश्वत और सबका पिता है। सूर्य, चन्द्र, रात-दिन, सुबह सांय व ऋतुएं आदि सबका नियमन इसी ऋत के द्वारा ही होता है। ऋग्वेद में ऋृत को सभी प्रकार की सुख-शान्ति का स्रोत माना गया है।[२] ऋृत के मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य पाप में लिप्त नहीं होता। तथा उसके समस्त दुःखों का नाश हो जाता है। एक ऋग्वेदीय मन्त्र में आदित्यों से यह प्रार्थना की गयी है कि ऋत पर चलने वाले के मार्ग सुगम एवं कण्टकरहित कर दो।[३]

ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम को ऋृत के द्वारा ही उत्पन्न तथा वर्धित बताया गया है। यहाँ तक कह दिया गया है कि सोम स्वयं ऋृत् रूप है।[४] मित्र के साथ वरुण को "ऋृत" अर्थात् अटल नियमों वाला, ऋृत् से उत्पन्न, ऋृत को बढ़ाने वाला तथा अनृत से घृणा करने वाला कहा गया है।[५] ऋृतजात एवं ऋृत में निवास करने वाले ये देवता "ऋृत" के मार्ग का ही अनुसरण करते हैं।[६] एक स्थल पर धावा-पृथ्वी को "ऋृत" का आचरण करने वाला बताया है।[७]

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि "ऋृत" प्राचीन काल में प्रकृति का एक ऐसा विलक्षण विधान था कि जिसका ज्ञान सभी देवताओं के लिए आवश्यक था।[८] और जिसकी सहायता के बिना देवता कुछ भी नहीं कर सकते थे। मित्रावरुण ऋृत के द्वारा ही सारे विश्व पर शासन करते थे। ऋृत ही राष्ट्र की प्रतिष्ठा का आधार है। ऋषि वरुण को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे राजन्, आप ऋृत से अनृत को दूर करते हुए ऐसे राष्ट्र के आधिपत्य को प्राप्त करो।[९] यहाँ ऋृत का अर्थ सत्य किया गया है।[१०] और यह सत्य ही नैतिक आदर्शो का आधार है।

---

१. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसना समनापुरस्तात् ।
ऋृतस्य पन्थानमन्वेति साधु प्रजानतीव न दिशोमिनाति । ऋक् १/१२४/३

२. ऋक्, ४/२३/८९.

३. सुगः पन्था अनृक्षर आदित्यास ऋृतं यते। वही, १/४/१/४.

४. वही, ७/१०८/८.

५. ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो धोरासो अनृतद्विषः। वही, ७.६६.१३.

६. ऋतस्य देवा अनुव्रता गुः। वही, १.६५.२.

७. अस्य मे धावापृथिवी ऋतायतः। ऋक्० २.३२.१.

८. ऋक् ७.३५.१५.

९. ऋतेन राजन्ननृतं विविश्चन् मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेहि। वह– १०.१२४.४.

१०. वही, सायणभाष्य एवं ग्रिफिथ का अनुवाद।

इस प्रकार से ऋृत और सत्य दोनों एक समान हैं।[१] तथापि एक स्थल पर ऋृत से सत्य की प्राप्ति होती है यह भी कहा गया है इससे ऋत की सत्य से प्रधानता का ज्ञान होता है।[२]

सत्य–

जैसा कि हमने पहले देखा है कि सृष्टि के आरम्भ में "ऋृत" तथा "सत्य" को बह्मा के तप से उत्पन्न कहा गया है। और इसी ऋृत व सत्य से ही रात्रि, समुद्र आदि की उत्पत्ति कही गयी है लेकिन ऋृत के समान ही सत्य को भी केवल सृष्टि उत्पत्ति का कारण ही नहीं माना अपितु उसे सृष्टि की अनेक क्रियाओं का आधार भी माना है। वैदिक ऋषियों ने तो सत्य" को भी विश्व का नियन्त्रण एवं संचालन करने वाला मान लिया है। एक मन्त्र में ऋषि प्रार्थना करता है कि "जिस पर द्युलोक, दिन-रात तथा सारा जगत् आश्रित है, जिसकी महिमा से प्रति-दिन सूर्योदय होता है ऐसा सत्यवचन हमारी रक्षा करे।[३] अन्यत्र भी कवि कहता है कि– "सत्य के द्वारा ही पृथिवी स्तम्भित है।[४] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में सत्य बोलना नैतिक आदर्श माना जाता था व एक पवित्र कर्त्तव्य था। एक ऋषि ने तो धरती एवं आकाश को भी सत्य बोलने वाला बताया है।[५] ऋग्वेद में आये सत्य के द्वारा पृथिवी के स्तम्भन को अथर्ववेद में और भी अधिक स्पष्ट कर दिया है कि ऋृत, सत्य, दीक्षा, तप, ब्रह्म एवं यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं।[६] वास्तव में ये सब नैतिक गुण पृथ्वी पर स्थित प्राणियों की सम्यक् स्थिति के लिए आवश्यक हैं। यजुर्वेद में भी सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि समस्त दैवी शक्तियाँ मेरी रक्षा करें और मुझे सत्य पर दृढ़ रहने की शक्ति प्रदान करें।[७]

वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में भी सत्य का प्रभावशाली वर्णन देखने को मिलता है। वहाँ कहा गया है कि असत्यवक्ता की पवित्रता नष्ट हो जाती है।[८] व उसका तेज क्षीण हो जाता है। सत्य एक अजेय अस्त्र है। जो मनुष्य सत्य को समझता हुआ सत्य का आचरण करता है उसे मूर्तिमान यश समझना चाहिए।[९]

---

१. ऋृतं सत्येऽधायि, सत्यमृतेऽधायि।

२. ऋतेन सत्यं ऋृतसाप आयन। ऋक् ७.५६.१२.

३. सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च।
विश्वमन्यन्निविशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः। ऋक्० १०.३७.२.

४. सत्येनोत्तभिता भूमिः। वही, १०.८५.१.

५. ऋृतावरी रोदसी सत्यवाचः। वही, ३/५४/४.

६. सत्यं बृहद् ऋतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मं यज्ञः, पृथिवीं धारयन्ति। अथर्व० १२.१.१.

७. यजु० २०/११-१२.

८. अमेध्यो वै पुरुषः यदनृतं वदति। शत० ब्रा० ३.१.३.१८.

९. यत्सत्यन्तस्मात्ते यशो। वही, १.१.१.५.

इसी प्रकार ताण्डय ब्राह्मण में भी कहा गया है कि असत्यभाषण वाणी का छिद्र है जिसके कारण मनुष्य का पतन हो जाता है। सत्य के आचरण कर्ता को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[१]

उपनिषदों में भी सत्य की महिमा का वर्णन किया गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह परम सत्य ऋृत, वाणी, मन औद दृष्टि से अतीत है। मनुस्मृति में भी सत्य की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है तथा अनृत से बढ़कर कोई पाप नहीं है।[२] सत्य को वहाँ पर सनातन धर्म कहा है जिसका विवेचन द्वितीय अध्याय में विस्तार से किया जायेगा। सूर्य भी सत्य का ही विस्तार करता है।[३] ऋग्वेद के अनुसार यह सत्य न केवल इहलोक के आनन्द की वस्तु है अपितु पारलौकिक सुख व स्वर्ग प्राप्ति का साधन भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक युग का सत्य ही वैशेषिक सम्मत धर्म लक्षण[४] का आधार रहा है। वेदों में न केवल सत्य की महिमा का वर्णन ही किया गया है अपितु देवताओं को भी सत्य आचरण से युक्त बताया है। मित्रावरुण को सम्बोधित एक सूक्त में उन्हें-सत्यधर्मा" कहा है।[५] वरुण को सत्य और असत्य का निरीक्षण करने वाला कहा गया है।[६] एक जगह पर धावा-पृथिवी को सत्य से युक्त होने के लिए कहा गया है। सत्य और असत्य का निरीक्षण करने के कारण राजा वरुण सत्य के संरक्षक हो जाते हैं। असत्यभाषी को देवताओं के कोप का भाजन बनना पड़ता है। असत्यवादी का वध तक हो जाता है।[७] सत्य और ऋत रूप वैदिक कानून का रक्षक वरुण ही कानून भंग करने वालों को दण्ड देता है यह बात उनके स्वरूप से स्पष्ट हो जाती है।

कानून व्यवस्था के संरक्षक वरुण—

वैदिक काल में "ऋृत" के द्वारा ही सबका नियमन होता था। "ऋृत" की स्थिति बने रहने पर ही जगत् की प्रतिष्ठा बनी रहती है और इस संतुलन के अभाव में जगत् का विनाश अवश्यंभावि है लेकिन इस "ऋृत" को नियमित करने वाले इसके नियामक के अभाव में व्यवस्था (कानून) भी संभव नहीं है। और "ऋत" (कानून) के इसी नियामक (संरक्षक)[८] के रूप में हम वरुण की सत्ता पाते हैं। वरुण का नैतिक

---

१. ताण्डयब्राह्मण, ८.६.१३.

२. न हि सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं महत्। मनु० ८/७.

३. सत्यं ततान सूर्यः। ऋक्० १.१०५.१२.

४. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। वैशेषिक सूत्र, १.१.२.

५. सत्यधर्माणा परमे व्योमनि। ऋक्० ५.६३.१.

६. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्। वही– ७.४९.३.

७. हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तम्। ऋक्० ७/१०४/१३.

८. ऋतस्य गोपा। ऋक् ५.६३.१.

व्यवस्था के नियामक का स्वरूप अत्यन्त प्रभावशाली है। वरुण जिस ऋत के अभिरक्षक हैं और जिससे सारे देव भी आबद्ध हैं उसका तात्पर्य सामान्यः धर्म एवं सब प्रकार के नियमों से है।

वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त महत्त्पूर्ण है। उन्हें विश्वतश्चक्षु (सर्वत्र दृष्टि रखने वाले) धृतव्रत (नियमों को धारण करने वाला),[१] सुक्रतु (शोभन कर्मों को सम्पादन करने वाला) तथा सम्राट् (शासन करने वाला) कहा गया है। सर्वत्र वरुण प्राणिमात्र के शुभाशुभ कर्मो का द्रष्टा तथा तत्तत फलों का दाता है। वेद का राजा वरुण है। वह सब पर छाये हुए उच्चतम व्योम का तथा साथ ही सब सागरों का राजा है। सब विस्तार वरुण के है। एक मन्त्र में उन्हें "सत्यधर्मा" कहा गया है।[२] इसीलिए राजा वरुण लोगों के सत्य और असत्यों को देखते हुए उनके मध्य घूमते हैं।[३] मित्रावरुण को सम्बोधित एक मन्त्र में सूर्य को सत्य की पूर्ति और असत्य का बिनाश करने वाला कहा गया है। यह सत्य की पूर्ति वास्तव में दिन निकलने के नियम के रूप में करते हैं व अन्धकार रूप असत्य का विनाश करते हैं।[४]

वरुण प्राकृतिक व्रतों के सर्वोच्च स्वामी हैं। वे पृथिवीलोक एवं द्युलोक को स्थिर करने वाले हैं और सभी लोकों में संचरित रहते हैं।[५] तीनों द्युलोक और तीनों पृथिवीलोक उन्हीं के भीतर निहित हैं।[६] वे सम्पूर्ण पृथिवी पर शासन करते हैं।[७] तथा सम्पूर्ण संसार के संरक्षक हैं।[८] वरुण के व्रत से ही आकाश और पृथिवी पृथक्-पृथक् विधारित हैं।[९] अमर देवता भी मित्र और वरुण के अटल व्रतों को टालने में असमर्थ हैं।[१०] व्रत शब्द से यहाँ वरुण के "कानून" से ही अभिप्राय है। वरुण सदैव अपने कर्म में तत्पर रहते हैं। उनका कर्म ही उनका धर्म है।[११] जिसमें कदापि त्रुटि नहीं आती है।

---

१. वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः। वेदा य उपजायते।
वही, १.२५.८.

२. ऋतस्य गोपावधि तिष्ठयो रथं सत्यधर्माणा परमे व्योमनि। ऋक् ५.६३.१.

३. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
वही– ७.४९.३, द्रष्टव्य। मैत्रा० संहिता, २.१३.१ तथा तै०सं० ५.६.१.१.

४. गर्भोभारं भरत्याचिदस्य ऋतं पिपर्त्यनृतं नितांपाति। अथर्व० ९.१०.२३.

५. आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड्विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रत्तानि। वही, ८.४२.१.

६. तिस्रो धावो निहिता अन्तरस्मिन् तिस्रो भूमिरुपराः पड्विधानाः। वही– ७.८७.५.

७. ऋतेन विश्वं भुवनं विराजथः। ऋक्० ५.६३.७.

८. देवा विश्वस्य भुवनस्य गोपाः। वही– २.२७.४.

९. धावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरिरेतसा। ऋक्० ६.७०.१.

१०. न वां देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि मित्रावरुणा ध्रुवाणि। वही– ५.६९.४.
धर्मणा मित्रावरुणा विपश्चिता व्रता रक्षेथे असुरस्य मायया। वही– ५.६३.७.

११. व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा। वही– ७.८३.९.

यही कारण है कि जो कोई मनुष्य स्वकर्म (धर्म) का पालन नहीं करता उसे वह दण्ड देते हैं। इसीलिए ऊषाएं न केवल ऋत का अपितु वरुण के नियम का अनुपालन करती हैं। आकाश के तारे वरुण के इशारे पर दिन में छिप जाते हैं। वरुणदेव ही रात्रि और दिन को नियमित एवं विभक्त करते हैं। अशेष भौतिक नियम वरुण के नियन्त्रण में हैं। वरुण के विधान से चन्द्रमा रात्रि में चमकता है और तारे झिलमिलाते हैं। ऋतुओं का नियमन भी वरुण ही करते हैं।[१] विख्यात यमयमी सूक्त में जिसमें यम की बहन यमी मानव जाति की उत्पत्ति के निमित्त यम से प्रणय याचना करती है, उसके प्रस्ताव को ठुकराते हुए यम न केवल ऋत अपितु मित्र एवं वरुण के विधानों का भी उल्लेख करते हैं। जिससे प्रतीत होता है कि देवता गण वरुण के नियमों को तोड़ने का विचार भी नहीं कर सकते हैं।

ऋग्वेद में वरुण के स्वरूप वर्णन विषयक मन्त्रों व स्तुतिविषयक मन्त्रों से वरुण का सृष्टि नियामक का रूप स्पष्ट हो जाता है–

स्वरूपविषयक मन्त्रों से सृष्टिनियामकता की सिद्धि–

साधक प्रार्थना करते हुए कहता है– प्रभु आप वरुण हैं, वरणीय हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, आप ही पापों के वर्जक हैं व विघ्नों के निवारण करने वाले हैं। परिस्थिति जन्य विघ्नों के साथ कुछ पाशों ने मुझे भी बांध रखा है। इन पाशों से मुझे छुड़ा दो। वरुण देव के ये पाश व्रत (नियम, कानून) भंग करने वालों को सभी स्थानों और कालों में आबद्ध कर लेते हैं। जो पाप करता है वह इन पाशों में जकड़ा जाता है। व्रतों (कानूनों) को तोड़ने वाला दण्ड का भागी बनता है। स्वास्थ्य के नियमों का न पालन करना प्राकृतिक व्रत का भंग है। झूठ बोलना, चोरी करना आदि नैतिक व्रत भंग के अन्तर्गत आ जाते हैं। एक जगह पर अपराधी अपने द्वारा किये गये वरुण अथवा देवों के विधानों के उल्लंघन की हामी भरता है।[३] अथर्ववेद के अनुसार वरुण की सत्ता सार्वजनिक है। जब दो मनुष्य मिलते हैं तब वरुण तीसरे बनकर वहाँ वर्तमान रहते हैं। वे मनुष्यों के निमेषों तक को गिन लेते हैं। यदि कोई मनुष्य स्वर्ग के भी परे चला जाय फिर भी वह वरुण से नहीं बच पाता क्योंकि वरुण के सहस्रों स्पश हैं[४] वरुण के संदेशवाहक द्युलोक से उतरकर संसार में विचरते और अपने अगणित नेत्रों द्वारा अशेष जगती के

---

१. वि ये दधुः शरदं मासमादहर्यज्ञमक्तुं चादृचम्। वही– ७.६६.११.

२. उदुत्तमं वरुणं पाशंमस्मदवाधमं विमध्ययं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम्।। ऋक्० १.२५.१.

३. वही– १०.२.४.

४. सर्व तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्। अथर्व० ४.१६.५.
अपि च, वरुण उग्रः सहस्रचक्षाः। ऋक्० ७.३४.१०.

आर-पार देख लेते हैं।[१] वरुण अपने भवन में बैठकर लोक के अशेष कार्य कलाप का निरीक्षण करते हैं।[२]

उपर्युक्त वर्णन में वरुण को मातृभाव से युक्त दिखाया है। जिस प्रकार से बच्चा चाहे कहीं भी छिपकर अपराध करता है लेकिन माँ की नजरों से उसका अपराध छिप नहीं सकता है उसी प्रकार पापकर्ता कहीं भी छिपकर पाप क्यों न करे। वरुण के नेत्रों से नहीं बच सकता है। सूर्य रूपी नेत्र के द्वारा वरुण मानव जाति का सर्वेक्षण करते हैं।[३] प्रस्तुत प्रसंग में पाप से तात्पर्य है– दिव्य सत्य और ऋत (नियम) की पवित्रता का उल्लंघन। जिसके परिणाम स्वरूप पापकर्ता को वरुण के कोप का भागी बनना पड़ता है। पापकर्ता के विरुद्ध दिव्य विधान का राजा वरुण वेगपूर्वक अपने अस्त्र फैंकता है, उन पर उसका पाश उतर आता है व वरुण के जाल में फंस जाते हैं।[४] परन्तु जो व्यक्ति यज्ञ के द्वारा सत्य की खोज करते हैं वे रस्से से खोले गये बछड़े की तरह या वद्य स्तम्भ से छोड़े गये पशु की तरह पाप के बंधन से मुक्त हो जाते हैं। ऋषिगण वरुण की प्रतिशोधात्मक हिंसा की बार-बार निंदा करते हैं और उससे प्रार्थना करते हैं कि वह उन्हें पाप से और उसके प्रतिफल रूप मृत्यु से मुक्त कर दे। वे कहते हैं– विनाश को हमसे दूर कर दो। जो पाप हमने किया है उसे भी हमसे अलग कर दो। अथवा "पाप को पाश के समान मुझ से काट कर पृथक् कर दो। अज्ञानवश हमने तुम्हारे नियमों की जो अवहेलना की है। प्रभो उन पापों के कारण हमारी हिंसा न करना।[५] इससे वरुण के "दयालु" या कृपालु रूप पर भी प्रकाश पड़ता है। अपराध करने पर भी प्रायश्चित करने वालों पर वरुण दया करते हैं। वे पापों को मानो रस्सी से बांधते और उसे ढीला कर देते हैं।[६] वे मनुष्यों के स्वयं किये पापों को ही नहीं अपितु पितृगण द्वारा किये पापों को भी माफ कर देते हैं। वे हर घड़ी व्रतों (नियमों) को तोड़ने वाले जनों के अपराधों को भी क्षमाकर देते हैं।[७]

---

१. दिवस्पशः प्रचरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्। अथर्व० ४.१६.४.

२. निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्याउस्वा। ऋक्० १.२५.१०.
द्र. दौ संनिषध यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः। अथर्व० ४.१६.२.

३. येना पावक चक्षसाभुरण्यन्तं जनां मनु,
त्वं वरुण पश्यसि। ऋक्० १.५०.६.

४. ये ते पाशा वरुणं सप्तसप्त
त्रैधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे ऊनृतं वदन्तं
यः सत्यवा द्यति तं सृजन्तृ। अथर्व० ४.१६.६.

५. यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याश्चरामसि
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः। ऋक्. ७/८९/५.

६. वि मच्छ्रथाय रशनामिवाग ऋध्यामा ते वरुण खामृतस्य। वही– २/२८/५.

७. यच्चिद्धि ते विशो यथा प्रदेव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि। ऋक० १.२५.१.

वरुण की सर्वज्ञता से नियामकता की सिद्धि–

सर्वज्ञ व्यक्ति ही दुष्टों का दमन या नियमन करने में समर्थ हो सकता है। वही जान सकता है कि कहाँ नियमों का उल्लंघन हो रहा है। यह जानकर ही उल्लंघन कर्त्ता को दण्ड दे सकता है। वरुण अपने इसी सर्वज्ञ स्वरूप के कारण सम्पूर्ण सृष्टि के व ऋत के नियामक हैं। वे आकाश में पक्षियों की उड़ान को समुद्र में जहाजों के यातायात को और सुदूरगामी वायु में पक्षियों की उड़ान को समुद्र में जहाजों के यातायात को और सुदूरगामी वायु के मार्ग को जानते हैं। सभी गुप्त वस्तुएँ, जो हो चुकी हैं या होने वाली हैं–उन्हें देखते हैं। सम्पूर्ण मानव के सत्य व असत्य को जानने वाले हैं।[2] उनके बिना कोई भी प्राणि पलक नहीं मार सकता है। मनुष्यों की पलकें उनकी गिनती में हैं जो कुछ भी मनुष्य सोचता या करता है उन सभी को वरुण जानते हैं।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में कानून विषयक कोई स्पष्ट नियम नहीं थे। सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त निश्चित व्यवस्था ही कानून का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। जिस कानून का मानव तो क्या प्रकृति भी उल्लंघन नहीं कर सकती थी। इसी व्यवस्था को वैदिक युग में ऋत व सत्य के नाम से कहा गया है। इस ऋत व सत्य के संरक्षण कर्ता वरुण थे जो कि नियम भङ्ग (कानून तोड़ने वालों को) करने वालों को कड़ा दण्ड देते थे। यहाँ तक कि देवता भी उनके कानून को तोड़ने पर दण्ड के भागी बनते थे। सृष्टि का यही रक्षक तत्त्व ऋत व सत्य सामान्य प्रयोग में पर्याय रूप में प्रयुक्त होता है।[3] परन्तु इनमें भेद है। ऋृत ज्ञान की सत्यता को द्योतित करता है सत्यज्ञान का बोधक होता हुआ जगत् के सत्य नियमों का भी बोधक हो जाता है। अथर्ववेद में सत्य को धर्म का अंग स्वीकार किया गया है यथा धर्मशास्त्र काल में भी सत्य को धर्म के सामान्य नियमों के अन्तर्गत गिना जाने लगा था। व धर्म से युक्त व्यक्ति ही उन्नति व सुख को प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्राचीन काल में राजा ही सब धर्मों (सत्य अहिंसा आदि) में न्यायपूर्वक प्रवृत्त कराने वाला है। इनके न होने पर धर्म नाश हो जाता है और धर्म नाश से जगत् नष्ट हो जाता है अतः जगत् को नष्ट होने से बचाने के लिए न्यायोचित धर्म का पालन आवश्यक है। सत्य, अहिंसा अस्तेय आदि सामान्य नियमों का पालन करने से ही इस लोक में यश और परलोक में आनन्द प्राप्त होता है।

---

१. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। ऋक्० १.२५.७.
वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः। वही, १.२५.९.
अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वा अभि पश्यति।
कृतानि या च कर्त्वा। वही, १.२५.११.

२. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते
अवपश्यञ्जनानाम्। वही, ७.४९.३.

३. ऋृतम्- सत्यम् (दयानन्द, ऋक्०, १/४१/४ भाष्ये)
सत्यं विज्ञानम्। सत्यं कारणम्। दयानन्द
ऋक्० १.७१/३, १.१०५/५ पर भाष्य।

तृतीय परिच्छेद

न्यायकर्ता राजा की क्षमताएं : वैदिक स्वरूप

हमने अपने पूर्व अध्याय में देखा है कि दण्ड के बिना न्यायव्यवस्था सुचारु रूप से नहीं चल सकती है। वहाँ पर दण्ड को ही धर्म कहा गया है व दण्ड धारण करने वाले राजा को दण्डधर कहा गया है। राजा का कर्त्तव्य था अपनी प्रजा को पूरी तरह से इस प्रकार से न्याय देना जिससे धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूपी पुरुषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति हो सके। यदि राजा ईर्ष्या, द्वेष, मात्सर्य का त्याग करके निष्पक्ष भाव से दण्ड देता है, तभी उसके राज्य में न्याय का प्रकाश होगा व समाज में व्यवस्था कायम रह सकती है, अतः समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए व अपराधी को दण्ड दिलाने के लिए राजा की परम आवश्यकता होती है लेकिन न्यायकर्ता राजा की उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? व उसकी उत्पत्ति की आवश्यकता क्यों हुई यह जानना भी आवश्यक है। धर्मशास्त्रों में राजा की उत्पत्ति के विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलता है लेकिन धर्मशास्त्रों से पूर्व हमारे प्राचीन ग्रन्थ वेदों में भी राजा की क्षमताओं का उल्लेख मिलता है। इसके लिए वेदमन्त्रों पर दृष्टिपात करना होगा।

वेदों में अश्वमेध, राजसूय, सर्वमेध, सोमयज्ञ आदि कुछ ऐसे यज्ञों से सम्बद्ध मन्त्र प्राप्त होते हैं जिनका राजा से सम्बन्ध है। इन मन्त्रों में राजा की उत्पत्ति उसके स्वरूप व कर्त्तव्य आदि का वर्णन किया गया है।

ऋग्वेद में एक स्थल पर इन्द्रदेव से राक्षसों का समूल नाश करने की प्रार्थना की गई है।[१] तत्कालीन समाज में पणि, नग्न व हवर नाम वाले शत्रुओं का उल्लेख मिलता है उनके नाश करने के लिए ही प्रार्थना की गई है क्योंकि ये शत्रु आर्य जीवन की सुख-समृद्धि में बाधक थे और राजा का कर्त्तव्य है कि वह समाज में सुख व शान्ति बनाये रखने के लिए समाज विरोधी तत्त्वों को कुचल दे। सृष्टि के आदि में सम्भवतः बिना राजा के ही कार्य होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार पूर्वकाल में देवताओं का राजा न था परन्तु उसके प्रतिद्वन्द्वी असुरों का राजा था। देवासुर संग्राम में देवता पराजित हो रहे थे और असुर विजयी। देवताओं ने अपनी इस पराजय का कारण राजा का अभाव ही समझा।[२] संगठित होकर ही शत्रु पर विजय पाई जा सकती है इस बात से परिचित होने पर ही शत्रु पर विजय पाने के लिए ऋग्वैदिक आर्यो ने अपने नेता का चयन किया।

---

१. आ कीवतः सललूकं चकर्थ ब्रह्मद्विषे तपुषिं हेतिमस्य। ऋक्०, ३/३०/१७.

२. ऐतरेय ब्राह्मण, १०/१४/११.

नेता के नेतृत्व में ही मनुष्य उन्नति कर सकता है अतः नेता का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने अधीन लोगों की रक्षा करे। दूसरे शब्दों में जो समाज का नेतृत्व कर सके अर्थात् समाज को सही मार्ग पर ले जाये वही नेता है। वेदों में आर्यों ने अपने इस नेता को "राजा" की संज्ञा दी है। इन्द्र ने शत्रुओं से युद्ध करके देवताओं की रक्षा की इस कारण इन्द्र को राजा बनाया गया।[१]

गुणों के आधार पर "राजा" पद–

वदों में स्थल-स्थल पर राजा और राजपद के उल्लेख से यह ज्ञात होता है कि उस समय राज्य के सम्यक् संचालन के लिए राजा का चयन गुणों के आधार पर किया जाता था। कोई भी व्यक्ति जो तेजस्वी हो, अपने अधीन रहने वाले लोगों को शत्रुओं से बचाने के लिए युद्ध करके उनकी रक्षा कर सके, राज्य में सुव्यवस्था स्थापित कर सके, तथा जो स्वयं नियमों का पालन करके दूसरों से भी नियमों का पालन करवाने में सक्षम हो व पक्षपात रहित ही राजा होने के योग्य हो सकता था। यही कारण है कि वेदों में स्थान-स्थान पर कभी "वरुण" को, कभी "इन्द्र" को व कभी "अग्नि" को "राजा" संज्ञा में सुशोभित किया गया है। विभिन्न देवताओं की स्तुतियों में कहे गये मन्त्रों से राजा के गुणों का पता लगता है। वेदों में नेतृत्व गुण युक्त व्यक्ति को राजा की संज्ञा दी गई है। नी+तृच् के अनुसार नेता वही होता है जो नेतृत्व-गुण से युक्त हो अर्थात् जो पथ प्रदर्शन कर सके। जो मनुष्यों को संगठित करके रख सके, उनके जीवन व सम्पत्ति की रक्षा कर के उनकी प्रगति में सहायक हो। मनुस्मृति[२] के अनुसार नेता वही है जो दण्ड देने वाला हो। वैदिक आर्यो का राजा "नेतृत्व" गुण से युक्त था। वह शत्रुओं का दमन करने के लिए नियुक्त किया जाता था यथा ऋग्वेद में इन्द्र को नेता कहा गया है।[३] यजुर्वेद में इन्द्र को विजेता तथा पुरम्भेता कहा गया है।[४] वाजसनेयी संहिता में कहा गया है कि "हे इन्द्र तुझे राक्षसों के वध के लिए राजा नियुक्त करता हूँ।[५] 'इन्द्रः क्षत्रम्-शतपथ १०/४/१.' कथन से यह स्पष्ट है कि राजा को वीर होना चाहिए। वह युवा हो, पुराण व अमर्त्य हो। वह शत्रुओं का दमन करने में पूर्ण रूपेण समर्थ हो। ऐसे वीर राजा का वर्णन भी है। शीघ्रकारी, तीक्ष्ण, तेजस्वी, भयंकर, वृषभ के समान धमासान मचा देने वाला, समरभूमि में वीरों को विचलित कर देने वाला, शत्रु सेना में

---

१. त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् त्वं राजा जनानाम्।
ऋक्० ८.६४.३. सामवेद ११/१/३. अथर्व. २०/९३/३.

२. यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति।। मनु० ७/२५.

३. नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्। ऋक् १०/२९/२. अथर्व, २०/७६/१.

४. जुहोमि हतं रक्षः स्वाहा रक्षसां त्वा वद्याय। वाजसनेयि संहिता ९/३८.

५. वाज० संहिता १७/३३.

त्राहि त्राहि मचा देने वाला, पराक्रमशील ऐश्वर्यशाली वीर राजा अकेला ही सैकड़ों सैनिकों पर विजय प्राप्त करता है।[१]

वैदिक देवताओं में इन्द्र सभी देवताओं से अधिक प्रमुख रूप में चित्रित किया गया है। वह इतना अधिक शक्तिशाली है कि अपनी शक्ति के बल से तीनों लोकों को कंपित कर दिया। इन्द्र का बल किसी के समान नहीं है।

असमं क्षेत्रमसमा मनीषी प्र सोमपा अपसा सन्तु नेमे ।
ये त इन्द्र ददुषो वर्धयन्ति महि क्षत्रं स्थविरं वृष्ण्यं च ।।
ऋ० १/५४/८.

शक्तिशाली व्यक्ति ही दूसरे पर राज (शासन) कर सकता है।[२] इन्द्र असुरों का नाश करने वाले हैं व हिंसा करने वाली असुर जाति को नरक में डालने वाले हैं। वह रक्षक भी है इसी कारण ब्राह्मण लोग उनकी स्तुति करते हैं व याचना करते हैं कि ऐसे इन्द्र के अनुशासन में घोड़े, गौयें आदि रहते हैं।[३]

द्युलोक, पृथ्वीलोक व सेनायें सभी प्रकार के शत्रु, सभी रक्षा के लिए उसी इन्द्र का आह्वान करते हैं। अथर्ववेद के अनुसार उनके पास एक जाल है जिससे वे अपने शत्रुओं को घेर कर मार डालते हैं।[४] वे युद्ध में देवताओं का हाथ बँटाते हैं व सार्वभौम स्वतन्त्र शासक हैं। वे शक्र भी हैं। वे महोजा, युवा,[५] अमर्त्य एवं पुराण हैं। वेदों में इन्द्र का रक्षक रूप हमारे सामने आता है। इस प्रकार प्रजा की रक्षा करने के कारण वे राजा ही हैं। अतः स्पष्ट होता है कि वेदों में गुणों के कारण ही किसी व्यक्ति को राजा कहा जाता था।

वैदिक आर्यों का मुख्य उद्देश्य सुख-शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए इस लोक में सुख-भोग कर परलोक में मोक्ष प्राप्ति था। परन्तु समाज के असभ्य अनार्य

---

१. वा० सं० १७/३३, ऋक्० १०/१०/३१.
आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणंश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साकमिन्द्रः।
अथर्व० १०/१३/२, साम० १८४९, तै०सं० ४/६/४/१.

२. यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृणस्य महना स जनास इन्द्रः।। ऋक्० २/१२/१.

३. यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः। ऋक० २/१२/७.

४. बृहत् ते जालं बृहत् इन्द्र शूर सहस्रार्धस्य शतवीर्यस्य
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनाममिधाय सेनया। अथर्ववेद, ८.८.७.

५. पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः। ऋ० १/११/४.

दुष्ट लोगों के कारण उनके शान्तिपूर्ण जीवन में बाधा पड़ती थी। इसी कारण वे अपने राजा को वीरोचित गुणों से सम्पन्न देखना चाहते थे कि राजा इन दुष्ट शत्रुओं से उनकी रक्षा कर सके। इसीलिए वे अपने आराध्य को भी स्थान-स्थान पर शत्रुनाशक, शत्रु दमनकारी कहते हैं। स्पष्ट है कि राजा का मुख्य कर्त्तव्य शत्रुओं से अपने प्रजा जनों की रक्षा करना था। और इस प्रकार प्रजा को भयमुक्त करना था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में उल्लेख मिलता है कि भयभीत जनता ने भयमुक्त होने के लिए राजपद का निर्माण कर अपने मध्य में राजा का वरण किया।[१] इस प्रकार इन्द्र को सम्बोधित एक मन्त्र में राजा के स्वरूप का संकेत मिल जाता है कि वैदिक आर्यों को कैसा राजा अभिप्रेत था "इन्द्र, तुम संसार और सारे देवों के राजा हो तुम मनुष्यों की रक्षा करो असुर अर्थात् प्राणवर्धक अथवा जीवनी शक्ति के दाता तुम हमारी रक्षा करो, तुम साधुओं के पालक धनवान और हमारे उद्धारकर्ता हो तुम सत्य और बल प्रदाता हो, तुमने अपने तेज से सबको ढक लिया है।[२]

वैदिक युग में राजा को द्युलोक का पुत्र कहा गया है।[३] जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि राजा में लोकोत्तर देवीगुण होते होंगे अथवा तेजस्विता के कारण प्रजा उसे देव के रूप में समझती होगी। अनेक स्थलों पर राजा को "देव" शब्द से सम्बोधित भी किया गया है अर्थात् जो देदीप्यमान हो। अतः स्पष्ट होता है कि राजा में देव सम्बन्धी तेजस्विता, दान आदि के गुण होने चाहिए जिनसे वे अपने अधीन रहने वाले प्राणियों को दान, कर्मशीलता, तेजस्विता के द्वारा अनृत, हिंसा, भ्रष्टाचार आदि गुणों से दूर करके ऋत, सत्य, अहिंसा और सदाचार के मार्ग पर ले जाने में सक्षम हो और इस प्रकार इहलोक के सुख के पश्चात् परलोक के सुख की प्राप्ति मनुष्य कर सके।

वेदों में क्षत्रियजात्युत्पन्न को भी राजा संज्ञा दी गयी है। ऋग्वेद में एक स्थान पर राजा का कथन है कि "हम क्षत्रिय जाति उत्पन्न सम्पूर्ण मनुष्यों के अधीश हैं, हमारा राज्य दो प्रकार का है, सम्पूर्ण देवगण जैसे हमारे हैं, वैसे ही सारी प्रजा भी हमारी है।[४]

---

१. ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन्।
ऋक्० १०/१२४/८..

२. त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षानृन्पाह्यसुर त्वमस्मान्।
त्वं सव्यतिर्मधवा नस्तरूत्रस्त्वं सत्यो वसानः सहोदाः। ऋ० १/१७४/१.

३. वा० सं० ६/२ सायणाचार्य ने "दिव, सुनूरसि द्युलोकस्य पुत्राऽसि अर्थ किया है। परन्तु इस पद को राजपरक न मानकर यज्ञपरक माना है। और यज्ञस्तूप को "दिवः" सूनुः" कहा है। परन्तु वैदिक संस्थान मथुरा द्वारा प्रकाशित शुक्ल यजुर्वेद में इसका अर्थ राजपरक किया है।

४. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः। ऋक्० ४/४२/१.

वाजसनेयिसंहिता के अनुसार दुःखों के निवारण करने वाले, शक्तिशाली, अन्नादि की वृद्धि करने वाले, बलशाली को ही राजपद पर बिठाया जाता था अर्थात् राजा कोई विशेष व्यक्ति नहीं होता था अपितु जो भी कोई रोगों को दूर करने में समर्थ हो, शक्तिशाली हो, वही राजा कहलाता था।[१]

वेदों में राजा का चयन केवलमात्र दुष्टों का संहार करने के लिए ही न होकर बल्कि ज्ञान का प्रसार करने के लिए भी किया जाता था। इस तथ्य की पुष्टि वाजसनेयि संहिता के निम्नोक्त कथन से की जा सकती है। "इस राजपद के लिए तेरा अभिषेक कर रहा हूँ तू इस राज्य में ज्ञान का प्रसार कर।[२]"

वेदों में वरुण राजा के रूप में (वरुण का सम्राट रूप)

वेदों में वरुण को अकेले अथवा मित्र के साथ कई बार राजा कहा गया है।[३] वे सबके राजा हैं। मनुष्य और देवता दोनों के,[४] समस्त संसार के[५] और सभी सत्ताओं के[६] वरुण सर्वतन्त्र शासक (स्वराज) हैं।[७] स्वराज शब्द का प्रयोग इन्द्र से अधिक वरुण के लिए अथवा मित्र-वरुण के लिए हुआ है।[८]

इसी प्रकार "क्षत्र" विशेषण भी मुख्यतया वरुण के लिए आया है। उनके लिए इस विशेषण का प्रयोग, मित्र के साथ प्रायः और अर्यमा के साथ दो बार हुआ है इसके अतिरिक्त क्षत्र का प्रयोग एक-एक बार अग्नि, बृहस्पति और अश्विनों के लिए भी हुआ है। इस प्रकार क्षत्रिय शब्द के कुल ५ बार के प्रयोगों में से ४ प्रयोग वरुण या आदित्य के लिए हैं और केवल एक देव सामान्य के लिए है। इससे प्रतीत होता है कि वेदों में क्षत्रिय को भी राजा कहा गया है।[९] क्षत्रिय होने के साथ-साथ नियमों को धारण करना या व्रतों का पालन करना भी राजा का एक गुण माना गया था जिसके आधार

---

१. अश्विनोभैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामि सरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चामीन्द्रस्येन्द्रियेण बलायश्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि। वाज० संहिता, २०/३.

२. .... सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे। वा० स० २०/३३.

३. अबुध्ने राजा वरुणो वनस्य ।। ऋक० १.२४.७.
उरुं हि राजा वरुणश्चकार ।। वही १०.१३२.४.

४. त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा। वही १०.१३२.३.
त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मताः। वही, २/२७/१०.

५. तेन विश्वस्य भुवनस्य राजा। वही, ५/८५/३.

६. सुपारक्षत्रः सत्तो अस्य राजा। वही, ७/८७/६.

७. इदं कवेरादित्यस्य स्वराजो विश्वानि सान्त्यभ्यस्तु महता। ऋ० २.२८.१.

८. वरुणः सम्राट् सम्राट्पतिः। तै० ब्राह्मण २/५/७/३.

९. देखिए, क्षत्रं राजन्यः। ऐतरेय ब्राह्मण, ८/६.
शतपथब्राह्मण, १३/१/५/३.
ओजः क्षत्रं वीर्य्यं राजन्यः। ऐतरेय ब्रा० ८/३/३४.

पर किसी को "राजा" नाम से सम्बोधित किया जाता था। उसी को राजा नियुक्त किया जाता रहा होगा जो जन समुदाय के समक्ष राजपद के लिए आवश्यक व्रतों या नियमों को धारण करने की प्रतिज्ञा करता होगा। राजा वरुण इस गुण से युक्त दिखाई पड़ते हैं।[१]

निरुक्त में कही गयी "राजन्" शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार "राजन्" शब्द दीप्त्यर्थक् "राज्" धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है चमकना।[२] इस व्युत्पत्ति के अनुसार वरुण भी राजा के गुणों से युक्त है। वरुण की स्तुति विषयक मन्त्रों में उन्हें प्रकाशमान व सबका स्वामी कहा गया है वरुण से अपने पापों को क्षमा करने की प्रार्थना की गयी है। सामर्थ्यवान ही क्षमावान् हो सकता है और वरुण अपराधों को क्षमा कर देते हैं।

न केवल प्रकाशित होने के कारण ही वरुण को राजा कहा गया है अपितु महाभारत में राजा को "रंज्" धातु से निष्पन्न बताया गया है।[३] जिसका अर्थ है "प्रसन्न करना, अर्थात् वही राजा हो सकता है जो प्रजा को प्रसन्न व सुखी या संतुष्ट रखता है और वेद में हम ऋषि को वरुण के लिए स्तुति करते रेखते हैं कि हे वरुण देवता! मेरे इस आह्वान को सुनिये और आज मुझको सुखी कीजिए। संरक्षण का अभिलाषी होकर मैं तुझको पुकार रहा हूँ।[४]

परवर्ती काल में जिस प्रकार से राजा का परम कर्त्तव्य लोकहित था। प्रजा के कल्याण के लिए सर्वस्व त्याग करते हुए राजा राम कहते हैं कि प्रजा के हित के लिए सीता का त्याग करने में भी मुझे कोई दुःख नहीं है उसी प्रकार वैदिक काल में भी प्रजाहित ही राजा का मुख्य कर्त्तव्य था। उपर्युक्त स्थल पर भी ऋषि वरुण से सुखी करने की प्रार्थना कर रहा है व वरुण में राजा के समान संरक्षण का अभिलाषी है वरुण नेतृत्व करने वाले हैं। ऋषि कहता है कि शासकीय शक्ति से शोभायमान होने, संसार में सबको देखने वाले और सबका नेतृत्व करने वाले वरुण देवता को हम सुख

---

१. क० ऋतावाना निषेदतुः साम्राज्याय सुक्रतूः।
धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः। ऋक्० ८/२५/८.
ख० आदित्येषु प्रवरुणे धृतव्रते मरुत्सु विश्वभानुषु।।
ऋ० ८/३७/३, वाजसनेयिसंहिता– १७/२७.

२. निरुक्त, २/१.

३. तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते। महा० शान्ति० ५९/१२७.

४. इमं मे वरुण श्रुधि हवमद्या व मृलय।
त्वामवस्युराचक्रे ।। १/२५.

प्राप्त करने के लिए कब बुलावेगें।[१]

वाजसनेयिसंहिता में एक स्थल पर कहा गया है कि "हे उत्तम कीर्ति वाले, उत्तम कल्याण युक्त, सत्य प्रकाशक राजन्! तू श्रेष्ठ प्रजा पालक है। सार्वजनिक मंगल कार्यों के सम्पादन हेतु तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूँ[२] और ऋग्वेद में वरुण के लिए कहे गये गुण **"तेन सत्येन जागृतम्"** (१/२१/६) के आधार पर उन्हें राजा कहा गया है।

वैदिक आर्य के अनुसार सत्य का प्रकाश करने वाला राजा होता है जो स्वयं सत्य का प्रकाश करने वाला होगा वह प्रजाजनों में सत्य और असत्य को महत्त्व देगा। और वरुण इस गुण से युक्त हैं। वे प्रजा के सत्य और असत्य का निरीक्षण करते हुए प्रजा के मध्य घूमते हैं।[३]

ऋग्वेद में एक स्थल पर आया है कि जो तीक्ष्ण दृष्टि से युक्त हो (**तीक्ष्णेनाग्नेचक्षुषा-** १०/८७/९) वही राजा हो सकता है। आवश्यकता पड़ने पर विरोधियों को उसके दखने मात्र से ही उसके प्रभाव और शक्ति का पता लग जाए। वरुण राजोचित गुण से युक्त दिखाई पड़ते है।

इस प्रकार वेदों में इन्द्र के साथ-साथ वरुण को भी राज पद पर बिठाया गया है जिसका तात्पर्य है कि गुणों से ही राजा चुना जाता था। न केवल इन्द्र व वरुण ही बल्कि वेदों में अग्नि को भी "राजा" कहा गया है।

वेदों में जिस प्रकार इन्द्र व वरुण को "राजा" संज्ञा से विभूषित किया गया है उसी प्रकार "अग्नि" को भी यह पद दिया गया है यद्यपि "अग्नि" को "राजा" कह कर कम मन्त्रों में सम्बोधित किया गया है।

अग्नि को सम्बोधित एक मन्त्र में राजा कहकर प्रजा के मंगल की कामना की गयी है "हे अग्नि रूप राजन्! तू प्रजाओं के लिए मंगलकारी होकर इस राष्ट्र में रहने वाली प्रजा का कल्याण करके अपने राजासन पर आसीन हो और इसके पश्चात् राजधर्म में रत हो।[४] अग्नि इसी रक्षक गुण के कारण सभी के द्वारा वाञ्छनीय है। वह

---

१. कदा क्षत्रऽश्रियम् नरम् आ वरुण करामहे मृलीकाय उरुऽचक्षसम्। ऋक्० १/२५/५ आदित्येषु प्र वरूणे धृतव्रते मरुत्सु विश्वभानुषु वही। वरूणः धर्म्मणां पते। तै० उ०, ३/११/४/१। वरूणो वै देवानां राजा । शतपथ ब्राह्मण, १२/८/३/१०.

२. वाजसनेयिसंहिता, २०/४३.

३. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। ऋक्० ७/४९/३. अथर्व, १/३३/२। तै० संहिता ५/६/१/१.

४. शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम्
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहासदः।
वा० सं०,१२ /७, तै० सं० ४/१/९३, २/१/५.
मैं० सं० २/७/८.

हमारा कल्याण करने वाला है। अग्नि यज्ञ में सभी से अग्रणी होता है[१] व देवसेना के आगे-आगे ले जायी जाती है इसी लिए अग्नि कहते हैं। भक्त लोग अग्नि से घरेलू समृद्धि एवं सुख चैन की कामना करते हैं। व उन्हें न्यौता देते हैं कि वे आयें और अपने अथवा देवताओं के लिए हविष् लेने के निमित्त कुशासन पर विराजें। अग्नि दानवों के नाशक है। अपने लौह निर्मित दंष्ट्रों से वे मायावियों को खा जाते हैं, पिशाचों को निरस्त कर देते हैं व राक्षसों के तो वे सर्वोपरि नाशक है। (अग्निर्हि रक्षसामपहन्ता। श०ब्रा० १/२/१६, ९.) उनके बिना देवता यज्ञ-भोग नहीं कर सकते। वे देवताओं को यज्ञ में लाते और उन्हें कुशासन पर बिठाते हैं, जिससे वे खान-पान का आनन्द ले सकें। इसके अतिरिक्त वे हविष् को स्वर्ग में देवताओं के पास ले जाते हैं। दोनों ही दशाओं में वे देवों और मनुष्यों के दूत का काम करते हैं।

अपि च, राजा को अग्नि स्वरूप माना गया है क्योंकि राजा के कार्य व अग्नि के कार्यों में समानता देखी जा सकती है इसी कारण अग्नि को वेदों में "राजा" कहा गया है। अग्नि की स्तुति में कहा गया मन्त्र "राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिवम्। वर्धमानं स्वे दमे। ऋ० १/१/८ अग्नि व राजा दोनों पक्षों में देखा जा सकता है-

जिस प्रकार से अग्नि यज्ञों का प्रकाशक होता है व राक्षसों के द्वारा की गयी हिंसा से रहित यज्ञों का रक्षक है उसी प्रकार राजा भी न्याय का प्रकाशक होता है। राजा का कार्य है अपनी प्रजा को इस प्रकार से न्याय दिलाना ताकि उसके न्याय से धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त हो सकें। जिस प्रकार से अग्नि अवश्य होने वाले कर्म फलों का रक्षक है उसी प्रकार राजा भी धर्म के नियमों का रक्षक है। अग्नि के द्वारा यज्ञ की रक्षा न किये जाने से यज्ञ ध्वंस हो जाता है उसी प्रकार यदि राजा भी कानून की (न्याय) रक्षा नहीं करता तो समाज में, राज्य में अव्यवस्था फैल जायेगी। अग्नि अपने घर अर्थात् यज्ञशाला में अपने राज्य में कानून की रक्षा करके (न्याय करके) वृद्धि को प्राप्त होता है।

अग्नि की स्तुति में कहे गये एक मन्त्र[३] में अग्नि को देवता कहा गया है और देव शब्द राजा के लिए भी प्रयोग किया जाता है क्योंकि अग्नि व राजा दोनों के कार्यों में समानता देखी जा सकती है जिस प्रकार से राजा पुरोहित के अभीष्ट का सम्पादन करता है उसी प्रकार अग्नि भी यज्ञ के अपेक्षित होम का सम्पादन करती है। जिस

---

१. स यदस्य सर्वस्याग्रमसृज्यत तस्मादग्रिरग्रिर्हवै
तमग्निरित्याचक्षते परोऽक्षम्। शतपथ ब्रा० ६/१/१/११.

२. अग्निर्देवानां सेनानी। ब्राह्मण ग्रन्थ।

३. ॐ अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
होतारम् रत्नधातमम्। ऋ० १/१/१.

प्रकार से राजा अपने दानादि दिव्य गुणों के कारण प्रकाशमान होता है उसी प्रकार अग्नि भी देदीप्यमान होता है। अग्नि यज्ञ के फल रूपी रत्नों को धारण करने वाला है राजा भी भाँति-भाँति के रत्नों (खजानों) को धारण करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक आर्यो ने राजा में प्रशासनिक क्षमता एवं योग्यता के साथ बल, पौरुष, अदभ्य साहस, शौर्य आदि गुणों का होना भी आवश्यक माना है। यथा अग्नि (अग्रणीर्भवति) में नेतृत्व का गुण है, वायु (वाति गच्छति) में गति करने का गुण है, सूर्य में तपाने का गुण है। राजा इन्द्र (इदि ऐश्वर्ये) का अंश है क्योंकि वह स्वामी है, सोम के समान आनन्दित करने के कारण उसमें सोम का अंश है, वरुण (वृ० व्याप्त करना अथवा निवारण करना) व्युत्पत्ति के अनुसार राजा में वरुण का अंश है क्योंकि राजा अपने कार्यों से, प्रजाओं को व्याप्त करता है व कानूनों से (नियमों से) उन्हें नियन्त्रित करता है। मित्रता के कारण उसमें मित्र का अंश है। राजा दण्ड से सबको नियन्त्रित करता है इस कारण उसमें यम का अंश है। सबको सत्कर्मों में प्रेरित करने के कारण उसमें सविता का अंश है। पितरों के समान प्रजापालक होनेसे राजा में पितरों का अंश है।[१]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक काल में गुणों से युक्त व्यक्ति ही राजा कहा जाता था। "राजते इति राजा" व्युत्पत्ति के अनुसार किसी भी गुण से सुशोभित होने वाला राजा कहलाता था। यही कारण है कि वेदों में स्थान-स्थान पर कभी इन्द्र को कभी वरुण को व कभी अग्नि को "राजा" कहा गया है। वेदों में एक स्थल पर कहा गया है कि "हे राजन्, तुम अचलभाव से इस राष्ट्रपति के पद पर स्थिर रहो, सारी प्रजाएँ राजा के रूप में तुम्हें चाहें, यह राष्ट्र तुम्हारे अधिकार से निकल न जाय।[२]

आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने अग्नि और इन्द्र की स्तुति में कहे गये मन्त्रों में राजा या सम्राट परक अर्थों में प्रयुक्त विशेषणों के आधार पर राजा होने के लिए साठ गुणों पर दृष्टिपात किया है।[३] जिससे यह तात्पर्य निकलता है कि इन गुणों से विशिष्ट कोई भी व्यक्ति वैदिक काल में राजा हो सकता था। राजपदोचित गुण निम्नोक्त प्रकार से हैं-

---

१. अग्नेर्भागस्य, इन्द्रस्य भागः, सोमस्य भागः, वरुणस्य भागः मित्रावरुणयोर्भागः, यमस्य भागः, पितृणां भागःस्थ देवस्य सवितुर्भागस्थ। अथर्व० १०/५/७-१४.

२. आ त्वाहार्षमन्तरभू ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्।
अथर्व० ६/८७/१, वा०स० १२/११, तै०सं० ४/२/१/४,
मै०स० २/७/८, काठकसंहिता, १६/८.

३. प्रियव्रत, वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, पृ० ११२.

१.	विपश्चितम्–[१]	जो मेधावी हो।
२.	एवा ह्यस्य सूनृता–[२]	(जो इन्द्र) मधुर और सत्यवचन बोलता हो।
३.	रथीतमं रथीनाम्–	जो रथ चलाने में बड़ा प्रवीण हो। ऋक् १/११/१.
४.	युवा[३] –	जो युवा हो जिसमें कार्यशक्ति भरपूर मात्रा में हो।
५.	कविः[४]	जो क्रान्तदर्शी हो अर्थात् गहराई में जाकर बातों को समझ सके।
६.	विश्वस्यकर्मणोधर्ता–[५]	जो सभी प्रकार के कार्य कर सकने में समर्थ हो।
७.	तेन सत्येन जागृतम्–[६]	जो सदा सत्य में जागता रहे अर्थात् सदा सत्य पर आरुढ रहे।
८.	शतक्रतो–[७]	जो सैंकडों प्रकार के कर्म कर सकता हो अथवा जिसमें सैकड़ों प्रकार की बुद्धियाँ हों।[८]
९.	चित्रश्रवसतम्–[९]	जिसका "श्रवस" अर्थात् बल और यश खूब प्रसिद्ध हो।
१०.	असमं क्षत्रम्–[१०]	जिसके बराबर शक्ति अर्थात् क्षत्रियोचित गुण किसी में न हो। इन्द्र का बल किसी के समान नहीं हैं अर्थात् सर्वाधिक है तथा बुद्धि भी किसी की बुद्धि के समान नहीं है।
११.	असमा मनीषी[११]	जिसके समान मननशील बुद्धि किसी में न हो।
१२.	जातवेदाः[१२]	जो सब कुछ समझने वाला हो अथवा जो प्रजाओं के धन को बढ़ा सकने की शक्ति रखता हो। (सायण-तुम मानवी प्रजाओं के राजा हो।)
१३.	वेधाः[१३]	जो नवीन-नवीन बातों का आविष्कार कर सकने में कुशल हो।

---

१. ऋक्० १/१/४.

२. वही १/८/८.

३,४,५.पुरां भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत। इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः। वही १/११/४.

६. वही १/२१/६.

७. वही १/३०/६.

८. क्रतुरिति कर्मनामसु पठितम्-निघण्टु २/१.
क्रतुरिति प्रज्ञानामसु पठितम्-वही ३/९.

९. ऋक० १/४५/६.

१०. वही १/५४/८.

११. वही

१२. वही– १/५९/५.

१३. वही– १/६०/२.

१४. गृहपति[१]	जो गृहपति अर्थात् गृहस्थ हो-विवाहित हो। सायणभाष्य में इसका अर्थ इस प्रकार किया है कि जो (अग्नि) राक्षसों का दमन करने वाला है व गृहों का पालयिता (रक्षक) है।
१५. नृणां नृतमः[२]	जिसमें मनुष्यों के गुण सबसे अधिक मात्रा में विद्यमान हों। सायण-जो यज्ञ के नेताओं के मध्य में सबसे अधिक श्रेष्ठ है।
१६. सुसंदृशम्[३]	प्रत्येक बात को अच्छी प्रकार से देखने वाला हो। सायण-(इन्द्र) सुष्ठु अनुग्रह दृष्टया सर्वस्य द्रष्टारं)
१७. अप्रतिधृष्टशवसम्-[४]	जिसके (इन्द्र) "शवस" अर्थात् बल का कोई भी घर्षण न कर सके।
१८. सौभगत्वस्य विद्वान्[५]	राष्ट्र के सौभाग्य को बढ़ाने वाले उपायों को जानने वाला।
१९. सतां ज्येष्ठतमाय[६]	जो सत्पुरुषों में सबसे श्रेष्ठ हो।
२०. नेता चर्षणीनाम्[७]	जो मनुष्यों का नेता हो तथा मनुष्यों को मार्ग दिखाने की और उन्हें अपने पीछे लगाने की शक्ति रखता हो।
२१. विद्वान्[८]	जो विद्वान् हो।
२२. विप्रः[९]	जो विशेष- विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने वाला विद्वान् हो।
२३. नृचक्षाः[१०]	जो मनुष्य को पहचान सकता हो।
२४. यः कर्मभिर्महद्भिः-सुश्रुतो भूत।[११]	जो अपने महान् कर्मों से सुप्रसिद्ध हो चुका हो।
२५. वीरतमाय नृणाम्[१२]	जो मनुष्यों में सबसे अधिक वीर हो।

---

१. ऋक्०– १/६०/४.
२. वही– १/७७/४.
३. वही– १/८२/३.
४. वही १/८४/२.
५. वही– १/९४/१६.
६. वही– २/१६/१.
७. वही– ३/३/५.
८. वही– ३/१४/२.
९. वही– ३/१४/५.
१०. वही– २/१५/३.
११. वही– ३/३६/१.
१२. वही– ३/५२/१.

२६. भद्रा ते हस्ता सुकृता-[१]	जिसके हाथ कल्याणकारी उत्तम कर्म करने वाले हों, जिसके हाथों किसी प्रकार के अमंगल कर्म न होते हों।
२७. शूर[२]	जो शूरवीर हो।
२८. शुचिम्[३]	जो सब प्रकार से शुद्ध, पवित्र, निष्कलंक हो।
२९. पुरुरूप[४]	जो बड़े रूप वाला, देखने में बड़ा सुन्दर लगता हो।
३०. अधा विश्वासु-हव्योऽग्निर्विक्षु-प्रशस्पते–[५]	जिसकी सब प्रजाओं में प्रशंसा होती हो।
३१. कवीतमं कवीनाम्[६]	जो क्रान्तदर्शी विद्वानों में भी सबसे बढ़कर क्रान्तदर्शी विद्वान् हो।
३२. अजरं[७]	जो बूढ़ा न हो जिसकी कार्यशक्ति जीर्ण न हुई हो।
३३. कारो-[८]	जो अनेक प्रकार की नई-नई बातें कर सकता हो।[९]
३४. तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुः[१०]	जो विस्तीर्ण ग्रीवा वाला हो व शक्ति प्राप्त करने के लिए पेट में जिसके घृतादि चर्बियां जाती हों।
३५. धीषु प्रथमम्[११]	जो बुद्धि में सबसे प्रथम हो, जिसकी विचार शक्ति सबसे बढ़कर हो।
३६. शुद्धः[१२]	जो शुद्ध हो, जिसमें किसी प्रकार की मलिनता न हो।
३७. वस्त्राण्यध पेशनानि वसानः[१३]	जो सुन्दर वस्त्र पहनता हो।

---

१. ऋक्– ४/२१/९.

२. वही– ४/२२/५.

३. वही– ५/४/२.

४. वही– ५/८/२.

५. वही– ५/१७/४.

६. वही– ६/१८/१४.

७. वही– ६/१९/२.

८. वही– ६/२१/१.

९. कारू शिल्पी को कहते है- जैसे शिल्पी को नई-नई रचनाएं सूझती हैं ऐसे ही राज्य के कल्याण के लिए राजा को नई-नई बाते सूझती रहें और उन्हें क्रियाओं में लाने की उसमें शक्ति हो। इन्द्र के कारू विशेषण का यही अभिप्राय है–
वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त-आचार्य प्रियव्रत, पृ० ११४.

१०. ऋ० ८/१७/८.

११. वही– ८/७१/१२.

१२ वही– ८/९५/८.

१३. वही– १०/१/६.

३८. स्वोजा[१]	जिसमें ओज अर्थात् आत्मिक बल प्रकृष्ट रूप में हो।
३९. उग्रम्[२]	जो उद्‌गूर्ण बल वाला हो, जिसकी शक्ति फूट फूट कर बाहर प्रकट होती हो।
४०. तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा[३]	जो तीक्ष्ण दृष्टि से युक्त हो। आवश्यकता पड़ने पर विरोधियों को उसके देखने मात्र से ही उसके प्रभाव और शक्ति का पता लग जाए।
४१. विश्ववित्[४]	जो सब कुछ जानने और समझने वाला हो।
४२. वशी-[५]	जो अपने को वश में रखने वाला अर्थात् संयमी हो या जो दुश्मनों, दुष्टों को वश में रख सके।
४३. अभयंकर[६]	जो देखने में भयंकर न लगे, सौम्य मूर्ति हो।
४४. जागृह्यप्रयुच्छन्[७]	जो सदा जागरूक या सतर्क रहने वाला हो और कभी प्रमाद न करने वाला हो। युच्छ प्रमादे)
४५. चेत्ता[८]	जो खूब ज्ञानी शिक्षित हो (चिती संज्ञाने)
४६. मित्रवर्धनः[९]	जिसमें अपने मित्र बढ़ाने की विशेष योग्यता हो।
४७. व्याघ्रं, सिंहं, द्वीपि[१०]	जो व्याघ्र, सिंह और द्वीपी (चीता) की तरह पराक्रमी हो।
४८. ईडयः वन्द्यः नमस्यः[११]	जिसकी पूजा की जा सके, जो वन्दना और नमस्कार के योग्य हो।
४९. उपसद्यः[१२]	लोग जिसके पास आनन्द से जा सकें।
५०. चर्कृत्यः[१३]	जो खूब क्रियाशील हो।
५१. वृद्धवृष्णः[१४]	जिसका बल खूब बढ़ा हुआ हो।

---

१. ऋक्०– १०/२९/८.
२. वही– १०/४४/३.
३. वही– १०/८७/९.
४. वही– १०/९१/३.
५. अथर्व, १/२१/१.
६. वही– १/२१/१.
७. वही– २/६/३.
८. वही– ४/८२.
९. वही– ४/८/२.
१०. वही– ४/८/७.
११. अथर्व० ६/९८/१.
१२. वही– ६/९८/१.
१३. वही– ७/६२/१.
१४. वही– ७/६२/१.

५२. त्रातारमवितारम्[१] जिसमें आश्रितों के पालन और रक्षण की सामर्थ्य हो। (त्रैड पालने अवरक्षणादिषु)।

५३. शक्रम्[२] जो शक्तिशाली हो अथवा सब कुछ करने में समर्थ हो।

५४. मन्युना[३] जिसमें मन्यु अर्थात् सात्विक क्रोध हो।

५५. सहस्रशृङ्गो वृषभ[४] जो सहस्रों श्रृङ्गो वाले बैल की तरह बली हो यह विशेषण आलंकारिक रूप में दिया गया है। सहस्रशृङ्ग वृषभ सूर्य को भी कह सकते हैं। सहस्रों किरणें होने से सहस्रश्रृङ्ग और वर्षणकर्ता होने से वृषभ। तब इस विशेषण का अर्थ होगा जो सूर्य के समान तेजस्वी हो और उपकारों की वर्षा करने वाला हो।

५६. सुवीरः[५] जो उत्तम वीर हो।

५७. वाचस्पते[६] जो वाक् अर्थात् वाणी का स्वामी हो अर्थात् उत्तम वक्ता हो।

५८. हिरण्यवर्णः[७] जो सुवर्ण की तरह कान्तिमान हो।

५९. सत्ययोनिः[८] जिसका सत्य ही योनि अर्थात् घर हो। अर्थात् जो सदा सत्य में ही निवास करता हो। जिसके व्यवहार और आचरण से लोगों में सत्यपालन की भावना उत्पन्न होती हो। जिसके उदाहरण से लोग सत्य का पालन करने लगें।

६०. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति– अर्थात् ब्रह्मचर्य के सेवन और तप के द्वारा ही राजा राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। तप कहते हैं कर्त्तव्यपालन के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए उद्यत रहने वाले तथा सादगी के जीवन को। इस मन्त्र से यह अभिप्राय निकलता है कि जिस व्यक्ति को राजा बनाया जाय तह ब्रह्मचारी रह चुका हो, तपस्वी हो तथा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके भी संयम का ही जीवन व्यतीत करता हो। उच्छृंखलता और लम्पटता उसके पास न फटकती हो।

---

१. अथर्व० ७/८६/१.
२. वही– ७/८६/१.
३. वही– ७/९३/१.
४. वही– १३/१/१२.
५. अथर्व० १३/१/१२.
६. वही– १३/१/१७.
७. वही– १९/२४/८.
८. वही– ४/१९/२.

इस प्रकार आचार्य प्रियव्रत जी के राजा सम्बन्धी उपरोक्त गुणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल में राजपद कोई अलग से पदवी नहीं थी। अपितु किसी देव विशेष में विशिष्ट गुणों के होने से उसे "राजा" नाम से सम्बोधित कर दिया जाता था।

वेदों के अनुसार राजत्व का उद्‌गम

ऋग्वेद[१] में एक स्थल पर त्रसद्दस्यु कहता है– "देवलोग वरुण की शक्ति पर निर्भर हैं, किन्तु मैं लोगों का राजा हूँ, मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ, मैं विशाल एवं गम्भीर स्वर्ग एवं पृथिवी हूँ, मैं अदिति का पुत्र हूँ। इस उल्लेख से पता चलता है कि वैदिक काल में वरूण की शक्ति अपार थी, देवता लोग भी उनकी शक्ति पर निर्भर करते थे। ऋग्वेद के अन्तिम मण्डल[२] के उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक राजा का उद्‌गम हो चुका था क्योंकि वहाँ कहा गया है कि सभी लोग तुम्हें राजा की भाँति चाहें।

अथर्ववेद[३] में राजा के चुनाव की ओर संकेत मिलता है। वहाँ कहा गया है लोग राज्य करने के लिए तुम्हें चुनते हैं, ये दिशाएं ये पंचदेवियां तुम्हें चुनती हैं। इससे यह ध्वनि निकलती है कि उस समय भद्रलोग ग्राम मुखिया, दक्ष रथकार, कुशल धातु निर्माता राजा को चुनते थे।[४] अन्यत्र उल्लेख मिलता है कि "हे राजा तुम्हें सभी लोग चाहें, तुम्हारे हाथों से राज्य न छीना जा सके, तुम इन्द्र के समान इस विश्व में सुस्थिर रहो और तुम राज्य धारण किये रहो।"

शतपथ ब्राह्मण[५] में राजा को प्रजापति के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित किया गया है वहाँ पर वाजपेय यज्ञ में बाण चलाते समय ऐसा कहा गया है "राजन्य प्रजापति का है, वह अकेला है किन्तु बहुतों पर राज्य करता है।"

ऐतरेय ब्राह्मण[६] में स्पष्ट कहा गया है कि राजा के न रहने पर देवों ने अपनी

---

१. ऋक्०, ४/४२.

२. वही० १०/१७३/१.
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु। अथर्व, ६/८७/१, ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्। वही, ६/८८/१-२,

३. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदिश्रयस्य ततो न उग्रो वि भजा वसूनि। अथर्व० ३/४/२.

४. त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
अथर्व० ३/४/२, ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्य ये।
उपस्तीन् पर्णमह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्। वही, ३/५/७.

५. शत०ब्रा० ५/१/५/१४.

६. ते देवा अब्रुवन्नराजतया वै नो जयंति राजानं करवामहा इति तथेति ते सोमं राजानमकुर्वः। ऐत० ब्रा० १/१४.

दुर्दशा देखी और तभी एकमत से चुनाव किया। इससे यह प्रकट होता है कि सामरिक आवश्यकताओं ने स्वामित्व या नृपत्व को जन्म दिया था।

राजा की उत्पत्तिः धर्मशास्त्रीय रूप

वैदिक काल में समाज के सुव्यवस्थित व धर्मपरायण होने के कारण राजा की आवश्यकता नहीं थी सभी व्यक्ति स्व-स्व नियमों का पालन करने में तत्पर रहा करते थे। उस समय केवल मात्र गुणों में बलवान व प्रखर होने पर किसी को भी राजा की संज्ञा से विभूषित किया जा सकता था लेकिन वैदिक काल की समाप्ति होते-होते समाज अव्यवस्थित होने लगा था। सत्ययुग में जो धर्म सत्य, तप, दान आदि चार पैरों पर खड़ा था वह कलियुग तक आते-आते एक पाद हो गया था।[१] धर्म की क्रमशः हानि सत्युग से कलियुग की ओर चली । श्रीमद्भागवद पुराण में बैल को धर्मरूप बताकर किसी काले व्यक्ति के द्वारा उस पर तीर चलाकर तीन पैर घायल कर देने का उल्लेख भी मिलता है। निःसन्देह वह व्यक्ति कलियुग था जिसने बैल रूपी धर्म के तीन पेरैं को घायल कर दिया था। और यही वह समय था जब समाज में राजा की आवश्यकता हुई क्योंकि इस समय धर्म के चतुष्पाद में अव्यव्स्था आ गयी थी इस प्रकार सत्युग में तो राजा की आवश्यकता ही नहीं थी लेकिन सत्य युग के अन्त में व त्रेता के प्रारम्भ में राजा की आवश्यकता हो गयी थी यही कारण है कि मनुस्मृति में मात्स्य न्याय से अभिभूत प्रजा ने मनु को राजा बनाया। मनु शब्द यहाँ पर विशेष अर्थ का बोधक है। जो भी मननशील है, विवेकशील है उसी को राजा बनाना चाहिए। किसी भी अहंकारी व अज्ञानी को कदापि राजा नहीं बनाना चाहिए। यथा अहंकारी नहुष को राजा बना दिये जाने पर उसने अपने अहंकारी स्वभाव के कारण पंडितों का अपमान कर दिया और अपने इसी दुर्गुण के कारण नहुष को "सर्प" की योनि में जाना पड़ा।

राजा की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए मनु ने कुछ पूर्व मान्यतायें जो कि धर्मशास्त्रों की आधारभूत हैं को स्वीकार किया है। मानवस्वभाव देवी और आसुरी वृत्तियों का समुच्चय है। देवी और आसुरी वृत्तियों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है इसी को देवासुर संग्राम कहा गया है। देवी वृत्तियाँ शान्त और कल्याणकारी होती हैं तथा आसुरी वृत्तियाँ अकल्याणकारी होती हैं। ये मनुष्य में विकार उत्पन्न करती हैं जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्यमार्ग से च्युत हो जाता है इन दोनों वृत्तियों के संघर्ष में जब देवी वृत्ति की विजय होती है तब समाज सुव्यवस्थित, आत्मनियन्त्रित

---

१. कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप। श्रीमद्भागवत, १२/३/१८.

एवं धर्म (कानून) नियन्त्रित होकर बिना किसी शासक, व्यवस्थापक या राजा के भी चल जाता है किन्तु जब आसुरी वृत्तियाँ प्रबल होती हैं तब समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती हैं। हिंसा और प्रतिहिंसा बढ़ने लगती है। अन्याय का साम्राज्य हो जाता है। सबल व्यक्ति को सब कुछ मिल जाता है और दुर्बल का जीना भी दुर्लभ हो जाता है। ऐसी स्थिति में राजा के बिना समाज में व्यवस्था होना संभव नहीं होता। अतः समय की आवश्यकता ने ही ''राजा'' की उत्पत्ति को जन्म दिया।

धर्मशास्त्रों के अनुसार एक समय ऐसा था जब न राजा था न नियम, न कानून, न दण्ड और न दण्ड की व्यवस्था थी। सभी लोग परस्पर स्नेह, सद्भाव और सहयोग से सुखी और सानन्द जीवन व्यतीत करते थे। उस समय सब लोग धर्म नियन्त्रित या आत्म नियन्त्रित होकर अपने-अपने अधिकार के भीतर रहते हुए अपने कर्त्तव्य का पालन करते थे और किसी दूसरे के अधिकार में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे।[१] लेकिन धीरे-धीरे समाज में परिवर्तन आने लगा था और अन्त में एक समय ऐसा आ गया था कि जब राजा नहीं था और राजा के अभाव में समाज में अन्याय और अनाचार चरमसीमा तक बढ़ता जा रहा था। सबल लोगों का साम्राज्य था। दुर्बल, असहाय तथा भयातुर थे। इस संसार के बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से प्रजाओं के इधर-उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान ने राजा की सृष्टि की,[२] क्योंकि न्यायपूर्वक धर्म का प्रवर्तन न होने पर मात्स्यन्याय की प्रवृत्ति होती है,[३] व प्रजा तथा राजा का वर्ताव नष्ट हो जाता है। कौटिल्य ने भी दण्डधर के अभाव में मात्स्यन्याय[४] की प्रवृत्ति का उल्लेख किया है अपि च, कौटिल्य के अनुसार मात्स्यन्याय से अभिभूत होकर ही प्रजा ने मनु वैवस्वत को अपना राजा बनाया[५] इससे यह पता चलता है कि उस समय प्रजा की इच्छा के विरुद्ध शासन के द्वारा राजा का चयन नहीं होता था।

शान्तिपर्व के ६७वें अध्याय में यह उल्लेख मिलता है कि राज्य के लिए सबसे बड़ी बात है राजा प्राप्त करना क्योंकि राजा विहीन देश में धर्म, जीवन एवं सम्पत्ति

---

१. नैव राज्यं न राजाऽऽसीन्न दण्डो न च दाण्डिकः
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चेवानुवर्णितः। महा० शान्ति, अध्याय ६७/१७.
अपि च, न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् वही– ५९/१४.

२. अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।। मनु० ७/३.

३. परस्परामिषतया जगतो भिन्नवर्त्मनः।
दण्डाभावे परिध्वंसी मात्स्योन्यायः प्रवर्तते। का० नी० सा०, २/४०.

४. अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। कौ०अ०, १/३.

५. मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजामनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। कौ०अ० १/१२.

का नाश हो जाता है इसीलिए देवों ने जन रक्षार्थ राजा की नियुक्ति की। लोगों ने एकत्र होकर नियम बनाये कि जो कोई निन्दा, मारपीट, बलात्कार तथा नियमों को भंग करेगा। वह त्याज्य होगा व दण्डनीय होगा।[१]

इस प्रकार धर्मशास्त्रों के उपर्युक्त विवेचन से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि तत्कालीन समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाने पर निर्बलों की रक्षा हेतु ब्रह्मा के द्वारा मनु को राजा नियुक्त किया गया था व लोगों ने अपनी रक्षा करने के कारण राजा को अपनी आय का छठा भाग देना स्वीकार किया। लेकिन कौटिल्य ने यह नहीं लिखा है कि मनु ने जनता के समक्ष कोई प्रण किया था या नहीं। इसके विपरीत शान्तिपर्व में इस बात का उल्लेख है कि प्रथम राजा वैन्य (पृथु) ने देवों एवं मुनियों के समक्ष शपथ ली कि वह विश्व की रक्षा करेगा, राजनीतिशास्त्र द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन करेगा और मनमानी कभी नहीं करेगा।[२]

राजा और दैवी अंश–

चूँकि राजा व्यवस्था स्थापित करने के लिए ईश्वर के द्वारा भेजा गया था अतः उसे साधारण नागरिकों से श्रेष्ठ माना गया था। सबको अपने अंकुश में रखने का अधिकार तथा सामर्थ्य भी उसे ईश्वर से ही प्राप्त हुआ। राजा की उक्त विशिष्टता के कारण का संकेत करते हुए मनु का कहना है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की।[३] राजा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि राजा भले ही बालक हो किन्तु उसे एक मर्त्य मनुष्य के रूप में समझना भारी भूल है। वह इस मर्त्य शरीर में ईश्वर है। राजा के पक्ष में भाग्य और विजय के देवता वास करते हैं। और क्रोध में यम और मृत्यु का निवास होता है। अतः राजा अपने तेज, शक्ति एवं प्रभाव से सब जीवों को पराजित करता है। राजा की ओर अगर कोई कुदृष्टिपात करता है तो उसके नेत्र तथा मन को यह सूर्य के समान संतप्त करता है। अतः पृथिवी पर कोई भी इसकी ओर दृष्टि उठाकर देखने का साहस नहीं कर सकता। धर्मशास्त्रों में राजा को जो दैविक गुणों से सम्पन्न बताया गया है उसके बीज हमें वेदों में ही मिल जाते हैं।

---

१. यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद् धर्ममवेक्षता। शान्ति० ६७/१०५.

२. प्रतिज्ञां चाभिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्मेत्येवाह चासकृत।।
यश्चात्र धर्मो नीत्युक्तो दण्डनीतिव्यपाश्रयः।
तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन। शान्ति० ५९/१०६-१०८.

३. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः। मनु०, ७/४.

ऋग्वेद[१] में पुरुकुत्स के पुत्र त्रसद्दस्यु का कहना है कि देवलोग वरुण की शक्ति पर निर्भर हैं, किन्तु मैं लोगों का राजा हूँ, मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ, मैं विशाल एवं गम्भीर स्वर्ग एवं पृथिवी हूँ, मैं अदिति का पुत्र हूँ"। यहाँ पर राजा अपने को वैदिक देवों में सर्वश्रेष्ठ देवों के समान कहता है। अथर्ववेद[२] में कहा गया है– "हे राजा तुम्हें सभी लोग चाहें, तुम्हारे हाथों से राज्य न छीना जा सके, तुम इन्द्र के समान इस विश्व में सुस्थिर रहो और तुम राज्य धारण किये रहो।" शतपथ ब्राह्मण[३] में वाजपेय यज्ञ में बाण चलाते समय ऐसा कहा गया है "राजन्य प्रजापति का है, वह अकेला है, पर बहुतों पर राज्य करता है" यहाँ पर राजा की स्थिति का वर्णन प्रजापति के प्रतिनिधि के रूप में की गयी है।

पुराणों में भी राजा में दैवी अंशों की बात कही गयी है। अग्नि-पुराण[४] के अनुसार राजा सूर्य, चन्द्र, वायु, यम, वरुण, अग्नि, कुबेर, पृथिवी एवं विष्णु के कार्य करता है। अतः राजा में इनके अंश पाये जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि उस समय राजा को दैवी अधिकार प्राप्त थे अपितु कहने का तात्पर्य यह है कि राजा में देवों के कार्य पाये जाते हैं।

जिस प्रकार से सूर्य के तेज को देखना कठिन होता है उसी प्रकार राजा भी अपने तेज से दुर्निरीक्ष्य होता है। चन्द्रमा के समान प्रसन्नता देने वाला होता है जिस प्रकार हवा सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करती है तथैव राजा भी गुप्तचरों के द्वारा सारे जगत् में व्याप्त रहता है। दोषों का निग्रह करने के कारण राजा विवस्वान है। दुर्बुद्धि को जब राजा जलाता है तो यह अग्नि के समान होता है ब्राह्मणों को दान देने के समय यह कुबेर होता है व धन की धारा प्रवाहित करने के कारण वरुण कहा गया है। क्षमा से सम्पूर्ण लोकों को धारण करने के कारण ही राजा है। नारदस्मृति[५] के अनुसार राजा में अग्नि, सोम, इन्द्र, यम एवं कुबेर के कार्य पाये जाते हैं। यही बात

---

१. अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रोदसी सुमेके।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च। ऋग्० ४/४२/३.

२. विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्।
.........इन्द्र इवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय।। अथर्व० ६/८७/१-२.

३. एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमां यद्राजन्यस्तस्मादेकः सन्बहूनामीष्टे ....।"
शत० ब्रा० ५/१/५/१४.

४. अग्निपुराण २२६/१७-२०, द्रष्टव्य शुक्र० १/७३-७९.

५. राजेति संचरत्येष भूमौ साक्षात्सहस्रदृक्।
प्रजानां विगुणोऽप्येवं पूज्य एव प्रजापतिः। पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः। अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य यमस्य धनदस्य च। नादरस्मृति, प्रकीर्णक अध्याय, श्लोक २०-३१.

मार्कण्डेय पुराण[१] में भी कही गयी है। वायुपुराण[२] के अनुसार अतीत एवं भविष्य के मन्वन्तरों में चक्रवर्ती राजा उत्पन्न हुए एवं होंगे और उनमें विष्णु का अंश होगा।

लेकिन राजा में दैवी अंश होने का तात्पर्य यह नहीं है कि तत्कालीन समाज में राजा मनमानी करता था क्योंकि मनु आदि धर्मशास्त्रकारों ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि प्रजा के साथ मनमाना व्यवहार करने वाला राजा अवश्यमेव नष्ट हो जाता है। शुक्रनीतिसार में तो स्पष्ट कहा गया है कि प्रजा को कष्ट देने वाले या धर्म के नाश का कारण बनने वाले राजा में अवश्य ही राक्षसों का अंश होता है।[३] मनु के अनुसार[४] प्रजा को पीड़ित करने वाला राजा अपने कुटुम्ब एवं राज्य को खो डालता है। यही बात अनुशासनपर्व में भी कही गयी है[५] यथा देवद्रोही होने के कारण व स्वहित के लिए यज्ञ कराने वाले राजा वेन को ब्राह्मणों ने मार डाला था।[६]

गौतमधर्मसूत्र[७] के अनुसार राजा ब्राह्मणों के अतिरिक्त सब पर शासन करता है। राजा द्वारा ब्राह्मण का सम्मान करने की परम्परा ऐतरेय ब्राह्मण के काल से ही मिलती है।

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्रों में राजा की उत्पत्ति प्रजा के रक्षण के लिए व अन्यायियों का दमन करने के लिए ही हुई थी। अब यहाँ पर यह जानना आवश्यक है कि राजा को किन-किन गुणों या विशेषताओं से युक्त होना चाहिए। क्या धर्मशास्त्रों में भी उन्हीं गुणों की चर्चा की गयी है जिन गुणों के आधार पर वेदों में राज पद दिया जाता था।

राजा के गुण—

याज्ञवल्क्य स्मृति में राजा के अन्तरंग व बहिरंग गुणों का वर्णन किया है। अन्तरंग गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि राजा को महान् उत्साही, अत्यन्त

---

१. मार्कण्डेय पुराण २७/२१-२६.

२. वायुपुराण ५७/७२.
अपि च देखिए मत्स्यपुराण २२६/१-१२,
भागवतपुराणं ४/१४/२६-२७.

३. यो हि धर्मपरो राजा देवांशोऽन्यश्च रक्षसाम्।
अंशभूतो धर्मलोपी प्रजापीड़ाकरो भवेत्। शुक्र० १/७०

४. मनु० ७/१११-११२.

५. अरक्षितारं हन्तारं विलोप्तारमनायकम्।
तं वै राजकलिं हन्युः प्रजाः सन्नह्य निर्धृणम्। अनु० ६१/३२-३३.

६. महा०, शान्ति० ५९/९३-९४, अपि च
इत्थं व्यवसिता हन्तुमृषयो रूढमन्यवः।
निजधनुर्हुङ्कृतैर्वेनं हतमच्युतनिन्दया।। श्रीमद्भागवत पुराण ४/१४/३४.

७. राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। तमुपर्यासीनमद्यस्तादुपासीरन्नन्ये ब्राह्मणेभ्यः। तेप्येनं मन्येरन्।
गौ०ध०सू० ११/१/७-८.

धन देने वाला, कृतज्ञ, वृद्धों की सेवा करने वाला, विनीत, सत्त्वसम्पन्न, कुलीन, सत्य बोलने वाला, पवित्र, आलस्यरहित, स्मरण रखने वाला, सद्गुणी, दूसरों का दोष न कहने वाला, धार्मिक, व्यसन न करने वाला, बुद्धिमान्, वीर, रहस्य को छिपाने में चतुर, अपने राज्य के प्रवेश द्वारों को गुप्त रखने वाला, आन्वीक्षिकी एवं दण्डनीति, विद्या एवं वार्ता तीनों में प्रवीण होना चाहिए। उसे ब्राह्मणों के प्रति सहनशील, मित्रों के प्रति सरल, शत्रुओं के प्रति क्रूर एवं सेवकों तथा प्रजा के प्रति पितृवत होना चाहिए।[१] मिताक्षराकार ने अधिक उपयोगी होने के कारण इन गुणों को अन्तरंग कहा है।[२] याज्ञवल्क्य के समान मनु ने भी राजोचित गुणों की चर्चा की है। उपर्युक्त गुणों से युक्त ही राजा प्रजा को अपने वश में रखने में समर्थ होता है।[३]

अन्तरंग गुणों के अतिरिक्त राजा के बहिरंग गुणों का भी याज्ञवल्क्य ने उल्लेख किया है। राजा को ज्ञानी, वंशपरम्परा से चले आने वाले धैर्यवान एवं पवित्र पुरुषों को मन्त्री बनाना चाहिए। पुरोहित एवं यज्ञ कराने वाले याजकों का चुनाव करने वाला, योग्य ब्राह्मणों को दान देने वाला व रक्षा करने वाला होना चाहिए ।[४]

कौटिल्य ने राजा के गुणों की सूची कई दृष्टिकोणों से दी है।[५] लेकिन राजा को सर्वप्रथम काम, क्रोध, लोभ मान, मद और हर्ष का त्याग करके इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए[६] क्योंकि शास्त्रों के विरुद्ध आचरण करने वाला, इन्द्रियों को वश में न रखने वाला राजा सम्पूर्ण पृथिवी मण्डल का स्वामी होने पर भी शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।[७] अपि च, राजा को विद्वानों की संगति में अपनी बुद्धि का विकास करने वाला होना चाहिए। वह गुप्तचरों के माध्यम से अपने देश के और परदेश के समाचारों को जानता रहे व शासन के नियमानुसार प्रजा का नियन्त्रण करे।[८] शिक्षा का प्रसार करके प्रजा को विनयी और शिक्षित बनाये। राजा को चाहिए कि वह धनादि देकर

---

१. याज्ञ० १/३०९-३११.

२. एवमभिषेकयुक्तस्यान्तराङ्गान्धर्मानभिधायेदानीं बहिरङ्गानाह..........। याज्ञ० १/३१७ पर मिताक्षरा

३. इन्द्रियाणां जये भोगं समातिष्ठेद्दिवानिशम् जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।
मनु०, ७/४४.

४. स मन्त्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिराञ्शुचीन् तैः सार्धं चिन्तयेद्राज्यं विप्रेणाथ ततः स्वयम्।
याज्ञ०, १/३१२.

५. कौ० अ० ६/१.

६. तस्मादरिषड्वर्गत्यागेनेन्द्रियजयं कुर्वीत। कौ०अ० ७/१.

७. तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियश्चातुरन्तोऽपि राजा सद्यः विनश्यति। कौ० अ० ६/५.

८. वृद्धसंयागेन प्रज्ञां चारेण चक्षुरुत्थानेन योगक्षेमसाधनं कार्यानुशासनेन स्वधर्मस्थापनं विद्यापदेशेन लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन हितेन वृत्तिम्। वही, ७/२.

प्रजा में अपनी लोकप्रियता हासिल करे प्रजा के हित में सदा तत्पर रहे। परस्त्री, परधन एवं हिंसात्मक व्यवहार का त्याग करे। असमय शयन, चंचलता, झूठ बोलना, एवं अविनीत वृत्ति का त्याग करने वालों का साथ भी उसे छोड़ देना चाहिए। अधर्मयुक्त एवं अनर्थकारी व्यवहार को भी छोड़ दे। राजा को काम का सेवन धर्म व अर्थ को बिना हानि पहुंचाये ही करना चाहिए।[१] व इन तीनों का समान रूप से सवेन करना चाहिए क्योंकि धर्म, अर्थ व काम इनमें से किसी भी एक का अत्यधिक सेवन करने से स्वयं व दूसरों को नष्ट कर देता है।[२]

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समान ही कामन्दक ने भी राजा के गुणों की चर्चा की है। कामन्दक ने राजा के १९ गुण माने हैं।[३] इनके अनुसार सदा प्रजा में अनुरक्त, प्रजापालन में तत्पर, विनीत आत्मा राजा ही महालक्ष्मी को प्राप्त होता है।[४] अपि च, कामन्दक ने राजा के लिए दानशीलता, सत्यवादिता एवं पराक्रम इन तीन गुणों को अन्य गुणों की प्राप्ति में सहायक बताया है।[५]

गौतम के अनुसार राजा को शास्त्रानुकूल आचरण करने वाला (पक्षपातरहित होकर), साधु वचन बोलने वाला, वेदत्रयी एवं न्यायविद्या में शिक्षित होना चाहिए।[६]

राजा पवित्र (मन से पवित्र विचारों वाला), जितेन्द्रिय, गुणी (शान्ति आदि गुणों अथवा उत्तम चरित्र वाले) सहायकों से युक्त तथा साम दाम आदि उपायों से सम्पन्न हो।[७]

महाभारत में राजा के ३६ गुणों की गणना की गयी है। यथा राजा को कठोर वचन नहीं बोलने चाहिए। वह धर्मनिष्ठ हो, दुष्टता से दूर रहे व प्रिय वचन बोलने वाला होना चाहिए।[८]

---

१. धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। कौ० अ० ७/६.

२. समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्।
एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति। वही– ७/८-९.

३. शास्त्रं प्रज्ञा धृतिर्दाक्ष्यं प्रागल्भ्यं धारयिष्णुता
उत्साहो वाग्मिता दाढर्यमापत्क्लेश सहिष्णुता
प्रभावः शुचिता मंत्री त्यागः सत्यं कृतज्ञता।
श्रुतं शीलं दमश्चेवेति गुणाः सम्पत्ति हेतवः। का० नी० सा० १/२१-२२.

४. सदानुरक्तप्रकृतिः प्रजापालनतत्परः।
विनीतात्मा हि नृपतिर्भूयसी श्रियमश्नुते। वही, १/२४.

५. वही, ४/२४.

६. साधुकारी साधुवादी। त्र्ययामान्वीक्षिक्यां वाऽभिविनीतः। गौ० ध० सू० २/२/२-३.

७. शुचिर्जितेन्द्रियों गुणवत्सहायोपायसंपन्नः । गौ०ध०सू० २/२/४.

८. इयं गुणानां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्गुणसंयुतं।
यान्गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन्गुणमवाप्नुयात्। महा०, शान्ति०, ७०/२.

नीतिवाक्यामृत के अनुसार धार्मिक, कुलीन, सदाचारी और उत्तम कुटुम्ब वाला, प्रतापशाली तथा नीति के अनुकूल आचरण करने वाला ही राजा (स्वामी)[१] होता है। शुक्र ने भी राजा के उक्त गुणों का ही निरुपण किया है।[२] अपि च, दुष्टों के क्रोधित होने पर उनका निग्रह करने वाला और शिष्टों से प्रसन्न होकर उनका दान-मानादि से अनुग्रह करने में समर्थ हो, और जो अपनी उन्नति की वृद्धि करने में सम्पन्न हो वह स्वामी है।[३] गर्ग ने भी दुष्ट निग्रह और शिष्ट अनुग्रह कर्ता को स्वामी कहा है।[४]

उपर्युक्त समस्त विवेचन से एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि वेदों में राजोचित पद के लिए जिन गुणों का वर्णन किया गया है वे ही गुण धर्म-शास्त्रों में भी राजा के लिए आवश्यक कहे गये हैं। समस्त गुणों में से राजा के लिए कुलीनता, सत्यवादिता, पक्षपातरहितता, सदाचारी, गुणी, शुचिशील, मननशील, विवेकी, दृढ़-संकल्पी एवं स्थिरविचारवान्, अप्रमादी, मनोविकारी दुर्गुणों से विरक्त, अभय, शांतप्रिय, दैविक शक्तियों से युक्त गुणों को सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्वीकार किया है।

गुणों की महत्ताः

न्यायकर्ता के रूप में धर्मशास्त्रकालीन राजा के गुणों की महत्ता को निम्न परिप्रेक्ष्य में परखा जा सकता है—

कुलीनता— कुलीनता से अभिप्राय है, ऐसे परिवार व कुल से जो, अतीत व वर्तमान दोनों में आचरणशील, सभ्य, गुणज्ञ, अर्थज्ञ रहा हो। इस प्रकार के परिवार में जन्मे व्यक्ति को अनेक मानवीय गुण एवं श्रेष्ठ आचार-विचार जन्म से माता-पिता की गोद व लालन-पालन में सभ्य बनाने में सहायक होते थे। कुलीनता के पीछे यह भावना कार्य करती थी कि कुलीन व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों के प्रति उत्तरदायी होते हुए अपने अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करेगा। अपने सद्व्यवहार एवं विवेकशीलता की अमिट छाप अपने देशवासियों पर छोड़ सकता है व अपनी कुलमर्यादा का ध्यान रखते हुए कर्त्तव्यपालन में निष्ठापूर्वक संलग्न रह सकेगा।

---

१. धार्मिकः कुलाचाराभिजनविशुद्धः प्रतापवान नयानुगतवृत्तिश्च स्वामी।
नीतिवा०, स्वामी समुद्देश १.

२. धार्मिको यः कुलाचारैर्विशुद्धः पुण्यवान् नयी।
स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकण्टकैः।
शुक्र, नीतिवा० स्वामी समुद्देश-। में उद्धृत।

३. कोपप्रसादयोः स्वतन्त्रता आत्मातिशयवर्द्धनं वा
यस्यास्ति स स्वामी। नीतिवा० स्वामी समुद्देश, २.

४. स्वायत्तः कुरुते यश्च निग्रहानुग्रहौ जने। पापे साधुसमाचारे स स्वामी नेतरः समृतः।
नीतिवा० स्वामी समुद्देश में उद्धृत।

सत्य– सत्य पर ही हमारा विश्व टिका है अतः न्यायकर्ता के लिए सत्य बोलना, सत्य सोचना व सत्य करना आवश्यक था क्योंकि न्याय के लिए (सत्य के निर्धारणार्थ) वादी व प्रतिवादी के न्यायकर्ता के समक्ष होने पर यदि उसे सत्य नहीं मिलता तो जन समूह अशांत हो उठता है। अतः विवाद की सत्यता प्राप्त करने के लिए सत्य आचरण को आवश्यक गुण माना जाता था।

पक्षपातरहित न्याय– न्यायकर्ता के लिए वादी प्रतिवादी या स्वजनों के प्रति न्याय से हटकर पक्षपात पूर्ण निर्णय देना महान् दुर्गुण था। अतः पक्षपातरहित होकर स्व और पर की भावना से हटकर न्याय करना एक आवश्यक गुण था ताकि पक्षपातपूर्ण न्याय से प्रजा राजा के विरोध में बगावत न कर दे।

गुणी (प्रतिभासम्पन्न)– न्यायकर्ता के लिए यह आवश्यक था कि वह प्रतिभा सम्पन्न हो क्योंकि कानून के ज्ञान के साथ-साथ उस ज्ञान का विवेकपूर्ण ढंग से विश्लेषण व उपयोग गुणवान व्यक्ति ही कर सकता है। "शुचि" गुण के अन्तर्गत मनसा, वाचा, कर्मणा पवित्र होना समझा जाता था। मनसा, वाचा व कर्मणा पवित्र व्यक्ति ही कानून व न्यायपद की गरिमा को स्थापित करने में सफल रहता है।

दृढ़– प्रतिज्ञा- न्यायकर्ता अर्थात् राजा के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ गुण से युक्त होना अनिवार्य कहा गया था क्योंकि भावुकता से हटकर दृढ़तापूर्वक न्याय करने वाले व्यक्ति को ही न्यायकर्ता (राजा) के पद पर रखने का समर्थन किया गया है दृढ़प्रतिज्ञ पर ही जनसमूह आस्था व विश्वास बनाये रखता है।

अप्रमादी– राजा के गुणों में एक महत्त्वपूर्ण गुण है प्रमादरहित होना क्योंकि प्रमादी व्यक्ति का विनाश व पतन अवश्यंभावि होता है। इसके विपरीत अप्रमादी के द्वारा न्याय किये जाने पर जनता का प्रमाद दूर हो जाता है।

अभय– न्यायकर्ता को अभय गुण से युक्त बताया गया है। दूसरे के पद, धन, शक्ति व प्रतिष्ठा की चिन्ता न करते हुए निष्पक्ष व सत्य को व्यक्त करना ही अभयता है। अभय पूर्वक न्याय न करने से मात्स्यन्याय प्रभावी हो जाता है अतः निर्भय व्यक्ति ही दण्ड व न्याय का सदुपयोग करने में सक्षम हो सकता है।

"राजपद" पर अभिषिक्त राजा के अपनी प्रजा के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी हुआ करते थे। जिनका पालन करना राजा के लिये अनिवार्य हुआ करता था। न केवल धर्मशास्त्रों में ही अपितु वैदिक काल में भी राजा के कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

वेद और राजा के कर्त्तव्य–

वेदों में स्थान-स्थान पर राजा और राजपद का उल्लेख होने से यह स्पष्ट होता है कि उस समय राज्य का सम्यक् संचालन करने के लिए लोग उस गुणवान् वीर क्षत्रिय को राजा चुनते थे जो अपने अधीन रहने वाले लोगों को शत्रुओं से बचाने के लिए युद्ध

करता था और राज्य में सुव्यवस्था स्थापित करता था। राजा के राजपद पर आसीन होने के उपरान्त उसके अपनी प्रजा के प्रति कर्त्तव्य होते थे जिनके लिए उसे राजा बनाया जाता था। यजुर्वेद में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि राजा मनुष्यों के लिए उसी प्रकार उपयोगी, उपकारक तथा उनका पालक है जैसे अग्नि गृहपतियों के लिए है, इन्द्र के समान विपुल धन का दाता, कर्त्तव्य पालन में मित्र-वरुण के समान, विविध प्रकार के ज्ञान को धारण करने में अथवा महान् धन के स्वामी होने में पूषा के समान, सभी के कल्याण करने में अथवा सुख देने में "द्यु और पृथिवी के समान और जो अपनी सन्तति रूप प्रजा के लिए माता के समान है"।[१]

प्रजा की रक्षा करना (प्रजापालन)

वैदिक आर्यों का मुख्य उद्देश्य सुख शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए इस लोक में सुख भोगकर परलोक में मोक्ष प्राप्ति था। परन्तु समाज के असभ्य, अनार्थ दुष्ट लोगों के कारण उनके शान्तिपूर्ण जीवन में बाधा पड़ती थी। इसलिये वे अपने राजा को वीरोचित गुणों से युक्त देखना चाहते थे कि राजा इन दुष्ट शत्रुओं से उनकी रक्षा कर सके। इसीलिए वे अपने आराध्य को भी स्थान-स्थान पर शत्रुनाशक शत्रुदमनकारी कहते हैं। स्पष्ट है कि राजा का मुख्य कर्त्तव्य शत्रुओं से अपनी प्रजाजनों की रक्षा करना था और इस प्रकार प्रजा को भययुक्त करना था। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में कहा गया है कि भयभीत जनता ने भयमुक्त होने के लिए राजपद का निर्माण कर अपने मध्य में राजा का वरण किया।[२]

कृषि का विकास करना–

वैदिक काल में राजा का कर्त्तव्य था कृषि का विकास करना व उसकी समृद्धि के लिए प्रयत्नशील होना। कृषि के लिए सुचारु सिंचाई व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है। एक स्थान पर राजा को निर्देश दिया गया है कि हे राजन्, तू जल की नालियों अथवा नहरों का प्रसार कर। अन्यत्र कूपों की व्यवस्था करने का निर्देश भी मिलता है।[३] अतः कृषिकार्य की पूर्णरूपेण व्यवस्था करना वैदिक राजा का कर्त्तव्य था जिससे प्रजाजन अपने कर्त्तव्य कर्म करने में असुविधा अनुभव न करे और कृषिकार्य को सम्यक् न कर पाने के कारण अनैतिक कार्यों, चोरी, लूट-मार आदि की ओर उन्मुख न हो जाए।

---

१. आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्रवा आवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदा।
आवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्म्मा। वा०सं० १०/९.

२. ता ई० विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्राददतिष्ठन्। ऋग्० १०.१२४.८.

३. वा० सं० १६/३७-३८.

वेद में भौतिक सुख ऐश्वर्य की ओर पूर्ण ध्यान दिया गया है। वैदिक आर्य अपने आराध्य से धन, अन्न, पशु और पुत्र-पौत्रों की सदा कामना किया करता था जिनसे भौतिक सुख की प्राप्ति कर सके। अथर्ववेद के एक मन्त्र में आयु, बल, प्राण, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मतेज के लिए प्रार्थना की गई है।[१] ये सभी वस्तुएं भौतिक सुख में सहायक सिद्ध होती हैं। यद्यपि इनकी प्राप्ति के लिए प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं ही प्रयत्न करना पड़ता है तथापि राजा का भी यह कर्त्तव्य होता है कि वह राज्य में सुख की प्रचुर सामग्री के उत्पादन, उसकी अभिवृद्धि तथा उसके उपयोग की सुदृढ़ एवं स्वस्थ व्यवस्था करे। संभवतः इसी कर्त्तव्य की ओर स्मरण दिलाते हुए वेद में कहा गया है कि "तुम्हें भौतिक सुखं-समृद्धि के लिए राजपद पर अधिष्ठित कर रहे हैं।[२] यह स्पष्ट है कि सुरक्षित तथा सुव्यवस्थित राज्यव्यवस्था में ही यह सब संभव है।

प्रजा का कल्याण–

अपने राज्य में रहने वाली प्रजा का सर्वविध कल्याण करना भी राजा का कर्त्तव्य होता है। वैदिक राजा अपने अधीन प्रजा के श्रेय और प्रेय मार्गों को उसके लिए प्रशस्त करने का यथासम्भव प्रयत्न करता रहता था।[३] राज्य के निवासियों का कल्याण हो इसके लिए सम्यक् व्यवस्था करना वैदिक राजा का महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य निर्धारित किया गया था। वेद में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि प्रस्तावित राजन्, यह राष्ट्र तुझे दिया गया। हम तुझे कृषि के लिए, सुख समृद्धि के लिए, पोषण हेतु और सार्वजनिक कल्याण हेतु इस राज्य में राज्पद के लिए अभिषिक्त कर रहे हैं।[४]

अग्नि को सम्बोधित एक अन्य मन्त्र में भी इसी प्रकार उसे राजा कहकर प्रजा के मंगल की कामना की गई है– "हे अग्निरूप राजन्। तू हम प्रजाओं के लिए मंगलकारी होकर इस राष्ट्र में रहने वाली प्रजा का कल्याण करके अपने राजासन पर आसीन हो और इसके पश्चात् राजधर्म में रत हो।[५] इसी प्रकार एक अन्य वैदिक

---

१. स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्।
मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्। अथर्व० १९/७१/१.

२. अस्मे वो अस्तिवन्द्रियमस्मे नृम्णमुत क्रतुरस्मे वचांसिसंतु वः। नमो मात्रे पृथिव्यै, नमो मात्रे पृथिव्या इयं ते राज्यन्तासियमनो ध्रुवोऽसिवरुणः। कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।।
वा०स० ९/२२.

३. वही– ।

४. वही– ।

५. शिवो भूत्वा मह्यमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम्।
शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वां योनिमिहासदः।
वा०स०, १२/१७, तै०सं० ४/१/९/३. २/१/५., मैं०सं० २/७/८., काठक संहिता १६/८.

उल्लेख से भी राजा द्वारा प्रजा के कल्याण रूप कर्त्तव्य का संकेत मिलता है– " हे उत्तमकीर्ति वाले, उत्तमकल्याण युक्त सत्यप्रकाशक राजन। तू श्रेष्ठ प्रजापालक है, सार्वजनिक मंगलकार्यों के सम्पादन हेतु तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूँ।[१] अभिप्राय यही है कि वैदिक आर्य ने अपने राजा को सत्य का प्रकाश करने वाला होकर ही प्रजा का पालन करने वाला कहा है। जो स्वयं सत्य का प्रकाश करने वाला होगा वह प्रजाजनों में सत्य असत्य को अवश्य महत्त्व देगा। अतः वैदिक आर्यों ने अपने राजा का यह कर्त्तव्य निर्धारित किया कि वह प्रजा जनों के सत्य असत्य का ध्यान रखते हुए उनके कल्याण का प्रयत्न करें। ऋग्वेद में जहाँ यह कथन है कि राजा वरुण लोगों के सत्य और असत्यों को देखते हुए उनके मध्य घूमते हैं।[२] वहाँ यह स्पष्ट होता है कि वैदिक आर्य ऋषि ने माना था कि राजा का यह कर्त्तव्य है कि राजा सामान्य वेश में तथा दूतों के द्वारा भी प्रजाओं के मध्य जाकर उनकी सत्यासत्य सम्बन्धी भावनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करे। प्रजा के कल्याण करने का कर्त्तव्य ऋग्वेद में इस प्रकार भी उल्लिखित है– जैसे प्रजा-वत्सल राजा प्रजा के हित के कार्य करते हैं, वैसे ही अमर अग्नि हमारे हितकर कार्य का सम्पादन करे।[३]

ऋग्वेद में एक स्थान पर राजा का कथन है "हम क्षत्रिय जात्युत्पन्न सम्पूर्ण मनुष्यों के अधीश हैं हमारा राज्य दो प्रकार का है, सम्पूर्ण देवगण जैसे हमारे हैं, वैसे ही सारी प्रजा भी हमारी है।"[४]

राज्याभिषेक के समय राजा को सर्वविध कल्याण के कर्त्तव्य का स्मरण कराया जाता था- हे प्रस्तावित राजन्! तेज की प्राप्ति हेतु, ब्रह्मतेज की प्राप्ति हेतु, अविद्या और रोग निवारण हेतु, पराक्रम के लिए, अन्नादि की वृद्धि के लिए, विद्युत के समान बल के लिए राज्यश्री के लिए, ऐसे सभी सार्वजनिक कल्याण के लिए तेरा राज्याभिषेक कर रहा हूँ।"

वैदिक आर्यों ने सदा विद्वान् राजा को ही महत्त्व दिया है। राज्याभिषेक की प्रक्रिया में वेद ने स्पष्ट किया है कि प्रजा में ज्ञान-प्रसार करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है– "इस राजपद के लिए तेरा अभिषेक कर रहा हूँ, तू इस राज्य में ज्ञान का प्रसार कर।"[६]

---

१. वा० स० २०/४३.

२. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। ऋग्० ७/४९/३. अथर्व० १/३३/२ तै०सं० ५/६/१/१. मै० सं० २/१३/१.

३. अद्रौचिदस्मा अन्तर्दुरोणे, विशां न विश्वो, अमृतः स्वाधीः। ऋग्० १/७०/२.

४. मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः। ऋग्० ४/४२/१.

५. अश्विनोभैषज्येन तेजसे ब्रह्मवर्चसायाभिषिञ्चामिसरस्वत्यै भैषज्येन वीर्यायान्नाद्यायाभिषिञ्चा-मीन्द्रस्येन्द्रियेण बलाय श्रियै यशसेऽभिषिञ्चामि। वा० सं० २०/३.

६. सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे। वा०स० २०/३३.

राजा को अपनी प्रजा की हिंसा का वेद विरोध करता है– "हे राजन्! तू सर्प (सर्प के समान क्रूर) मत बन और न ही व्याघ्र (निर्दयी हिंसक) बन। (अपितु) तू प्रजा के सुखों का विस्तार करने वाला बन और सत्य मार्ग का अनुसरण कर।[१]

सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं में राजा का प्रजा के प्रति कर्त्तव्यपरायण होना स्पष्ट किया गया है। उसे उसी प्रकार का व्यवहार अपनी प्रजा से करना चाहिए जैसे माता अपने शिशु के प्रति करती है।

माता अपने शिशु की हर प्रकार से कल्याण-कामना करती है, शत्रुओं से शिशु की रक्षा करती है, विपत्तियों से बालक की रक्षा की देवता से प्रार्थना करती है, उसकी ज्ञानवृद्धि में सहायक बनती है, उसका पालन पोषण, भरण-पोषण का ध्यान रखती है, उसके प्रति उदारता की दृष्टि रखती है। वेदों में भी राजा को इसी प्रकार होने का निर्देश दिया गया है वेदों के एक मन्त्र से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा और प्रजा के मध्य मातृशिशुवत् व्यवहार होना चाहिए।[२]

एक ऋग्वेदीय मन्त्र में जहाँ अश्विनी देव से यह प्रार्थना की गई है कि "हे विविधकर्मा, नेता और पराक्रमशाली अश्विनद्वय आदरयुक्त बुद्धि के साथ हमारी बात सुनो।[३] यह संकेतित होता है कि नेता अथवा राजा को अपने प्रजाजनों के वचनों को ध्यान पूर्वक सुनना चाहिए।

राजा को उदार और दानशील होना चाहिए ऐसा भी वैदिक मन्त्रों से स्पष्ट होता है क्योंकि एक मन्त्र में दानशील राजा की अश्विनी कुमारों द्वारा सहायता का वर्णन है– "अश्विनीकुमारद्वय, तुमने दानशील राजा पुंजवन-पुत्र सुदास के लिए लड़ाई में धन को धारण और अन्न को वहन किया था।"[४]

धर्मशास्त्र और राजा के कर्त्तव्य–

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं कि धर्मशास्त्रों में राजा के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि राजा भले ही बालक हो किन्तु उसे एक मर्त्य मनुष्य के रूप में समझना भारी भूल है। वह इस मर्त्य शरीर में ईश्वर है। राजा के पक्ष में भाग्य और विजय के देवता वास करते हैं और उसके क्रोध में यम और मृत्यु का निवास है। वह देवताओं के नित्य अंश से निर्मित होने के कारण अपने प्रभाव से अग्नि, वायु,

---

१. माहिर्भूर्मा पृदाकुः। वही, ६/१२, ८/२३.

२. पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपां शिशुर्मातृतमास्वन्तः।
वा०स० १०/७, तै०सं० १/८/१२/१., मै०सं० २/६/८. काठकसंहिता १५/६.

३. अश्विना पुरुदंससा नरा शवीरया धिया धिष्णया वनतं गिरः। ऋग्० १/३/२.

४. सुदासे दस्रावसु बिभ्रता रथे पृक्षो वहतमश्विना।
रयिं समुद्रादुत वा दिवस्पर्यस्मे धत्तं पुरुस्पृहम्। ऋग्० १/४७/६.

सूर्य, चन्द्र, धर्मराज, कुबेर और महेन्द्र रूप हैं।[१] अतः राजा को इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण, चन्द्रमा, अग्नि, तथा पृथ्वी के तेज का आचरण करना चाहिए। जिस प्रकार इन्द्र श्रावण आदि चार मासों में जल बरसाता है उसी प्रकार इन्द्र के व्रत का आचरण करता हुआ राजा अपने राज्य में आये हुए साधु महात्माओं की इच्छा को पूरा करे। जिस प्रकार सूर्य अगहन आदि आठ मासों में अपने किरणों द्वारा जल का हरण (सुखाता) करता है उसी प्रकार राजा राज्य से सदा कर (टैक्स) लेता रहे। जिस प्रकार वायु सब प्राणियों में प्रवेश कर विचरण करता रहता है उसी प्रकार राजा को अपने गुप्तचरों द्वारा सर्वत्र प्रवेश कर विचरण करना चाहिए।[२] जिस प्रकार यमराज समय आने पर प्रिय व अप्रिय सभी को मार डालता है उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह प्रिय अप्रिय (अपने-पराये) का भेद किये बिना अपराध करने पर सभी को समभाव से दण्ड दे। जिस प्रकार बंधन योग्य मनुष्य को वरुण अपने पाश में बांध लेता है उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह पापियों एवं अपराधियों को तब तक बंधन में रखे जब तक वह सन्मार्ग पर न आ जाए। जिस प्रकार परिपूर्ण चन्द्रमा को देखकर मनुष्य हर्षित होते हैं उसी प्रकार राजा को इतना आह्लादकारी होना चाहिए जिससे उसकी प्रजा और अमात्य उसे देखकर सदा हर्षित होते रहे। जिस प्रकार अग्नि अपने प्रचण्ड तेज में सबको नष्ट कर डालती है उसी प्रकार राजा को पापियों और अपराधियों को दण्डित करने में प्रचण्ड और असह्य तेज वाला होना चाहिए तथा प्रतिकूल व्यवहार करने वाले मंत्री आदि के वध करने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार पृथ्वी सब प्राणियों को समान भाव से धारण करती हैं उसी प्रकार से राजा समस्त प्रजाओं का समभाव से पालन करे। राजा को सदा आलस्यहीन होकर इन उपायों से तथा अपने राज्य में रहने वाले चोरों से तथा दूसरे राज्य में रहते हुए अपने राज्य में आकर चोरी करने वाले चोरों से देश की रक्षा करनी चाहिए तथा चोरों का निग्रह (दण्डित) करना चाहिए।[३] राजा को चाहिए कि प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुसाम के ज्ञाता तथा नीतिशास्त्र के विद्वान् ब्राह्मणों की सेवा करे और उनके शासन में रहे तथा उनके निर्देशों के अनुसार कार्य करे। राजा को ज्ञान तथा तप से वृद्ध वेद के ज्ञाता शुद्ध हृदय वाले ब्राह्मणों की नित्य सेवा करनी चाहिए। उन ब्राह्मणों से उसे विनय की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि विनययुक्त राजा का विनाश नहीं होता।

---

१. सोऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽर्कः सोमः स धर्मराट्।
स कुबेरः स वरुणः स महेन्द्रः प्रभावतः।
बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति। मनु० ७/७-८

२. राजा पश्यति चारैः– पंचतन्त्र हितोपदेश

३. मनु०, ९/३०३-३१२.

राजा को चाहिए कि वह सदा त्रयी विद्या-दण्डनीति विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या तथा वार्ता विद्या का ज्ञान प्राप्त करता रहे। राजा को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के लिए सदा प्रयत्नशील रहे क्योंकि जितेन्द्रिय राजा प्रजाओं को वश में रखने के लिए समर्थ होता है राजा को चाहिए कि वह कामजन्य दस तथा क्रोध जन्य आठ और अन्य दुःखदायी व्यसनों को प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दें। कामजन्य दस व्यसनों में मृगया, जुआ, दिन में सोना, पराये की निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद, नाच गाने में अत्यासक्ति तथा व्यर्थ भ्रमण की गणना की गयी है। क्रोधजन्य आठ व्यसनों में चुगलखोरी, दुःसाहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया, अर्थदोष, कठोर वचन तथा कठोर दण्ड की गणना की जाती है। उक्त दोनों व्यसनों का मूल लोभ को माना गया है इसलिए राजा को चाहिए वह लोभ का परित्याग करे।[१]

राजा के लिए यह बार-बार निर्देश किया गया है कि वह उक्त प्रकार के सभी व्यसनों से अपने को बचाये, क्योंकि व्यसन और मृत्यु में व्यसन अधिक कष्टदायी होता है। व्यसनी व्यक्ति मरकर नरकों में जाता है किन्तु अव्यसनी राजा मरकर स्वर्ग में जाता है।[२] राजा को चाहिए कि वह अप्राप्त को पाने की इच्छा करे, प्राप्त वस्तुओं की यत्नपूर्वक रक्षा करे। रक्षा की हुई वस्तुओं को उचित रूप में बढ़ावे और बढ़ाए हुए द्रव्य आदि को सत्पात्रों को दे।[३]

उक्त निर्देशों से यह स्पष्ट है कि राजा को अपने आप को कठोर आत्म नियंत्रण में प्रशिक्षित करना पड़ता था जिससे उसे राष्ट्र के कार्य सम्पादन की सही दृष्टि प्राप्त हो सके। वह अपने को वेदाध्ययन और ध्यान के द्वारा आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न करता था जिससे वह अपने कर्त्तव्यों का समुचित पालन कर सके।

उपर्युक्त कर्त्तव्यों के अतिरिक्त धर्मशास्त्रों में राजा के लिए कुछ मुख्य कर्त्तव्यों का भी निर्देश किया गया है। यथा प्रजारक्षण, वर्णाश्रमधर्मों के नियमों का पालन, दुष्टों को दण्ड देना व न्याय करना।

प्रजारक्षण—

प्रजा की रक्षा करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य है। महाभारत[४] के अनुसार सभी (सातों) राजशास्त्रप्रणेताओं ने राजा के लिए प्रजारक्षण को सबसे बड़ा धर्म स्वीकार

---

१. मनु० ७/३७-४१.

२. व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यद्योऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः। मनु०, ७/५३.

३. अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।
रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्।। मनु० ७/९९.

४. महा० शान्ति, ६८/१-४.

किया है। मनुस्मृति[१] का कहना है कि प्रजाओं का पालन करना राजा का श्रेष्ठ धर्म है और यदि राजा के राज्य करते रहने पर राज्य में प्रजा चोर व डाकू आदि से अपहृत होती हो तो वह राजा (अपना कर्त्तव्य पालन न करने के कारण) मरा हुआ ही होता है, जीवित नहीं क्योंकि वह राजा प्रजारक्षण रूप जीवित राजा के कार्यों को नहीं करता है। मनु का कहना है कि राजा को आक्रमण काल में प्रजा की रक्षा करते समय युद्ध क्षेत्र से नहीं भागना चाहिए क्योंकि युद्ध करते-करते मर जाने पर राजा को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[२] प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को धर्म का छठा भाग प्राप्त होता है व रक्षा न करने वाले राजा को अधर्म का छठा भाग मिलता है।

वसिष्ठ के अनुसार भी राजा का कर्त्तव्य है कि वह धर्म पूर्वक शासन करते हुए धन के षड़ भाग को ग्रहण करे।[३] गौतमधर्मसूत्र के अनुसार भी प्रजा को स्वधर्म में स्थापित करने वाला राजा धर्म के षड़ भाग का अधिकारी होता है यह कहा गया है।[४] परन्तु बौधायन के अनुसार यद्यपि राजा धन के छठे भाग का अधिकारी होता है परन्तु कभी-कभी इसमें अपवाद भी देखने को मिलता है। समुद्र से प्राप्त होने वाले रत्न आदि द्रव्य के विषय में राजा दसवें भाग का अधिकारी होता है।[५]

यदि राजा चोर, लुटेरों का दमन करके प्रजा की रक्षा नहीं करता तो प्रजा में उसके प्रति विद्रोह उत्पन्न हो जाता है।[६] अपि च, राजा को चाहिए कि वह परस्त्री भोग में प्रवृत्त पुरुषों को दण्डों से छिन्न-भिन्न करके देश से निकाल दे क्योंकि इससे वर्णसङ्करता उत्पन्न होती है। वर्णसङ्कर सन्तान वाला देश नष्ट हो जाता है इसके विपरीत जिस राजा के नगर में चोर नहीं होते परस्त्रीगामी नहीं होती, लुटेरे व मारपीट करने वाले नहीं होते वह राजा इन्द्रलोक का भागी होता है। सदाचारियों की रक्षा करने से लोक के कष्टकों को दण्ड देकर सुमार्ग पर लाने से तथा प्रजा पालन में तत्पर

---

१. क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम्।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।। मनु० ७/१४४, अपि च, द्रष्टव्य-
नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतः।
निर्वासिताप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया।। कालिदास, रघुवंश, १४/६७.

२. मनु० ७/८७-८९ अपि च, द्रष्टव्य, षड्भागभृतो राजा रक्षेत्प्रजाम्। १/१८/१.

३. राजा तु धर्मेणाऽनुशासन् षष्ठं धनस्य हरेदन्यत्र ब्राह्मणात्।
बौधायन ध० सू० १/१८/१ में उद्धृत।

४. चलतश्चैतान् स्वधर्मे स्थापयेत्। धर्मस्य ह्यंशभाग्भवति।
गौ० ध०सू० २/२/१०-११.

५. सामुद्रश्शुल्कः। वरं रूपमुद्धृत्य दशपणं शतम्।
बौधायन ध०सू० १/१८/१३-१४.

६. सर्वतो धर्मषड्भागो राज्ञो भवति रक्षतः।
अधर्मादपि षड्भागो भवत्यस्य ह्यरक्षतः।। मनु०, ८/३०४.

होने से राजा स्वर्ग को जाता है।[१] अत्रि के अनुसार प्रजा का ठीक धर्म से पालन करने पर जिस पुण्य को राजा पाता है उस पुण्य को हजारों यज्ञ करने से भी ब्राह्मण नहीं पाते।[२]

कौटिल्य ने राजा के समक्ष बहुत बड़ा आदर्श रखा है। उनका कहना है कि "प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है, प्रजा के हित में ही राजा का हित है।[३] कौटिल्य ने राजा की तुलना यज्ञ करने वाले से की है। राजा का सदैव क्रियाशील रहना ही व्रत है, शासनकार्य के लिए अनुशासन पर चलना ही यज्ञ है, उसकी निष्पक्षता ही यज्ञ दक्षिणा है, उसका राज्य अभिषेक ही यज्ञ करने वाले का स्थान है।

बृहस्पति के अनुसार "प्रजारक्षण" से तात्पर्य है कि चोरों, डाकुओं आदि के भीतरी आक्रमणों तथा बाहरी शत्रुओं से प्रजा के प्राण एवं सम्पत्ति की रक्षा करना।[४]

याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को शास्त्रोक्त विधान से प्रजा का पालन करना चाहिए क्योंकि न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का छठा भाग प्राप्त करता है अतः भूमि आदि के दान से उत्पन्न पुण्यफल से प्रजा पालन का फल अधिक होता है।[५] अतः राजा को प्रजा के प्रति पितृतुल्य व्यवहार करना चाहिए।[६] राजा को चाहिए कि वह लुटेरों, चोरों, ऐन्द्रजालिक आदि धूर्तो एवं दुस्साहसी डाकुओं आदि से पीड़ित प्रजा की रक्षा करे और विशेषतया कायस्थों (लेखकों एवं गणकों) से पीड़ित व्यक्तियों की रक्षा करे।[७] राजा द्वारा अरक्षित प्रजा चोरी आदि जो कुछ भी पाप

---

१. रक्षणादार्यवृत्तानां कण्टकानां च शोधनात् ।
नरेन्द्रास्त्रिदिवं यान्ति प्रजापालनतत्पराः । मनु० ९/२५३.

२. यत्प्रजापालने पुण्यं प्राप्नुवन्तीह पार्थिवाः ।
न तु क्रतुसहस्रेण प्राप्नुवन्ति द्विजोत्तमाः। अत्रिस्मृति, २९.

३. प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्। कौ०अ० १/१९.

४. तत्प्रजापालनं प्रोक्तं त्रिविध न्यायवेदिभिः। परचक्राच्चौरभ्याद् बलिनोऽन्यायवर्तिनः।।
परानीकस्तेनभयमुपायैः शमयेन्नृपः। बलवत्परिभूतानां प्रत्यहं न्यायदर्शनैः। बृहस्पतिः, राजनीतिप्रकाश द्वारा उद्धृत पृ० २५४-२५५.

५. पुण्यात्षड्भागमादत्ते न्यायेन परिपालयन्।
सर्वदानाधिकं यस्मात्प्रजानां परिपालनम्। याज्ञ० १/३३५.

६. प्रजासु यथा पिता तथैव स्यात् "इति" वही-- मिताक्षरा।
अपि च, देखिए, रामायण, ३/६/११.

७. चाटतस्करदुर्वत्तमहासाहसिकादिभिः।
पीडयमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः। याज्ञ०, १/३३६.

करती है उनमें से आधा राजा का हो जाता है क्योंकि राजा रक्षा करने के लिए ही प्रजाओं से कर लेता है।[१]

गौतमधर्मसूत्र के अनुसार राजा को साधुकारी व साधुवादी होना चाहिए। साधुकारी से अभिप्राय है कि राजा को शास्त्र के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए व साधुवादी से अभिप्राय है कि उसे व्यवहारकाल (न्याय करते समय) में स्वपक्ष व पर पक्ष में समानता करनी चाहिए।[२] अतः राजा को चाहिए कि वह प्रजा की यत्नपूर्वक रक्षा करे। वर्णों एवं आश्रमों की शास्त्रों के अनुसार (न्यायपूर्वक) रक्षा करे तथा अपने अपने धर्म (कानून) का पालन न करने वालों का निग्रह करके उन्हें फिर से अपने मार्ग पर स्थापित करे।[३] वसिष्ठ का भी ऐसा ही मत है। उनके अनुसार राजा के लिए रक्षण कार्य जीवन पर्यन्त चलने वाला एक सत्र है। जिसमें उसे भय एवं मृदुता छोड़ देनी चाहिए।[४]

आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी वर्णाश्रम व्यवस्था बनाये रखना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य कहा गया है जिस राजा के राज्य में चोरों का भय नहीं होता वह "क्षेमकृत" कहा गया है राजा यदि चोरों से ब्राह्मणों की सम्पत्ति बचाते हुए प्राण भी दे दे तो यह उसका "आत्मयूप" यज्ञ कहा गया है।[५] प्रजा की रक्षा के लिए राजा को ग्रामों और नगरों में उच्च वर्ण के सात्विक रक्षक नियुक्त करने चाहिए। जिनके द्वारा वह प्रजा से कर भी वसूल करे। आपस्तम्ब ने श्रोत्रिय, विद्यार्थी, तपस्वी, विकलांग लोगों को करमुक्त माना है। आपस्तम्ब ने राजधानी में राजा के भवन का प्रकार भी वर्णन किया है। उनमें एक "आमन्त्रण" नाम का आवसथ (महल) होना चाहिए जहाँ श्रोत्रियादि अतिथि ठहरे रहें। नगर में दक्षिण की ओर "सभा नामक धूतस्थान बनवाया जाय जहाँ से नियमित आय राजकोष में जमा हो। वध, चोरी, दूसरे की भूमि हड़पने जैसे अपराध में राजा मृत्युदण्ड देवे। दण्डनीय को दण्ड न देने पर वह पाप राजा को लगता है।

---

१. अरक्ष्यमाणाः कुर्वन्ति यत्किञ्चित्किल्विषं प्रजाः।
तस्मात्तु नृपतेरर्धं यस्मात् गृह्णात्यसौ करान् ।। वही, १/३३७.

२. साधुकारी साधुवादी। गौ० ध० सू० २/२/२.
अपि च, समः प्रजासु स्यात्। वही– २/२/५.
हितमासां कुर्वीत। वही– २/२/६.

३. वर्णानाश्रमांश्च न्यायतोऽभिरक्षेत्। चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्। गौ० ध०सू० २/२/९-१०.

४. क. स्वधर्मो राज्ञः पालनं भूतानां तस्यानुष्ठानात्सिद्धिः।
भयकारुण्यहानं जरामर्यं वा एतत्सत्रमाहुर्विद्वांसः । वसिष्ठ० १९/१-२.
ख. देशधर्मजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णान्स्वधर्मे स्थापयेत्। तेष्वपचरत्सु दण्डं धारयेत। वही, १९/७-८.

५. दक्षिणाद्द्वारं पुरि वेश्म। तस्य पुरस्तादावसथस्तदामन्त्रणमित्याचक्षते। आ०ध०सू० २/२५/२-४.

शान्तिपर्व में कहा गया है कि जिस प्रकार सर्प बिल में छिपे हुए चूहों को निगल जाता है, उसी प्रकार यह पृथिवी ऐसे राजा एवं ब्राह्मण को निगल जाती है जो क्रम से बाहरी आक्रामकों से नहीं भिड़ते एवं विद्या ज्ञानवर्धन के लिए दूर-दूर नहीं जाते।[१] इस लिए राजा को प्रजा की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि यदि राजा रक्षा न ही करता तो बलवान पुरुष बलपूर्वक निर्बलों का धन हर लेते। व लोग अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार परम आग्रह करके भी रक्षा करने में समर्थ न होते। कोई भी "यह वस्तु मेरी है" ऐसा नही समझ सकते। स्त्री, पुत्र अन्न आदि खाने की चीज अथवा दूसरी किसी वस्तुओं में भी किसी का कुछ भी वश न रहता।

राजा के रक्षा न करने से समस्त धन सब तरह से नष्ट हो जाता। यदि राजा पालन न करता तो पापी व चोर लोग सबके वस्त्र, आभूषण, सवारी तथा दूसरे अनेक भाँति के रत्नों को हर लेते। यदि राजा पालन न करता तो धर्मचारियों के ऊपर बहुधा शस्त्र चलते और सब कोई अधर्म का आसरा ग्रहण करते।[३] रक्षा न करने से सब कोई वृद्ध माता-पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु जनों को क्लेश देते अथवा उनका नाश करने में भी संकुचित न होते। यदि राजा रक्षा न करता तो सब ही असमय में ही मृत्यु मुख में पतित होते, सब लोग ही डाकुओं के वश में हो जाते तथा सभी घोर नरक में पड़ जाते। राजा के रक्षा कर्त्तव्य को पूरा न करने पर धर्म डूब जाता और वेदादि लुप्त हो जाते। और सभी लोग भयभीत व व्याकुल होकर हाहाकार करके चेतना-रहित की भाँति क्षणभर में नष्ट हो जाते। राजा का शासन न होने पर चोर लोग हाथ में स्थित धन को भी हरण कर लेते, चारों ओर अनीति फैल जाती व वर्णसङ्कर जाति बढ़ती जाती।[४]

लेकिन जब राजा यथारीति से प्रजा की रक्षा करता है तो कोई एक भी दूसरे की हिंसा नहीं करता व सभी धर्म-मार्ग से ही गमन करते हैं। राजा के उत्तम शासन करने पर ही वेदों की रक्षा होती है।

पक्षपातरहित न्याय करना–

राजा के कर्त्तव्यों में दूसरा मुख्य कर्त्तव्य है कि वह प्रजा के साथ न्याय करे।

---

१. प्राप्तनिमित्ते दण्डाकर्मणि राजानमेनस्स्पृशति। आ०ध०सू० २/२८/१४.

२. भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव। राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्।।
शान्ति० २३/१५. में बृहस्पति की उक्ति उद्धृत।

३. यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च। हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्। ···· अधर्मः प्रगृहीतः स्याद्यदि राजा न पालयेत। शान्ति०, ६८/१६-१७.

४. अनयाः संप्रवर्तेरन्भवेद्वै वर्णसङ्करः।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्। शान्ति०, ६८/३०.

गौतम के अनुसार राजा को सम्पूर्ण प्रजा के साथ पक्षपातरहित होकर न्याय करना चाहिए।[१] क्योंकि न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने पर राजा प्रजाओं के पुण्य का छठा भाग प्राप्त करता है। कामन्दक के अनुसार धर्मानुसार भली प्रकार पक्षपात रहित होकर पुत्र के समान प्रजापालन में तत्पर शत्रुनाशक राजा को प्रजापति के समान प्रजा सर्वभाव से सम्मान करती है।[२] यदि राजा न्यायपरायण होता है तो वह अपने को और प्रजा को भी त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) का साधन करा सकता है अन्यथा अवश्य ही त्रिवर्ग का नाशक होता है।[३] अतः न्यायपूर्वक (धर्मपूर्वक) ही राजा को अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए। धर्म से ही राज्य की वृद्धि होती है व अर्थ (लक्ष्मी) की प्राप्ति होती है।[४] कामन्दक के अनुसार न्याय द्वारा धन का उपार्जन, उसकी रक्षा और बढ़ाना तथा सत्पात्र में उसका निक्षेप यह चार प्रकार का राजा का कर्त्तव्य है। इसके अतिरिक्त विद्याओं को देखकर अपने वर्ण और आश्रम की रक्षा, शुद्ध शास्त्रों का ग्रहण, युद्ध मार्ग का शिक्षण, युद्ध में कुशलता, माया से पराये चित्त में प्रवेश कर जाना, शठों के प्रति शठता, महात्माओं में सुहृद का अनुष्ठान, मन्त्र का उद्योग, उसकी फिर अनुमति लेना, उसकी रक्षा, स्वास्थ्य, साम दाम का विचार, भेद दण्ड का साधन, अध्यक्ष और सेनाओं का शासन, मंत्री, प्रधान अमात्य और पुरोहितों के प्रचार कर्म का भली भांति ज्ञान होना, दुष्टों को दुष्टकर्म से रोकना, आये गये का ज्ञान होना, दूतों के भेजने का विधान, प्रकृतियों का व्यसन, क्रोध की शान्ति, गुरुओं के अनुकूलवर्तना, पूज्यजनों का पूजन करना, धर्मासन पर स्थिति, राज्य कण्टकों का शोधन, पुत्र, स्त्री आदि की रक्षा, बंधुजनों का ग्रहण, अपनी वृद्धि और अपनी पवित्र वृत्तियों का वर्ताव, असत्पुरुषों को क्लेशित करना, सत्पुरुषों की रक्षा करना, किसी प्राणि की हिंसा न करना, और अधर्म का त्याग करना आदि राजा के कर्त्तव्य है।[५]

प्रजारक्षण, न्याय करना, आदि राजा के कर्त्तव्यों के अतिरिक्त कृषि कर्म के प्रति भी राजा का कर्त्तव्य कहा गया है। सभापर्व[६] में राजा से कहा गया है कि वह राज्य के विभिन्न भागों में जलपूर्ण तडाग बनवाये और यह देखे कि कृषि

---

१. गौ०ध०सू० २/२/५.

२. धार्मिकं पालनपरं सम्यक् परपुरञ्जयम्।
राजानमभिमन्येते प्रजापतिमिव प्रजा।। का०नी०सा० १/११.

३. न्यायप्रवृत्तो नृपतिरात्मानमपि च प्रजाः
त्रिवर्गेणोपसन्धत्ते निहन्ति ध्रुवमन्यथा। वही, १/१३.

४. तस्माद्धर्मं पुरस्कृत्य यतेतार्थाय पार्थिवः।
धर्मेण वर्द्धते राज्यं तस्य स्वादु फलं श्रियः। का० नी० सा० १/१५.

५. का०नी०सा० १३/४१-५८.

६. सभापर्व, ५/७७.

केवल वर्षा जल पर ही निर्भर न रहे। शुक्रनीति सार[१] के अनुसार जल की समुचित व्यवस्था करना राजा का परम कर्त्तव्य था। यथा कूप, सीढ़ियों वाले जलाशय, तालाब, झीलें आदि खुदवाना।

राजा के कर्त्तव्यों में राजा का एक (नापतोल के बटखरों की जाँच) विशिष्ट कर्त्तव्य था– यह देखना कि उचित मान के नाप-तोल के बटखरे आदि प्रयोग में लाये जाते हैं या नहीं। कौटिल्य ने नाप-तोल के बटखरों आदि के अध्यक्ष की चर्चा की है।[२] नाप-तोल के बाटों की निगरानी करना इसलिए आवश्यक था ताकि गृहस्थों को धोखा न दिया जा सके। याज्ञवल्क्य ने तो बटखरों में धोखा करने वालों के लिए कठिनातिकठिन दण्ड की व्यवस्था भी की है।[३] उनके अनुसार जो तराजु से तोलने, राजा की आज्ञा का उल्लंघन, मापने के बटखरों और मुद्रा से चिह्नित सिक्कों के विषय में बेईमानी करता है तो उसे उत्तम साहस का दण्ड देना चाहिए। अपि च सिक्कों की परीक्षा करने वालों में यदि कोई खोटे सिक्के को खरा व खरे सिक्के को खोटा कहता है तो उसे उत्तम साहस[४] का दण्ड देना चाहिए।[५]

राजा के अन्य कर्त्तव्यों में एक कर्त्तव्य था चोरी न होने देना। केकय के राजा अश्वपति के राज्य में न कोई चोर था, न कोई कृपण व्यक्ति था और न ही कोई शराबी।[६] आपस्तम्बधर्मसूत्र का कथन है कि ग्रामों और नगरों में प्रजा की रक्षा के लिए राजा को पवित्र आचरण वाला, सत्य पर डटे रहने वाले पुरुषों की नियुक्ति करनी चाहिए। इन राजकर्मचारियों को एक योजन तक चारों ओर से नगर की रक्षा करनी चाहिए, तथा एक कोस तक ग्रामों की रक्षा करनी चाहिए। रक्षा सीमा के भीतर से किसी भी चीज की चोरी होने पर उसकी क्षतिपूर्ति इन कर्मचारियों को ही करनी पड़ेगी।[७]

---

१. शुक्र० ४/४/६०.

२. पौतवाध्यक्षः पौतवकर्मान्तान् कारयेत्। कौ०अ० २/१९.

३. चातुर्मासिकं प्राति वेधनिकं कारयेत्।
अप्रतिविद्धस्यात्ययः सपादः सप्तविंशतिपणः।
प्रातिवेद्यनिकं काकणिकमहरहः पौतवाध्यक्षायदधुः। कौ० अ०, २/१९.

४. व्यापादो विषशस्त्राद्यैः परदाराभिमर्शनम्।
प्राणोपरोधि यच्चान्यदुक्तमुत्तमसाहसम्। .... उत्तमे साहसे दण्डः सहस्रावर इष्यते। वधः सर्वस्वहरणं पुरान्निर्वासनाङ्कने। तदङ्गच्छेद इत्युक्तो दण्ड उत्तमसाहसे।।"
याज्ञ०, २/२३० पर मिताक्षरा टीका।

५. तुलाशासनमानानां कूटकृन्नाणकस्य च एभिश्च व्यवहर्त्ता यः स दाप्यो दममुत्तमम्।
अकूटं कूटकं ब्रूते कूटं यश्चाप्यकूटकम्।
स नाणकपरीक्षी तु दाप्य उत्तमसाहसम्। याज्ञ० २/२४०-२४१.

६. छान्दोग्योपनिषद्, ५/११/५.

७. सर्वतो योजनं नगरं तस्करेभ्यो रक्ष्यम्।
क्रोशो ग्रामेभ्यः। तत्र यन्मुष्यते तैस्तत्प्रतिदाप्यम्। गौ०ध०सू० २/२६/६-८.

चतुर्थ परिच्छेद

व्यवहार: स्वरूप व अर्थ

प्रजापालन (निष्पक्ष न्याय करना व दोषी को दण्ड देना) राजा का परम कर्त्तव्य है। मेधातिथि के अनुसार[१] लौकिक एवं पारलौकिक (अदृष्ट) कष्टों को दूर करना ही प्रजारक्षण है लेकिन प्रजापालन रुप कर्त्तव्य का पालन दुष्ट - निग्रह के बिना संभव नहीं है। व दुष्टों का निग्रह व्यवहार (न्याय) के बिना संभव नहीं होता है।[२] गौतमधर्म सूत्र[३] में भी दुष्टनिग्रह की आवश्यकता का उल्लेख मिलता है। अतः राजा को प्रतिदिन स्वयं व्यवहार को देखना चाहिए।[४] वसिष्ठ ने निष्पक्ष व्यवहार की महत्ता पर बल दिया है।[५] मनु के अनुसार मुकद्दमों को देखने के इच्छुक राजा को ब्राह्मणों एवं मन्त्रियों के साथ सभा में प्रवेश करके स्वयं झगड़ों के कारणों को तय करना चाहिए।[६]

कौटिल्य का मत है कि राजा दिन व रात्रि को आठ - आठ भागों में विभाजित करके दिन के दूसरे प्रहर में पुरवासियों व जनपदवासियों के कार्यों का निरीक्षण करे।[७] आचार्य शुक्र मध्याह्न काल में मुकद्दमों को देखने की बात कहते हैं।[८]

मनु ने न्यायशासन को धर्म का प्रतीक माना है और कहा है कि न्याय होने पर धर्म के शरीर से उसे बेंधने वाला अधर्म नामक बाण निकल जाता है।[९] याज्ञवल्क्य के अनुसार सम्यक् व्यवहारदर्शन करने वाला राजा यज्ञ के समान फल का अधिकारी

---

१. मनु०, ८/१ पर टीका।

२. याज्ञ० २/१ पर मिताक्षरा टीका।

३. चलतश्चैतान्स्वधर्मे स्थापयेत्। गौ०ध०सू०, २/२/१०

४. व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृत्तोऽन्वहम्। याज्ञ०, १/३६०, व याज्ञ० २/१ पर मिताक्षरा टीका।

५. राजा मन्त्री वा सदः कार्याणि कुर्यात्।
द्वयोर्विवदमानयोः पक्षान्तरं न गच्छेत् ।। वासिष्ठ०, १६/२-३.

६. व्यवहारान्दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिव।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत्सभाम्।। मनु०, ८/१

७. द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत्। कौ०अ०, १/१८

८. न्यायान्पश्येत्तु मध्याह्ने पूर्वाह्ने स्मृतिदर्शनम्। शुक्रनीति, ४/५/५३

९. धर्मो विध्दस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते।
शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विध्दास्तत्र सभासदः। मनु०, ८/१२

होता है।[१] जबकि इसके विपरीत मनु के अनुसार निरपराध को दण्डित करने पर व अपराधी को छोड़ देने पर राजा पाप व निन्दा का भागी होता है।[२] आपस्तम्बधर्मसूत्र के अनुसार न्यायपूर्वक व्यवहारदर्शन करनेवाला राजा उभयलोकों को प्राप्त करता है।[३] जबकि वसिष्ठ ने अपराधी के छूट जाने पर राजा को एक दिन का तथा पुरोहित को तीन दिन का उपवास रखने की बात कही है। और यदि राजा निरपराधी को दण्डित करता है तो उसे तीन दिन का उपवास व पुरोहित को कृच्छ प्रायश्चित करने की बात कही है।[४] रामायण[५] एवं महाभारत में भी कहा गया है कि जो राजा आनन्दभोग में लिप्त रहता है और प्रजा के झगड़ों को नहीं निपटाता है वह नृग की भाँति दुःख भोगता है।[६] शुक्रनीति में भी ऐसा ही कहा गया है।[७] कौटिल्य के अनुसार राजा के दरबार में उपस्थित होने पर कार्यार्थियों को बेरोक-टोक प्रवेश की अनुमति होनी चाहिए अन्यथा राजा के समीपस्थ कर्मचारी उसके कार्यों में गड़बड़ी कर देते हैं।[८] इस प्रकार हम देखते हैं कि धर्मसूत्रों में उचित व्यवहार- दर्शन न करने पर राजा के लिए प्रायश्चित का विधान है जबकि स्मृतियों में प्रायश्चित विधान के विपरीत राजा को नरक का भागीदार बनाया है।

व्यवहार की आवश्यकता–

प्राचीनकाल में "व्यवहार की आवश्यकता क्यों हुई" इस विषय में धर्मशास्त्र कारों का मत है कि इस संसार में अतिप्राचीनकाल में स्वर्णयुग था परन्तु बाद में किसी कारणवश लोग दुराचारी हो गये, सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी व धर्म की अवनति

---

१. यो दण्डयान्दण्डयेद्राजा सम्यग्वध्यांश्च घातयेत्।
इष्टं स्यात्क्रतुभिस्तेन समाप्तवरदक्षिणैः।
इति सञ्चिन्त्य नृपतिः क्रतुतुल्य फलं पृथक्।
व्यवहारान्स्वयं पश्येत्सभ्यैः परिवृतोऽन्वहम्।। याज्ञ०, १/३५९-३६०

२. अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन्
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति। मनु० ८/१२८.

३. एवं वृत्तो राजोभौ लोकावभिजयति। आ०ध०सू०, २/११/४.

४. दण्डयोत्सर्गे राजैकरात्रमुपवसेत्। त्रिरात्रं पुरोहितः।
कृच्छ्रमदण्डयदण्डने पुरोहितः। त्रिरात्रं राजा ।। वासिष्ठ० १९/४०-४३

५. पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने-दिने।
संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः। रामायण, उत्तरकाण्ड, ५३/६.

६. अर्थिनामुपसन्नानां यस्तु नौपैति दर्शनम्।
सुखे प्रसक्तो नृपतिःस तप्येत नृगो यथा। महा०, अनु०, ६९/३८

७. पौरकार्याणि यो राजा न करोति सुखे स्थितः।
व्यक्तं स नरकं घोरे पच्यते नात्र संशयः। शुक्रनीति, ४/५/८

८. उपस्थानगतः कार्यार्थिनामद्वारासङ्गं कारयेत्।
दुर्दर्शो हि राजा कार्याकार्यविपर्यासमासन्नैः कार्यते। कौ०अ०, १/१८

होने लगी। ऐसी स्थिति में व्यवस्था स्थापित करने के लिए ही "व्यवहार" का प्रवर्तन हुआ।[१] मनु के अनुसार इस संसार में शुद्ध स्वभाव वाले मनुष्यों का मिलना दुर्लभ है। कामक्रोधादि के वशीभूत होने पर मनुष्यों में अराजकता का जन्म होता है। परस्पर कलह उत्पन्न होते हैं व इन कलहों को दूर करने के लिए ही व्यवहार की आवश्यकता होती है।[२] बृहस्पति के अनुसार मनुष्यों में धर्म की अवनति होने पर अर्थात् लोभव्द्वेषादि अभिभूत होने पर ही व्यवहार का जन्म हुआ।[३] बृहस्पति को स्पष्ट करते हुए नारद ने भी प्रायः इसी प्रकार का उल्लेख किया है। मनुप्रजापति ने जिस समय राज्य का भार ग्रहण किया उस समय मनुष्य धार्मिक एवं सत्यवादी थे एवं व्यवहार की आवश्यकता नहीं थी। परन्तु जब मनुष्यों में धर्म का ह्रास होने लगा तब व्यवहार का प्रवर्तन हुआ और राजा को विवादों को दूर करने वाला दण्डधर घोषित किया गया।[४] महाभारत में भी इसी बात को निम्न प्रकार से कहा गया है कि पहले न तो राज्य था, न राजा था और दण्ड एवं दण्डिक भी नहीं थे। सभी मनुष्य धर्म का पालन करने वाले थे। धर्मपालन से ही वे परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते थे।[५]

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार का जन्म तत्कालीन परिस्थितियों की ही उपज थी क्योंकि जब तक सभी व्यक्ति स्व-स्व अधिकारों का ही प्रयोग करते हैं तब तक अधिकार हनन न होने के कारण कलह भी नहीं उपजता है और कलह के न उपजने के कारण किसी प्रकार के व्यवहार (न्याय) की भी आवश्यकता नहीं होती है लेकिन उसके विपरीत रागव्द्वेषादि से अभिभूत होने

---

१. चतुष्पात्सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान्प्रति वर्तते।।
इतरेष्वागमाध्दर्मः पादशस्त्ववरोप्यते।
चौर्यकानृतमायाभिरधर्मश्चोपचीयते।।
महा०, शान्ति०, २३१/२३-२४/अपि च द्रष्टव्य, मनु० ८/८१-८२

२. सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते ।। मनु०, ७/२२

३. धर्मप्रधानाः पुरुषाः पूर्वमासन्नहिंसकाः ।
लोभद्वैषाभिभूतानां व्यवहारः प्रकीर्तितः ।।
स्मृतिचन्द्रिका, व्यवहारकाण्ड पृ० १ पर उदृधत।

४. मनुः प्रजापतिर्यस्मिन् काले राज्यमबूभुजत।
धर्मैकतानाः पुरुषास्तदासन् सत्यवादिनः।।
नष्टे धर्मे मनुष्येषु व्यवहारः प्रकल्पितः।
द्रष्टा च व्यवहाराणां राजा दण्डधरः कृतः।।
नारद, व्यवहारदर्शनविधि, श्लोक १-२

५. न वै राज्यं न राजाऽऽसीत् न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वाः रक्षन्ति स्म परस्परम्। महा०, शान्ति०, ५९/१४

पर व्यक्ति कलहासक्त होकर न्याय की पुकार करता है। परिणामस्वरूप व्यवहार का जन्म हुआ।

व्यवहार का स्वरुप–

धर्मशास्त्रों मे "व्यवहार" शब्द का अर्थ विभिन्न प्रकार से किया गया है। लेन-देन, झगड़ा या मुकद्दमा, लेन-देन में प्रविष्ट होने से सम्बन्धित न्याय (कानूनी) सामर्थ्य व किसी विषय का निश्चय करने के साधन रुप विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ यह शब्द अपनी महत्ता को दर्शाता है। विषय के प्रसंग से प्रस्तुत प्रबन्ध में "व्यवहार" शब्द झगड़ा या मुकद्दमा अर्थ में ही ग्रहण किया गया है लेकिन प्रसंगोचित अर्थ (झगड़ा या मुकद्दमा) को ग्रहण करने से पूर्व यह जानना भी आवश्यक है कि किन-किन धर्मशास्त्रकारों ने किन-किन अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया है।

महाभारत के उद्योगपर्व के अनुसार "व्यवहार" का सामान्य अर्थ लेन-देन (आदान-प्रदान) है।[१] यह अर्थ व्यवहारिक है और सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। क्योंकि वहाँ पर घृणी राजा, पुंश्चली स्त्री आदि का व्यवहार में निषेध किया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी उपर्युक्त अर्थ में ही "व्यवहार" शब्द का प्रयोग किया गया है।[२]

गौतमधर्मसूत्र[३] व वासिष्ठधर्मसूत्र[४] में "व्यवहार" शब्द को "लेन-देन" में प्रविष्ट होने से सम्बन्धित कानूनी सामर्थ्य" के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। वहाँ कहा गया है कि यदि किसी बालक के माता-पिता, रक्षक या हितैषी न हों तो राजा को चाहिए कि वह १६ वर्ष की आयु प्राप्ति तक बालक के धन की मूर्खों व अधार्मिकों से रक्षा करे। गौतमधर्मसूत्र में "व्यवहार" शब्द को एक अन्य अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है और वह है– "किसी विषय के निर्णय करने का साधन"। वहाँ कहा गया है कि प्रजापालन में तत्पर राजा के वेदादि (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद आदि) ही व्यवहार के साधन हैं अर्थात् वेदादि में जैसा कहा गया है तदनुसार ही राजा को व्यवहार (लोकमर्यादा) की स्थापना करनी चाहिए।[५]

---

१. घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्याः पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा। सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते।। महा, उद्योगपर्व, ३७/३०

२. दशमे व्यवहारे राद्धिः। व्यवहारो वाणिज्यम्, शास्त्रपरिज्ञानं वा। आ०ध०सू०, २/७-१६-१७। आपदि व्यवहरेत पण्यानामपण्यानि व्युदस्यन्। क्रयश्च विक्रयश्च व्यवहारः। वही, १/६/२०, ११. अक्रीतपण्यैर्व्यवहरेत। वही, १/६/२०/१६.

३. रक्ष्यं बालधनमा व्यवहारप्रापणात्। गौ०ध०सू०, २/१/४८। बालोऽप्राप्तषोडशवर्षः। तस्य यदि हितैषिणो रक्षकाश्च पित्रादयो न सन्ति सन्तो वा मूर्खाश्चाधार्मिकाश्च तदा तध्दनं राज्ञा रक्ष्यम्। आकुतः व्यवहारप्रापणात्। यावदसौ व्यवहारप्राप्तः षोडशवर्षो भवति। वही, मिताक्षरा।

४. राजबालधनानि। अप्राप्तव्यवहाराणाम्। प्राप्तकाले तु तद्यत्। वासिष्ठ०, १६/७-९.

५. तस्य च व्यवहारो वेदो धर्मशास्त्राण्यङ्गान्युपवेदाः पुराणम्। गौ०ध०सू०, २/२/१९.

"व्यवहार" शब्द का प्रयोग एक अन्य और महत्त्वपूर्ण अर्थ "झगड़ा या मुकद्दमा" में भी किया गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, महाभारत में व नारद ने भी इसी अर्थ में "व्यवहार" शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही "व्यवहार" का लक्षण नहीं किया है तथापि याज्ञवल्क्य "व्यवहार पद" का लक्षण देते हुए लिखा है कि धर्मशास्त्र तथा लोकाचार के विरुद्ध मार्ग से दूसरों के द्वारा सताया गया व्यक्ति जहाँ (न्याय के लिए) राजा के पास आवेदन करता है वह व्यवहार का पद (विषय) है।[१] यह सामान्य लक्षण है क्योंकि आगे चलकर जहाँ यह नियम किया गया है कि राजा अथवा राजपुरुष स्वयं व्यवहार का उत्पादन न करें अर्थात् बिना वादी के आवेदन के व्यवहार प्रवृत्त न करें वहीं कुछ अंशों में राजा या राजपुरुषों को अपराध निर्णय करने का आदेश है। व्यवहार प्रकरण के प्रारम्भ में मनु ने केवल इतना ही उल्लेख किया है कि व्यवहार के विचार की इच्छा वाला राजा ब्राह्मणों के तथा मंत्रज्ञ मंत्रियों के साथ विनीत होकर सभा में प्रवेश करे। यह व्यवहार का लक्षण नहीं है लेकिन इस कथन से "झगड़ा या मुकद्दमा" अर्थ ध्वनित होता है। कुल्लूकभट्ट मनु को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रजा की रक्षा के लिए, उनके आपसी विवाद से उत्पन्न पीड़ा को दूर करने के लिए ऋणादान आदि १८ प्रकार के विवादों में अर्थी व प्रत्यर्थी के विरोधी वाक्यों से उत्पन्न सन्देह को दूर करने वाला विचार ही व्यवहार है।[२] शुक्रनीति में भी "व्यवहार" शब्द का प्रयोग झगड़ा या मुकद्दमा अर्थ में किया गया है। वहाँ कहा गया है कि जिसके द्वारा सत्य और असत्य विषय का अच्छी तरह से विचार करने से प्रजा की धर्म में स्थिति तथा कार्यों की भली-भाँति सिद्धि होती है उसे "व्यवहार" कहते हैं।[३] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी के द्वारा पीड़ित किया जाता है जो कि धर्मशास्त्र व आचार के विरुद्ध है और पीड़ित व्यक्ति जब राजा के पास अपना कष्ट निवेदन करता है तो वही व्यवहार है अर्थात् वाद का कारण है।[४] मिताक्षरा

---

१. मनु०, ८/१-२,
व्यवहारान्नृपः पश्येद्विद्वद्भिर्ब्राह्मणैः सह।
धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः ।। याज्ञ०, २/१,
श्रोतुं चैव न्यसेद्राजा प्राज्ञान्सर्वार्थदर्शिनः।
व्यवहारेषु सततं तत्रराज्यं प्रतिष्ठितम् ।। महा०, शान्ति०, ६९/२८.

२. ऋणादानाद्यष्टादशविवादे विरुद्धार्थर्थिप्रत्यर्थिवाक्यजनितसंदेहहारी विचार एव व्यवहारः। मनु०, ८/१ पर कुल्लूकभट्ट की टीका।

३. स्वप्रजाधर्मसंस्थानं सदसत्प्रविचारतः।
जायतेचार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन सः।। शुक्रनीति, ४/५/४

४. स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्।। याज्ञ० २/५

के अनुसार अन्य के विरोध करने पर भी अपनी बात कहना व्यवहार है।[१] इस सम्बन्ध में कात्यायन ने बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है। उनके अनुसार सम्यग् भाषण, अहिंसन आदि धर्म के लिए प्रयास की आवश्यकता होती है जब उनका लोभ द्वैषवशात् उल्लंघन किया जाता है तो वह मनुष्यों का विवाद "व्यवहार" कहलाता है।[२] माधवाचार्य लिखते हैं कि "व्यवहार" शब्द का अर्थ कात्यायन ने दो प्रकार से किया है। प्रथम अर्थ रूढ़ है, सांकेतिक है। कात्यायन का आशय है कि शिष्ट सम्मत लौकिक आचरण का उल्लंघन होने पर "यह हमारा धन दूसरे के द्वारा अपहृत हुआ है, इस खेत का अन्न हमारा है, दूसरे का नहीं है, इत्यादि के विषय में वादी जिसे लेकर प्रवृत्त होता है वह धन साध्य है (स्वत्व सिद्ध करने योग्य है) इस मूल को लेकर जो वाद उपस्थित किया जाता है वह "व्यवहार" कहा जाता है।[३] यह तब उपस्थित होता है जब लौकिक या शास्त्रीय धर्म रूप स्वत्व का उल्लंघन किया जाता है तब न्याय के लिए वाद उपस्थित करने का अवसर होता है। दूसरा अर्थ कात्यायन ने किया है वह "व्यवहार" शब्द के निर्वचन के अनुसार है। "व्यवहार" में वि, अव और हार- तीन अवयव हैं। "वि" का अर्थ है– विविध (अनेक) "अव" का अर्थ है– सन्देह तथा "हार" का अर्थ है– हरण करना। इस सम्पूर्ण का अर्थ होता है कि जिस कार्य में अनेक प्रकार के संदेहों को (राज निर्णय के द्वारा) हरण किया जाय, दूर किया जाय वह "व्यवहार" है।[४] दोनों ही अर्थ उपयुक्त हैं। इसी लिए राजा को आदेश दिया गया है कि वादी-प्रतिवादी के रागद्वैष मूलक संदेहों का निराकरण करनेवाले व्यवहार का वह विचार करे। बृहस्पति के अनुसार जहाँ केवल शास्त्र का आश्रय लेकर निर्णय किया जाता है वह "व्यवहार" है।[५] व्यवहारमयूख में "व्यवहार" की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि "व्यवहार" परस्पर विरोधी दो पक्षों में से किसी एक से सम्बद्ध अज्ञात असत्य को जानने में सहायक व्यापार है।[६] अपिच, "व्यवहार" वादी और प्रतिवादी के द्वारा होनेवाला भोग, साक्षी व प्रमाणों से युक्त व्यापार है जिससे परस्पर विरोधी विकल्पों में से सत्य की स्थापना में सहायता मिलती है।[७]

---

१. अन्यविरोधेन स्वात्मसंबन्धितया कथनं व्यवहारः। याज्ञ० २/१ पर भिताक्षरा।

२. प्रयत्नसाध्ये विच्छिन्ने धर्माख्ये न्यायविस्तरे।
साध्यमूलस्तु यो वादो व्यवहार स उच्चते ।। स्मृ०च०, पृ० १ पर उद्धृत।

३. अत्र व्यवहारशब्दो रुढ़ि - योगाभ्यां निर्णयफलकमर्थिप्रत्यर्थि विवादमाचष्टे........। अर्थिप्रत्यर्थिनोः यो विवादः स व्यवहार उच्चते। परा०मा० पृ० ६.

४. वि नानार्थेऽवसन्देहे हरणं हार उच्चते। नाना सन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः। कात्यायन, व्यवहारमयूख, पृ० २८३, मनु० ८/१ पर कुल्लूक।

५. शास्त्रं केवलमाश्रित्य क्रियते यत्र निर्णयः। व्यवहारः स विज्ञेयः''''''''"। बृहस्पति० पृष्ट ५/१९.

६. विप्रतिपद्यमाननरान्तरगताज्ञाताधर्मज्ञापनानुकूलो व्यापारो व्यवहारः। व्यवहार मयूख, पृ० १

७. वादिप्रतिवादिकर्तृकः संभवद्भोगसाक्षिप्रमाणकोविरोधिकोटिव्यवस्थापनानुकूलो वा व्यापारः सः। वही।

व्यवहार दर्शन की विधि–

व्यवहारदर्शन की विधि बहुत मनोरंजक है। उसका उल्लेख करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम राजा लोकपालों को प्रणाम करके धर्मासन पर बैठकर, दक्षिण हाथ को उठाकर व एकाग्रचित्त होकर मुकद्दमों (न्यायकार्य) को देखना प्रारम्भ करे।[१] मनु का कहना है कि न्यायकार्य देखनेवाले (न्यायाधीश) को अर्थ-अनर्थ, व धर्म-अधर्म (प्रजापालन तथा प्रजाच्छेद रुप) का भलीभाँति ज्ञान होना चाहिए और इसी ज्ञान के आधार पर वह कार्यार्थियों के मुकद्दमों को वर्णक्रम से देखे।[२] न्यायकर्ता की क्षमता इस प्रकार की होनी चाहिए कि वह स्वर (बोलने के समय रुकना, घबराना, गद्गद होना आदि), वर्ण (मुख का उदास या प्रसन्न होना), इङ्गित (सामने न देख सकने के कारण इधर-उधर देखना) आकार (कम्पन, स्वेद, रोमांच आदि का होना), और चेष्टा (हाथों का मसलना अगुँलियों को चटखाना, अङ्गों को मरोड़ना आदि) से अर्थी, प्रत्यर्थी व साक्षियों के भीतरी भावों को भली-भाँति समझ सके क्योंकि आकार, इंगित, गमन, चेष्टा, नेत्र और मुँह के विकारों से मनुष्यों के भीतरी भाव जाने जा सकते हैं।[३] व्यवहारदर्शन के समय राजा को किस प्रकार की वृत्ति धारण करनी चाहिए इस विषय में मनु व याज्ञवल्क्य के द्वारा बताने गये सभी उपदेशों का नारद ने एक ही वाक्य में संग्रह कर दिया है। नारद के अनुसार राजा को वैवस्वत व्रत धारण करना चाहिए।[४] बृहस्पतिस्मृति में वैवस्वत व्रत की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार यम प्रिय तथा द्वेष्य दोनों को ही काल आ जाने पर समाप्त कर देता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा का नियमन करना चाहिए। यही वैवस्वत व्रत अथवा यमव्रत कहलाता है।[५] सारांश में कहा

---

१. धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः ।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्।। मनु० ८/२३
तत्रासीनः स्थितो वाऽसि पाणिमुद्यम्य दक्षिणम्।
विनीत वेषाभरणः पश्येत् कार्याणि कार्यिणाम्। वही, ८/२
व्यवहारान् दिदृक्षुस्तु ब्राह्मणैः सह पार्थिवः।
मन्त्रज्ञैर्मन्त्रिभिश्चैव विनीतः प्रविशेत सभाम्। शुक्रनीति, ४/५/४३

२. अर्थानर्थावुभौ बुद्धवा धर्माधर्मो च केवलौ।
वर्णक्रमेण सर्वाणि पश्येत्कार्याणि कार्यिणाम्। मनु०, ८/२४

३. मनु०, ८/२४ - २५

४. तस्माद्धर्मासनं प्राप्य राजा विगतमत्सरः।
समः स्यात्सर्वभूतेषु विभ्रद्वैवस्वतं व्रतम्।।
नारद०, १/३४ परा मा०, व्यवहारकाण्ड, पृ० ३६ पर उद्धृत।
मनु० ८/१, २, ३, २३., याज्ञ०, २/१, ३६०

५. यथा यमः प्रियद्वेषयौ प्राप्ते काले नियच्छति।
तथा राजा नियंतव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम्।।
बृहस्पतिस्मृति, पराशर माधवीय, पृ० ३७ पर उद्धृत।

जा सकता है कि राजा को न्यायासन पर बैठने के उपरान्त अपने को रागद्वेष, प्रिय-अप्रिय, आदि की संकुचित भावना से ऊपर उठाकर वस्तुस्थिति के अन्तःस्थल में प्रवेश करना चाहिए। यदि राजा अपने व्यक्तिगत भावनाओं से अभिभूत होकर न्यायकार्य करता है तो उसका निर्णय किसी भी स्थिति में निष्पक्ष नहीं कहा जा सकता, ऐसी स्थिति में जिनको दण्ड मिलना चाहिए उन्हें नहीं मिलेगा। वे छूट जायेगें। अतः उसे न्याय नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए मनु ने अधर्मयुक्त न्याय की विभीषिकाओं को विस्तार के साथ बताया है।[१] शुक्र ने भी व्यवहारदर्शन में राजा को क्रोध व लोभ से शून्य होने का निर्देश दिया है। वहाँ कहा गया है कि राजा प्राड्विवाक (न्यायाधीश), मन्त्रियों, विद्वान् ब्राह्मणों व पुरोहितों के साथ सावधान होकर न्यायार्थ उपस्थित विवादों को देखे।[२] न केवल राजा के लिए ही अपितु सभ्यों के लिए भी व्यवहार का सम्यक् दर्शन अपेक्षित था। यदि राजा न्यायमार्ग का अनुसरण नहीं करता है तब भी सभ्यों को चाहिए कि वे राजा का प्रिय कहने की अपेक्षा सत्य का ही कथन करें क्योंकि सभासद सूर्य के समान यथार्थतत्त्व को प्रकाशित करने की प्रतिभा से सम्पन्न होते हैं।[३] ऐसा करने से सभ्य कुन्याय के अपराध से मुक्त हो जाते है।[४] यदि राजा के अन्यायी हो जाने पर सभ्य भी इसी का अनुकरण करने लग जाते हैं तब राजा के समान वे भी पाप के भागी होते हैं।[५] इसके विपरीत अपने उत्तरदायित्व को निभाते हुए यदि केवल सत्य का ही अनुसरण करते हैं तो केवल राजा ही दोष का भागी होता है। सभ्यों को कुन्याय करने का दोष नहीं लगता है।[६] व्यवहारदर्शन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में मनु का कहना था कि धर्मासन में स्थित होकर, अपने अंगों को वस्त्रों से ढके हुए समाधान चित्त होकर लोकपालों को प्रणाम कर "कार्यदर्शन" प्रारम्भ करे। यहाँ पर समाधान होकर रहने का तात्पर्य यह है कि व्यग्रता या जल्दबाजी (उतावली) होने से उसका चित्त चंचल रहेगा। उस दशा में उचित प्रकार से व्यवहारदर्शन न हो सकेगा। श्लोक में "लोकपालों को

---

१. मनु०, ८/१२, १४, १५, १६, १७ अदि।

२. धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः।
सप्राड्विवाकः सामात्यः सब्राह्मणपुरोहितः।
समाहितमतिः पश्येद् व्यवहाराननुक्रमात् ॥ शुक्रनीति, ४/५/५

३. आदित्यवद्यथावस्थितार्थप्रकाशनप्रतिभाः सभ्याः। नीतिवा०, विवादसमुद्देश, २

४. न्यायमार्गादपेतं तु ज्ञात्वा चित्तं महीपतेः।
कर्त्तव्यं तत्प्रियं तत्र न सभ्यः किल्विषीभवेत्। कात्यायन, परा०मा०, पृ० ३३

५. द्रष्टव्य, लोभपक्षपाताभ्यामयथार्थवादिनः विवादसमुद्देश, ५

६. अधर्मतः प्रवृत्तं तं नोपेक्षेरन् सभासदः। उपेक्षमाणाः सनृपा नरकं यान्ति····। अन्यायेनापितं यन्ति येनुयांति सभासदः। तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः सतैर्नृपः। नारद० तथा मनु, ८/१९

प्रणाम करके'' का अर्थ यह है कि उनके स्मरण से उसे मानसिक बल मिलेगा जिससे वह निष्पक्ष भाव से कार्य करने में समर्थ हो सकेगा।[१] उपरोक्त विधि के बाद की विधि का उल्लेख करते हुए कात्यायन कहते हैं कि नम्र भाव से सम्मुख उपस्थित हुए कार्यार्थी से राजा पूछे कि हे मानव, क्या कार्य है, तुम्हें क्या पीड़ा है, कहो, डरो मत''।[२] इसी प्रकार का निर्देश शुक्रनीति में भी मिलता है।[३] यदि अर्थी स्वयं उपस्थित न हो सके तो वह अपना प्रतिनिधि भी भेज सकता है। नारद का मत है कि वादी के द्वारा नियुक्त अथवा प्रतिवादी के द्वारा भेजा हुआ पुरुष, जो जिसका प्रतिनिधित्व करता है वह उसी का जय-पराजय समझा जायेगा।[४] अपिच आगे नारद कहते हैं कि जो व्यक्ति न भाई हो, न पुत्र हो और न नियुक्त प्रतिनिधि हो वह यदि दूसरे के लिए वादी हाकर वक्तव्य देता है तो वह दंडनीय होता है।[५] इससे यह ध्वनित होता है कि पिता, पुत्र अथवा भ्राता नियुक्त न किये जाने पर भी प्रतिनिधित्व कर सकते थे।

शुक्र के अनुसार राजा अथवा न्यायसभा के सदस्यगणों को कभी भी अकेले एकान्त में वादी - प्रतिवादी के मुकद्दमों को नहीं देखना चाहिए। न ही उनकी बातों को सुनना चाहिए।[६] अपितु शास्त्रानुसार ही मुकद्दमों को देखना चाहिए।[७]

व्यवहारदर्शन की विधि को अधिक स्पष्ट करते हुए मनु कहते हैं कि न तो राजा को और न ही किसी राजकर्मचारी को विवाद प्रारम्भ करना चाहिए तथा अर्थी व प्रत्यर्थी के द्वारा लाये हुए विवाद को लोभादि के कारण दबा देना चाहिए और न ही उसकी उपेक्षा करनी चाहिए अर्थात् मौन नहीं रहना चाहिए।[८] गौतम के अनुसार[९]

---

१. नारद ने भी समाहितमति होने का उल्लेख किया है। ना०स्मृ० १/३५-३६

२. काले कार्याथिनं पृच्छेत् प्रणतं पुरतः स्थितम्।
किं कार्यं का च ते पीड़ा मा भैषी बूर्हि मानव।। परा०मा० पृ० ५२

३. काले कार्यार्थिनं पृच्छेत् प्रणतं पुरतः स्थितम्।
किं कार्यं क्वच ते पीड़ा मा भैषीर्बूहि मानव।। शुक्रनीति, ४/५/५८, ५९

४. अर्थिना सन्नियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा
यौ यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ।
नारद०२/२२ (पराशरमाधवीय पृ० ५३ में माधव ने इसे कात्यायन का वचन कहकर उद्धृत किया है परन्तु यह श्लोक नारदस्मृति में भी मिलता है।)

५. यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत् ।
परार्थवादी दण्डयः स्यात् व्यवहारेषु विब्रुवन।।
नारदस्मृति, २/२३, पराशरमाधवीय पृ० ५४ पर उदृधत।

६. नैकः पश्येच्च कार्याणि वादिनोः श्रुणुयाद्वचः ।
रहसि च नृपः प्राज्ञः सभ्याश्चैव कदाचन।। शुक्रनीति, ४/५/६

७. तस्माच्छास्त्रानुसारेण राजा कार्याणि साधयेत। वही, ४/५/११

८. नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः ।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन। मनु० ८/४३
अपिच, नोत्पादयेत् स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्यपूरुषः। शुक्रनीति, ४/५/६५

९. गौतमस्मृति, १३/२७

प्रतिवेदन करनेवाले को विनम्रतापूर्वक अपने अभियोग को न्यायाधिकारी के समक्ष रखना चाहिए। कात्यायन के अनुसार यदि वादी या प्रतिवादी न्यायालय में आना चाहें तो राजा को अपने प्रभाव या लोभ के कारण उनके झगड़ों को निपटाने के लिए स्वयं सन्नद्ध नहीं होना चाहिए।[१] यही बात शुक्रनीति में भी कही गयी है।

व्यवहारदर्शन में विशेष परम्पराओं तथा विशेष वर्ग के अपने धर्म को भी मान्यता प्रदान की जाती थी। किसी प्रदेशविशेष की परिपाटी, किसी जाति विशेष की परम्परायें, किसी वर्ग विशेष की परम्परागत नियम तथा कुल विशेष की परम्पराओं को दृष्टि में रखकर ही न्याय किया जाता था। इस तरह की परम्पराओं को स्थानीय नियम कहा जाता था। मनु ने इस स्थानीय नियमों की मान्यता को स्वीकार किया है।[२] शुक्र के अनुसार देश, जाति एवं कुल के जो धर्म जिस भाँति से पहले से चले आये हो उनका उसी भाँति से पालन करना चाहिए अथवा यदि अपने मन से राजा उनमें परिवर्तन करता है तो उससे प्रजा में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है।[३] स्थानीय परम्पराओं को मान्यता प्रदान करने से न्याय का प्रजा के हित में होना सिद्ध होता है। प्रजा का अपना व्यवहार इन्हीं स्थानीय परम्पराओं पर ही आधारित रहता है। निष्पक्ष व स्वस्थ न्याय के लिए यह आवश्यक होता है कि स्थानीय परम्पराओं को भी मान्यता प्रदान की जाये। याज्ञवल्क्य तथा नारद[४] ने पूग, श्रेणी तथा कुल आदि को न्यायिक अधिकार भी प्रदान किये हैं।[५] यद्यपि मनु ने इनको न्यायिक अधिकार नहीं दिये हैं तथापि उनके नियमों को न्यायकार्य के लिए आधार वाक्य बनाते हैं। इस प्रकार से याज्ञवल्क्य तथा नारद के नियम (विधान) मनु की अपेक्षा अधिक लोकहितकारी कहे जा सकते हैं।

न्यायकार्य में धर्मशास्त्र ही प्रमुख रूप से आधार रहता है क्योंकि धर्मशास्त्रों की ही व्याख्या स्मृतियों में रहती है लेकिन स्मृतियों में परस्पर विरोध होने पर "न्याय"

---

१. न राजा तु वशित्वेन धनलोभेन वा पुनः स्वयं कर्माणि कुर्वीत नराणामिवविवादिनाम्। मनु०, ८/४३ में कुल्लूक द्वारा उद्धृत।

२. सद्भिराचरितं यत्स्याद्धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद्देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्। मनु०, ८/४६

३. देशजातिकुलानां च ये धर्माः प्राक्प्रवर्तिताः
तथैव ते पालनीयाः प्रजा प्रक्षुभ्यतेऽन्यथा। शुक्रनीति, ४/४६

४. नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरुज्ञेयं व्यवहारविद्यौ नृणाम्।। याज्ञ० व्यवहाराध्याय, ३०
कुलानि श्रेणयश्चैव गणाश्चाधिकृतो नृपः ।
प्रतिष्ठा व्यवहाराणां गुर्वेभ्यस्तूत्तरोत्तम्।। ना०स्मृ० १/७

५. जातिजानपदान्धर्माञ्श्रेणीधर्मांश्च धर्मवित्।
समीक्ष्य कुलधर्मांश्च स्वधर्मं प्रतिपादयेत्।। मनु० ८/४१
अपि च, देशधर्मजातिकुलधर्मान्सर्वानेवैताननुप्रविश्य राजा चतुरो वर्णांन्स्वधर्मे स्थापयेत्।
वासिष्ठ, १९/७

को ही बलवान समझना चाहिए।[१] नारद ने न्याय के स्थान पर "युक्तियुक्त" शब्द का प्रयोग किया है।[२] वास्तव में, न्यायकार्य बहुत ही गहन कार्य है। अपिच, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में विरोध होने पर धर्मशास्त्र ही मान्य था। धर्मशास्त्र के अनुकूल रहने पर ही अर्थशास्त्र का व्यवहार में महत्व रहता था अन्यथा उसकी महत्ता (मान्यता) समाप्त हो जाती थी।[३] यहाँ पर अर्थशास्त्र अपने रूढ़िगत अर्थ में प्रयुक्त न होकर धर्मशास्त्र के ही अन्तर्गत नीति तथा व्यवहार का बोध करवाने वाले शास्त्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[४] अर्थशास्त्र तथा धर्म के परस्पर बलाबल का विवाद होने में मनु ने उदाहरणों के माध्यम से ही अपना मत व्यक्त किया है। वे नारद तथा याज्ञवल्क्य से सहमत हैं।[५]

---

१. स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान व्यवहारतः। याज्ञ०, २/२१

२. धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः। ना०स्मृ० १/४०

३. यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्।। नारद० १/३९, याज्ञ० २/२१

४. अर्थशास्त्रं चात्र धर्मशास्त्रान्तर्गतमेव नीतिव्यवहारशास्त्ररुपं गृह्यते।
वीरमित्रोदय, व्य०प्र०, पृ०१४, व्यवहारमयूख, पृ० ४

५. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राहमणं वा बहुश्रुतम्।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन।
प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तं मन्युमृच्छति।। मनु०, ८/३५०-३५१

पंचम परिच्छेद

व्यवहारपद की संख्या

'व्यवहार' शब्द का अर्थ व व्यवहारदर्शन की विधि जानने के पश्चात् यह जानना आवश्यक है कि 'व्यवहारपद' किसे कहते हैं व व्यवहारपद कितने प्रकार के होते है। 'व्यवहारपद' की भिन्न-भिन्न प्रकार से परिभाषा की गई है जो कि निम्न प्रकार से देखी जा सकती है–

झगड़े, विवाद या मुकद्दमें के विषय को व्यवहारपद कहा जाता है।[१] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र व स्मृतिनियमों के विरुद्ध किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा पीड़ित किया जाता है व पीड़ित होने पर जब वह राजा या न्यायाधिकारी को इसका निवेदन करता है तो इसे ही व्यवहारपद कहते हैं।[२] मनु के अनुसार 'पद' शब्द का अर्थ स्थान (अर्थात् मुकदमों के विषयों में और इसी प्रकार के अन्यान्य विवादस्थ विषयों में) है।[३] कौटिल्य[४], नारद[५] वृहस्पति[६] व उशन[७] ने 'व्यवहारपद' के स्थान पर 'विवादपद' शब्द का प्रयोग किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र में विवाद का अर्थ झगड़ा किया है।[८]

धर्मसूत्रों में व्यवहारपदों के विषय में सामग्री मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी।[९] लेकिन व्यवहारपदों का विस्तार से निरुपण स्मृतिकालीन साहित्य में ही उपलब्ध

---

१. व्यवहारः तस्य पदं विषयः। याज्ञ, २/५ पर मिताक्षरा टीका।

२. स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः। आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्। याज्ञ, २/५, शुक्रनीति, ४/६४

३. एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्। धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम्। मनु, ८/८

४. विवादपदेषुचैषां......को०अ०, ३/१६ व विवादपदानामन्यतमं वा...वही, ४/७

५. नारद, १/५

६. हिंसां वा कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति।
द्वे हि स्थाने विवादस्य तयोर्बहुतरा गतिः।
बृहस्पति, स्मृ०च०, पृ०२, पर उद्धृत

७. कार्यमुद्दिश्य यत्किञ्चत्क्वचिद्राज्ञे निवेदयेत्।
पदं तदष्टादशधा विवादानां प्रकीर्तितम्। उशन, स्मृ०च०पृ० २ पर उद्धृत।

८. विवादे विद्याभिजनसम्पन्ना वृद्धा मेधाविनो धर्मेष्वविनिपातिनः आ०ध०सू०,

९. गौ०ध०सू०, प्रश्न २, तृतीय अध्याय

होता है। स्मृतियों में विभिन्न प्रकार के अपराध व उनके लिए स्थापित दण्डव्यवस्था का विवेचन किया गया है। परन्तु सर्वप्रथम हमें यह जानना आवश्यक है कि ऐसे कौन से विषय हैं जिनके अन्तर्गत विवाद उत्पन्न हो सकता है। उन विवाद के विषयों का विभाजन अठारह पदों (शीर्षकों) में किया गया है। मनु के अनुसार विवाद के सभी कारण अठारह शीर्षकों के अन्तर्गत आ जाते हैं।[१] यद्यपि ऐसा नहीं है कि तत्कालीन समाज में विवाद के केवल अठारह ही विषय (पद) थे लेकिन सभी प्रकार के विवाद इन अठारह पदों (शीर्षकों) में से किसी न किसी विषय के अन्तर्गत आ जाते थे। यद्यपि यह विधान औपचारिक ही है व इस विधान के अनुसार अठारह पदों के ही अन्तर्गत सभी विवाद के विषयों को रखा गया है। लेकिन प्राचीन भारत की न्यायपद्धति के आधार स्तम्भ कहे जाने वाले कानूनवेताओं को भी 'अठारहपदों' का विभाग ही मान्य था। वृहस्पति, कौटिल्य आदि ने भी व्यवहार के अठारह पदों का ही उल्लेख किया है। व्यवहार के पदों को इस प्रकार शीर्षकस्थ करने का तात्पर्य यह नहीं था कि इन्हीं शीर्षकों के अन्तर्गत यदि विवाद होगा तो उसका निर्णय किया जायेगा व अन्यथा होने वाले विवादों को स्वीकार नहीं किया जायेगा।

ये शीर्षक सुविधा की दृष्टि से रखे गये थे। इन विवादों के ही भेदोपभेदों के रूप में अनेक प्रकार के विवादों का उपचार स्मृतियों में उपलब्ध होता है। नारद ने इन प्रभेदों की संख्या १०८ बतलाई है।[२] नारद की यह संख्या अन्तिम रूप से ग्रहण नहीं की जा सकती है परन्तु विवादों के चाहे कितने ही प्रकार हों वे सभी अठारह शीर्षकों में से किसी न किसी के अन्तर्गत आ जाते हैं।

मनु[३] तथा नारद[४] ने व्यवहारपदों का उल्लेख एक ही स्थान पर किया है

---

१. एषु स्थानेषु भूयिष्ठं विवादं चरतां नृणाम्।
धर्मं शाश्वतमाश्रित्य कुर्यात्कार्यविनिर्णयम्।।
मनु, ८/८, भूयिष्ठशब्देनान्यान्यपि विवादपदानि सन्तीति सूचयति। तानिच प्रकीर्णकशब्देन नारदाद्युक्तानि। अतएव नारदः– 'न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वे तत्स्यात्प्रकीर्णकम्। मनु, ८/८ पर कुल्लूक टीका।

२. एषामेव प्रभेदोऽन्यश्शतमष्टोत्तरं स्मृतम्।
क्रियाभेदान्मनुष्याणां शतशाखो निगद्यते।।
स्मृ०च०, व्यवहारकाण्ड, पृ० ३ पर उद्‌घृत अपि च कात्यायनोऽपि अष्टादशक्रियाभेदाद्‌भिन्नान्यष्टसहस्रशः। वही।

३. मनु० ८/४, ७

४. ऋणादानं हयुपनिधिः सम्भूयोत्थानमेव च। दत्तस्य पुनरादानमशुश्रूषाऽभ्युपेत्य च।। वेतनस्यानपाकर्म तथैवास्वामिविक्रयः। विक्रीयासम्प्रदानं च क्रीत्वाऽनुशय एव च।। समयस्यानपाकर्म विवादः क्षेत्रजस्तथा। स्त्रीपुंसयोश्च सम्बन्धो दायभागोऽथ साहसम्। वाक्पारूष्यं तथैवोक्तं दण्डपारूष्यमेव च। द्यूतं प्रकीर्णकं चैवेत्यष्टादशपदः स्मृतः।। ना०स्मृ०, १/१६,. १९.

जबकि याज्ञवल्क्य ने एक स्थान पर व्यवहारपदों का उल्लेख न करके व्यवहार काण्ड में विकीर्ण रूप में उनका उल्लेख किया है। धर्मसूत्रों में भी पृथक् रूप से व्यवहारपदों की तालिका नहीं दी गई है प्रत्युत विभिन्न अपराधों व दण्डों के संदर्भ में उनका उल्लेख किया गया है।

मनु वह प्रथम व्यवस्थाकार, न्यायविद् एवं विधिज्ञ थे जिन्होंने सूक्ष्म चेतना के आधार पर अपनी पैनी व विवेचनापूर्ण दृष्टि से ऋग्वेद काल से लेकर अपने पूर्ववर्ती काल तक विशृंखलित व्यवहारपद्धति को व्यवस्थित किया है। व्यवहारपदों (अपराधों) का वर्गीकरण करते हुए अपराधविधि एवं नैतिकविधि को भी पृथक किया है। मनु को पश्चात्भावी धर्मशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्र के रचयिता कौटिल्य ने भी व्यवहारपदों का वर्गीकरण मनु द्वारा निर्देशित आधार पर ही किया है। यद्यपि अनेकत्र भिन्नता दृष्टिगोचर होती है तथापि रूपरेखा, मानदण्ड, व्यवहारप्रणाली मनु के अनुरूप ही है। यद्यपि अनेक व्यवहार के शीर्षकों में भी परिवर्तन एवं कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है तथापि मूल मनु के सिद्धन्तों में ही आधारित है। समय परिवर्तन के कारण व्यवहारपदों की सूचियों में परिवर्तन हुआ है व उनकी श्रेष्ठता भी भिन्न-भिन्न कालों में स्थानान्तरित होती रही है।

मनु ने अठराह व्यवहारपदों का उल्लेख किया है। नारद ने भी अठारह व्यवहारपदों की योजना की है लेकिन नारद की व्यवहारपदों की योजना मनु से कुछ भिन्नता रखती है। मनु ने क्रय-विक्रय को एक ही पद के अन्तर्गत रखा है।[१] जबकि नारद क्रय व विक्रय (व्यवहारपदों) को अलग-अलग पदों में रखते है।[२] नारद ने स्वामिपाल विवाद (९) स्तेय (१३) स्त्रीसंग्रहण (१५) का उल्लेख अठारह व्यवहारपदों में नहीं किया है परन्तु विवाद के अठारह पदों की पूर्ति अन्य प्रकार से की है। नारद ने क्रय-विक्रय को अलग-अलग दो पदों में रखा है तथा अभ्युपेत्याशुश्रूषा तथा प्रकीर्णक[३] को व्यवहारपदों में रखकर अठारह की व्यवहारपद की संख्या पूरी की है। याज्ञवल्क्य ने २० प्रकार के व्यवहारपद दर्शायें हैं। उन्होंने नारद के समान क्रय-विक्रय को दो पृथक् २ पदों में रखकर स्त्री-पुंधर्म (१६) का उल्लेख नहीं किया है व अभ्युपेत्याशुश्रूषा एवं प्रकीर्णक नाम से दो अतिरिक्त व्यवहारपदों का उल्लेख किया है। नारद के ही समान वृहस्पति भी अनेक बातों में मनुस्मृति से समरूपता रखते हैं बृहस्पति ने १९ प्रकार के व्यवहार वर्ग में प्रकीर्णक व्यवहारपद्धति अध्याय को सम्मिलित कर दिया है। परन्तु बृहस्पतिस्मृति की सबसे बड़ी विशेषता

---

१. क्रयविक्रयानुशया......मनु० ८/४

२. विक्रीयासम्प्रदानं च क्रीत्वाऽनुशय एव च। ना०स्मृ०, १/१७

३. 'न दृष्टं यच्च पूर्वेषु सर्वे तत्स्यात्प्रकीर्णकम्।।' नारद, मनु० ८/८ मिताक्षरा में उद्धृत।

व्यवहारपदों का धनमूलक व हिंसामूलक रूप में अन्तर प्रकट कर उनका वर्गीकरण करना है।[१] बृहस्पति ने १४ व्यवहारपद 'धनमूलक' व चार (४) व्यवहारपद 'हिंसामूलक' बतायें हैं।

याज्ञवल्क्य ने व्यवहारपदों के सम्बन्ध में अर्थविवाद (सिविल झगड़े) का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अर्थसम्बन्धी व मारपीट सम्बन्धी (हिंसा सम्बन्धी) रूप में झगड़ों को दो भागों में बाँटा है।[२] हिंसा से सम्बन्धित मुकद्दमों को वाक्पारूष्य (मानहानि अर्थात् अपमान तथा गालीगलौच से सम्बन्धित), दण्डपारूष्य (आक्रमण अर्थात् मारपीट करना या मर्दन करना), साहस (हत्या तथा अन्य प्रकार की हिंसाए तथा स्त्रीसंग्रहण (व्यभिचार या परभार्यालंघन) के नाम से पुकारा जाता है।) कात्यायन के अनुसार भी झगड़ों के दो मूल (कारण) होते है— १. देय को न देना २. हिंसा करना। यद्यपि इस प्रकार से अर्थमूल व हिंसामूल— ये अठारह प्रकार के झगड़े थे किन्तु उन्हें निपटाने के नियमादि एक जैसे ही थे। उनकी सुनवाई एक ही प्रकार की कचहरियों में होती थी। आधुनिककाल की भाँति दो प्रकार की कचहरियों की परम्परा नहीं थी। झगड़ों के निर्णय के सम्बन्ध में बृहस्पति का मत है कि केवल शास्त्र-वर्णित नियमों के आधार पर ही झगड़ों का निर्णय नहीं होना चाहिए प्रत्युत तर्क एवं विवेक को भी महत्ता मिलनी चाहिए।

नारद विवादों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत अधिक मौलिक हैं। वे विवादों की उत्पत्ति में मानव मनोविज्ञान का आधार लेकर उनके अन्तस्तल में पहुँच जाते हैं। प्रत्येक विवाद की उत्पत्ति में काम, क्रोध, लोभ अथवा मोह कारण रहता है।[३] मनुष्य उक्त तीनों भावनाओं से प्रेरित होकर जब किसी प्रकार का अनुचित कार्य करता है तब वह विवाद का रूप धारण कर लेता है। काम,क्रोध, लोभ अथवा मोह का चक्र बहुत विस्तृत है, इसके अन्तर्गत मानव के प्रायः प्रत्येक कार्य आ जाते हैं। इनके बलवान होने पर व्यक्ति स्वयमेव औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर देता है। यदि औचित्य के उल्लघंन में विधियों का भी उल्लंघन हो जाता है, तब पीड़ित पद उसे विवाद का कारण बना सकता है, मनुस्मृति के अनुसार शुद्ध स्वभाव वाले मनुष्यों का मिलना दुर्लभ है मनु० (७/२२)। काम,क्रोध लोभ व मोह मनुष्य जाति के शत्रु हैं जो सम्पूर्ण मनुष्य जाति को अपने वश में कर लेते हैं परिणाम स्वरूप अराजकता का जन्म होता है। शुक्रनीति में भी काम,

---

१. द्विपदो व्यवहारः स्याध्दनहिंसासमुद्भवः। द्विसप्तकोऽर्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः।........ एवमर्थसमुत्थानि पदानि च चतुर्दशा पुनरेव प्रभिन्नानि क्रियाभेदादनेकधा। पारूष्ये द्वे साहसं च परस्त्रीसंग्रहस्तथा। हिंसोद्भवपदान्येवं चत्वार्याह वृहस्पतिः। स्मृ०च०, २ पृ० ९ पर उद्घृत। अपि च, प्रयच्छेच्चेदृतिं स्वामी भृत्यानां कर्मकुर्वताम्।। न कुर्वन्ति च भृत्याश्चेत्तत्र वादः प्रवर्तते।। हिंसा वा कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति। द्वे हि स्थाने विवादस्य तयोर्बहुतरा गतिः। वही, पृ० २

२. सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया। याज्ञ०, २/२३

३. कामात् क्रोधाच्च लोभाच्च त्रिभ्यो यस्मात् प्रवर्त्तते।
त्रियोनिः कीर्त्यते तेन त्रयमेतद् विवादकृत् ।। ना० स्मृ०, १/२६

क्रोध तथा लोभ की अधिकता को विवाद का कारण बताया है।[१] बृहस्पति स्मृति में भी इसी की पुष्टि की गयी हैं।[२] उदाहरणार्थ काम करते हुए एक सेवक को उसके मालिक द्वारा वेतन दिया जाता है लेकिन यदि मालिक उसको वेतन न दे तो वह व्यवहार का विषय हो जाता है।[३]

जैसा कि पहले ही बताया गया है कि धर्मसूत्रों में व्यवहारपदों के विषय में सामग्री मिलनी प्रारम्भ हो गयी थी लेकिन वहाँ पर पृथक् रूप से व्यवहारपदों की तालिका नहीं दी गई है और न ही एकत्र रूप में व्यवहारपदों का उल्लेख किया गया है प्रत्युत विभिन्न अपराधों व दण्डों के संदर्भ में उनका उल्लेख किया गया है। प्रमुख चार धर्मसूत्रों— गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन व वासिष्ठ में स्थान-स्थान पर विवेचित व्यवहारपदों को देखा जा सकता है। इन धर्मसूत्रों में उल्लिखित व्यवहार पदों का विवरण निम्न प्रकार से दर्शाने का प्रयास किया गया है जो कि एक नूतन प्रयास है।

आ०ध०सू० में उपलब्ध व्यवहारपदों का विवरण—

१.	ऋणादान	१. ९. २७. १०। १. ६. १८. २२.
२.	निक्षेप	१. ६. १८. २०.
३.	संविद्व्यतिक्रम	१.१.१.२, २.४.८.१३
४.	स्वामिपालविवाद	२.२.२८.६, २.२.२८.५
५.	अभ्युपेत्याशुश्रूषा	२.२.२८ २-३
६.	वाक्पारूष्य	१.८.२३.५
७.	दण्डपारूष्य	१.७.२१.१४, १.७.२१.१५, १.५.१७.२९-३०
८.	स्तेय	१.७.२१.८
९.	स्त्रीसंग्रहण	१.२.७.३, १२.७.८-१०
१०.	स्त्रीपुंधर्म	२.५.११-१५
११.	दायभाग	२.६.१४. १-२, ४.५, ९
१२.	धूत	२.१०.२५. १२-१३

---

१. अतिकामक्रोधलोभैर्व्यवहारः प्रवर्तते। शुक्रनीति, ४/५/२७०

२. लोभद्वैषाभिभूतानां व्यवहारः प्रवर्तितः ९ (२) बृहस्पतिस्मृति, २ के०वी० रंगास्वामी अयंगर सम्पादित।

३. प्रयच्छेच्चेद्भृतिं स्वामी भृत्यानां कर्म कुर्वताम्।
न कुर्वन्ति च भृत्योश्चेत् तत्र वादः प्रवर्तते॥ बृहस्पति, स्मृ०च०, व्यवहारकाण्ड, पृ०, २ पर उद्धृत।

गौ०ध०सू० में उपलब्ध व्यवहारपद–

१.	ऋणादान	२.३.२६
२.	निक्षेप	२.३.३९
३.	क्रयविक्रयानुशय	२.३.३९
४.	स्वामिपालविवाद	२.२.२०-२२, २.३.१९
५.	वाग्पारूष्य	१.२.२७, २.३.१२, ३.३.१०
६.	दण्डपारूष्य	२.३.१, ३.३.२०
७.	अभ्युपेत्याशुश्रूषा	२.३.१६-१७
८.	स्तेय	२.३.१२
९.	स्त्रीसंग्रहण	३.३.१, ३.३,९
१०.	स्त्रीपुंधर्म	१.४. १-२
११.	धूतसमाह्वय	१.२.२३

वाग्पारूष्य व दण्डपारूष्य को मिताक्षराकार ने साहसदण्ड कहा है।[1] स्मृतियों की भाँति 'साहस' को अलग व्यवहारपद बताकर वागपारूष्य, दण्ड पारूष्य को उसके भेद नहीं कहा गया है इस प्रकार यहाँ पर पुनरुक्तिदोष नहीं दिखायी देता है। जबकि स्मृतियों में पुनरुक्तिदोष दिखायी पड़ता है।

वासिष्ठधर्मसूत्र में उल्लिखित व्यवहारपद–

१.	ऋणादान	२/५०, २.४१-४२
२.	निक्षेप	१६.१८
३.	दत्तस्यानपाकर्म	८.१०
४.	सीमा विवाद	१६. १३-१५
५.	स्त्रीपुंधर्म	८.१
६.	स्त्रीधन (दायभाग)	१७.४६

बौ०ध०सू० में उल्लिखित व्यवहारपद–

१.	ऋणादान	१.५.१०.२३, १.५.९३-९४
२.	दण्डपारूष्य	१.५.१२.१-७ २.७.१२-८, ३.३.३.६, ४.१.१४
३.	स्त्रीपुंधर्म	४.१.१४
४.	दायभाग	२.३.४३-४४, २.२.४९

सूत्रसाहित्य में उपलब्ध व्यवहारपदों के विवेचन के पश्चात् स्मृतिसाहित्य आता है जिसके प्रथम व्यवस्थाविद् मनु ने अपने पूर्ववर्त्ती कालतक विश्रृंखलित व्यवहारपद्धति को व्यवस्थित किया था।[2] जिसका विवेचन निम्नोक्त प्रकार से है।

---

१. उक्तः साहसदण्डः। गौ०ध०सू०, २.३.१२ से पहले मिताक्षरा

२. मनु०, ८/४-७

मनुस्मृति में १८ प्रकार के व्यवहारपद–

१.	ऋणादान	(लेन-देन)
२.	निक्षेप	(धरोहर रखना)
३.	अस्वामिविक्रय	(बिना स्वामित्व के बेचना)
४.	सम्भूयसमुत्थान	(संयुक्त रूप से कार्य करना)
५.	दत्तस्यानपाकर्म	(दी हुई वस्तु को वापिस लेना)
६.	वेतनादान	(वेतन न देना)
७.	संविद-व्यतिक्रम	(पूर्व निर्णीत सन्धिपत्रादि को न मानना)
८.	क्रयविक्रयानुशय	(खरीदने व बेचने में विवाद उपस्थित होना)
९.	स्वामिपाल विवाद	(स्वामी-सेवक विवाद)
१०.	सीमा-विवाद	(सीमा के विषय में विवाद)
११.	वाक्पारूष्य	(गाली आदि देना)
१२.	दण्डपारूष्य	(मारपीट करना)
१३.	स्तेय	(चोरी करना)
१४.	साहस	(डकैती व लूट)
१५.	स्त्रीसंग्रहण	(स्त्री का परपुरुष से संभोग)
१६.	स्त्रीपुंधर्म	(स्त्री व पुरुष के कर्त्तव्य)
१७.	विभाग	(सम्पत्ति का बटवारा)
१८.	धूतसमाह्वय	(जुआ खेलना)

मनु के पश्चात् याज्ञवल्क्य ने व्यवहारपदों का विवेचन व्यवहारकाण्ड में अलग-२ अध्यायों में सुचारु रूप से किया है। उनके द्वारा किया गया– व्यवहारपदों का सफल निरूपण निम्न प्रकार से है।

१.	ऋणादान	(अध्याय-३)
२.	उपनिधि	(अध्याय-४)
३.	दायविभाग	(अध्याय-८)
४.	सीमाविभाग	(अध्याय-९)
५.	स्वामिपालविावद	(अध्याय-१०)
६.	अस्वामिविक्रय	(अध्याय-११)
७.	दत्ताप्रदानिक	(अध्याय-१२)
८.	क्रीतानुशय	(अध्याय-१३)
९.	अभ्युपेत्याशुश्रूषा	(अध्याय-१४)
१०	संविद्व्यतिक्रम	(अध्याय-१५)
११.	वेतनादान	(अध्याय-१६)

१२.	द्यूतसमाह्वय	(अध्याय-१७)
१३.	वाक्यपारूष्य	(अध्याय-१८)
१४.	दण्डपारूष्य	(अध्याय-१९)
१५.	साहस	(अध्याय-२०)
१६.	विक्रीयासंप्रदान	(अध्याय-२१)
१७.	संभूयसमुत्थान	(अध्याय-२२)
१८.	स्तेय	(अध्याय-२३)
१९.	स्त्रीसंग्रहण	(अध्याय-२४)
२०.	प्रकीर्णक	(अध्याय-२५)

धर्मशास्त्रकारों ने व्यवहारपदों की संख्या भिन्न-भिन्न मानी है व हिंसामूलक और अर्थमूलक व्यवहारपदों का उल्लेख किया है। हिंसामूलक व अर्थमूलक व्यवहारपदों के रूप में स्पष्टतः विभाजन सर्वप्रथम बृहस्पति ने किया है।[१] यद्यपि बृहस्पति से पूर्व याज्ञवल्क्यस्मृति में भी अर्थसमबन्धी विवादों का उल्लेख मिलता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि याज्ञवल्क्य[२] ने भी धनसम्बन्धी व हिंसासंबन्धी (मारपीट) रूप से झगड़ों को दो प्रकार का माना है जिनमें से धन या अर्थ से सम्बन्धित मुकद्दमों को चौदह प्रकार का व हिंसा से उत्पन्न मुकद्दमों को चार भागों में बाँटा गया है। कात्यायन ने भी झगड़ों के दो मूल कारण माने हैं– देय को न देना व हिंसा करना।

हिंसामूलक व्यवहारपद–

वाक्पारूष्य

आज जिसे मानहानि का अपराधी कहा जाता है प्राचीनकाल में वही वाक्पारूष्य के अन्तर्गत आता था। मनु व याज्ञवल्क्य ने वाक्पारूष्य के लक्षण की परिभाषा नहीं की है केवलमात्र पारूष्य के दण्ड का विधान किया है। वाक्पारूष्य की व्याख्या करते हुए नारद कहते हैं– किसी के देश, जाति व कुल आदि के विषय में आक्रामक एवं हिंसात्मक तरीके से अपमानजनक शब्द कहे जायें जिससे कहे जाने वाले व्यक्ति को मानसिक क्षति या कष्ट पहुँचे उसी को वाक्पारूष्य कहा जाता है।[३] मिताक्षरा में उदाहरण से स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब कोई कहता

---

१. द्विपदोव्यवहारः स्याद्धनहिंसासमुद्भवः। द्विसप्तकोऽर्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः।। ..... एवमर्थसमुत्थानि पदानि तु चतुर्दश। पुनरेव प्रभिन्नानि क्रियाभेदादनेकधा। पारूष्ये द्वे साहसंच परस्त्रीसंग्रहस्तथा। हिंसोद्भवपदान्येवं चत्वार्याह बृहस्पतिः। स्मृ०च०२, पृ०९, व्यवहारमयूख (४. २७७), परा०मा०, ३ पृ०२१-२१। साध्यं वादस्य मूलं स्याद्वादिना यन्निवेदितम्। देयाप्रदानं हिंसा चेत्युत्थानद्वयममुच्यते। स्मृ०च०२ पृ० १३ में उद्धृत

२. सर्वेष्वर्थविवादेषु बलवत्युत्तरा क्रिया। याज्ञ०, २/२३

३. देशजातिकुलादीनामाक्रोशन्यंङ्गसंयुक्तम् यद्वचः प्रतिकूलार्थं वाक्पारूष्यं तदुच्यते। ना०स्मृ०, वाक्पारूष्य।

है कि गौड़ (बँगाली) झगडालू होते हैं तो वह दूसरे के देश को गाली (अपशब्द) देता है, यदि कोई कहता है कि ब्राह्मण लालची होते हैं, तो जाति पर आक्षेप है अथवा विश्वामित्रों की जाति खूंखार होती है, तब वह दूसरे के कुल पर आक्षेप है।[१] नारद के अनुसार वाक्पारूष्य के तीन प्रकार हैं।[२]

(१) निष्ठुर — झिड़कते हुए मूर्ख, व दुष्ट कहना।

(२) अश्लील — अपमानजनक बात कहना। (गाली देना)

(३) तीव्र — सुरापान या ब्रह्महत्या आदि का भीषण आरोप लगाना जिससे व्यक्ति जाति से च्युत कर दिया जाय।[३] कौटिल्य के अनुसार गाली-गलौच, निन्दा और धमकाना-वाक्पारूष्य है। इन्होंने शरीर, प्रकृति, श्रुत, वृत्ति व देश भेद से पाँच भेद किये हैं।[४]

बृहस्पति के अनुसार पाँच सर्वप्रथम वाक्पारूष्य के दो प्रकार हैं–

१. वाणीद्वारा

२. मारपीट द्वारा

फिर इन दोनों के तीन-२ प्रकारों का निर्देश किया गया हैं–

१. प्रथम (सबसे छोटा)

२. मध्यम

३. तृतीय

प्रथम प्रकार के वाक्पारूष्य में देश, कुल व जाति आदि की गाली दी जाती है या किसी विशिष्ट कार्य की ओर संकेत किये बिना पापकर्म का अपराध लगाया जाता है।

मध्यम प्रकार के वाक्पारूष्य में माँ व बहिन को सम्बद्ध करके 'पातकी' अपशब्द का प्रयोग किया जाता है अर्थात् गाली दी जाती है, या छोटे-छोटे पापों[६] की गाली दी जाती है।

---

१. तत्र 'कलहप्रियाः खलु गौड़ाः' इति देशाक्रोशः। 'नितान्तं लोलुपाः खलु विप्राः, इति जात्याक्रोश।' 'क्रूरचरिता ननु वैश्वामित्राः' इति कुलाक्षेपः। याज्ञ०, मिताक्षरा, वाक्पारूष्यप्रकरण। वाक्पारूष्यमुपवादः कुत्सनमभिभर्त्सनमिति। कौ०अ०, ३/१८/१

२. निष्ठुराश्लीलतीव्रत्वात्तदपि त्रिविधं स्मृतम्। गौरवानुक्रमात्तस्य दण्डोऽपि स्यात्क्रमाद् गुरुः।। वीरमित्रोदय, व्य०प्र०, पृ० ३७९, ना०स्मृ०, ४/३

३. साक्षेपं निष्ठुरं ज्ञेयमश्लीलन्यङ्गसंयुतम् पतनीयैरुपक्रोशैस्तीव्रमाहुर्मनीषिणः। ना०स्मृ०, वाक्पारूष्य, ३

४. कौ०अ०, ३/१८/१

५. अप्रियोक्तिस्ताडनं च पारूष्यं द्विविधं स्मृतम्। एकैकं तु त्रिधा भिन्नं दमश्चोक्तस्त्रिलक्षणः।। याज्ञ०, व्यवहाराध्याय, अपरार्कटीका, २/२०३

६. मनु०, ९/५९-६६, याज्ञ०, ३/२३४-२४२ ।

तृतीय प्रकार के वाक्पारूष्य में निषिद्ध भोजन या पेय ग्रहण करने का अथवा महापातक दोष का आरोप लगाना या उसकी कमजोरियों को दुर्भावना से प्रकट किया जाता है।[१] कात्यायन ने भी नारद के समान वाक्पारूष्य के तीन प्रकारों का निर्देश किया है। उनके अनुसार किसी के सामने हुंकार भरना खांसना या अनुचित बात कहना वाक्पारूष्य है।[२]

दण्डव्यवस्था– धर्मशास्त्रों में वाक्पारूष्यों के लिए दण्ड का विधान किया गया है लेकिन यह विधान अपराध करने वाले व जिसके प्रति अपराध किया गया है उन दोनों की जाति का विचार करके ही किया जाता था।

मनु,[३] याज्ञवल्क्य[४] व नारद[५] के अनुसार ब्राह्मण को गाली देने पर गाली देने वाले क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र को क्रमशः १००, १५० एवं २०० पणों का दण्ड दिया जाता था अथवा नारद ने शूद्र के लिए वध दण्ड की घोषणा की है। जबकि इसके विपरीत ब्राह्मण द्वारा क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र को गाली दिये जाने पर ५०,२५ व १२ पणों का दण्ड देना पड़ता था।[६] गौतम ने शूद्र का अपमान करने वाले ब्राह्मण को अदण्डय कहा है।[७] समानजातीय को गाली देने पर १२ पणों का दण्ड व माँ-बहिन की गाली देने पर २४ पणों का दण्ड लगाया जाता था। नारद के अनुसार जब दो पक्ष समान काल में एक साथ ही गाली गलौच करते हैं तब उन्हें एक जैसा ही दण्ड देना चाहिए।[८] याज्ञवल्क्य व बृहस्पति भी ब्राह्मण द्वारा अन्य वर्णो को गाली दिये जाने पर दण्ड के विषय में मनु से सहमत हैं।[९] लेकिन बृहस्पति के अनुसार बिना अपराध शूद्र को गाली देने वाला ब्राह्मण ही दण्ड का भागी होता था, अन्य नहीं। मनु के विचार में यदि समवर्ण एक दूसरे को गाली देते है तो बारह पण व

---

१. देशग्रामकुलादीनां क्षेपः पापेन योजनम्। द्रव्यं विना तु प्रथमं वाक्पारूष्यं तदुच्यते।।
भगिनी भ्रातृसंबद्धमुपपातकशंसनम् पारूष्यं मध्यमं प्रोक्तं वाचिकं शास्त्रवेदिभिः।।
अभक्ष्यापेयकथनं महापातकदूषणम्। पारूष्यमुत्तमं प्रोक्तं तीव्रर्मातिपातनम्।। याज्ञम व्यवहाराय०, अपरार्क टीका, २/२०३

२. कात्यायन, ७६८-७७२

३. शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽप्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति। मनु०, ८/२६७ अपिच, ८/२६८

४. प्रातिलोम्यापवादेषु द्विगुणत्रिगुणा दमाः।
वर्णानामानुलोम्येन तस्मादर्धार्धहानितः। याज्ञ० २/२०७

५. शतं ब्राह्मणमाक्रुश्य क्षत्रियो दण्डमर्हति।
वैश्योऽध्यर्ध शतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति।। ना०स्मृ०, वाक्पारूष्य १५

६. शतं क्षत्रियोब्राह्मणाक्रोशे। अध्यर्धं वैश्यः। गौ०ध०सू०, ३/२/६-७ ना०स्मृ० ४ वाक्पारूष्य /१६

७. न शूद्रे किंचित्। गौ०ध०सू०, १२/१० (३/२/१०)

८. नारद, ४ वाक्पारूष्य /८-९

९. विप्रेशतार्द्धं दण्डस्तु क्षत्रियस्याभिशंसने।
विशस्तथार्द्धं-पञ्चाशच्छूद्रस्यार्द्धत्रयोदश।। बृहस्पति, वीरमित्रोदय, पृ० ३८२

गर्हित बात कहने पर २४ पण का दण्ड मिलता था।[१] बृहस्पति के अनुसार समान जाति के लोगों के द्वारा प्रयुक्त अपशब्दों में समान दण्ड की व्यवस्था थी व वर्ण भिन्नता की दशा में निम्न (चाण्डाल) वर्णी को अधिक दण्ड देना पड़ता था।[२]

अपिच, निम्न वर्णी शूद्र के द्वारा यदि उच्च वर्णों की निन्दा की जाती थी तो उसकी जिह्वा छेदन का भी विधान था।[३] आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी इसी विधान का उल्लेख मिलता है।[४] गौतम का कहना है कि जिस अंग से शूद्र द्विजातीयों पर प्रहार करता है उसका वही अंग काट देना चाहिए।[५] अर्थात् वाणी द्वारा प्रहार करने पर जिह्वा का छेदन करना चाहिए। कौटिल्य के अनुसार चाण्डाल के द्वारा शूद्रादि (वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण) की निन्दा करने पर तीन, छः, नौ व बारह पण दण्ड का विधान था। उसके विपरीत ब्राह्मण द्वारा चाण्डालादि (शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय) की निन्दा करने पर अपेक्षाकृत कम दण्ड का निर्धारण किया गया था।[६] वाग्जीवियों (पढ़ाई, विद्वता, योग्यता आदि को लेकर) के परस्पर एक दूसरे की निन्दा करने पर, शिल्पी व गायको आदि की आजीविका के सम्बन्ध में परस्पर निन्दा करने पर, भिन्न-भिन्न देशवासियों के द्वारा परस्पर देश विषयक निन्दा करने पर भी उपर्युक्त दण्ड का ही विधान किया गया था।[७] निन्दा करने विषयक दण्ड के विषय में मनु शूद्र के प्रति अधिक कठोर प्रतीत होते हैं। उनकी दण्ड व्यवस्था जाति से प्रभावित थी। आक्रोश से ब्राह्मणादि का नाम व जाति से (नाम लेकर) कटु वचन (अरे नीच ब्राह्मण) कहने पर शूद्र के मुख में दस अङ्गुल लम्बी लोहे की कील ठोकने के दण्ड का विधान किया गया है। यदि शूद्र अभिमानवश ब्राह्मण को धर्मोपदेश देता है तो उसके मुँह व कान में गर्म-२ तेल डालने के दण्ड का विधान किया गया

---

१. समवर्णे द्विजातीनां द्वादशैव व्यतिक्रमे।
वादेष्ववचनीयेषु तदेव द्विगुणं भवेत्।। मनु ०, ८/२६९ अपिच, ना०स्मृ०, (वाक्पारूष्य) /१७

२. समानयोः समो दण्डो न्यूनस्य द्विगुणो दमः। उत्तमस्यार्धिकः प्रोक्तो वाक्पारूष्ये परस्परम्।।
बृहस्पति, वीरमित्रोदय में उद्धृत, पृ०३८१

३. धर्मोपदेशकर्ता च वेदोदाहरणान्वितः।
आक्रोशकस्तु विप्राणां जिह्वाच्छेदेन दण्डयते। वही, पृ० ३८८२

४. जिह्वाच्छेदनं शूद्रस्यार्थं धार्म्मिकमाक्रोशतः।
आ०ध०सू०, २/१०/२७/१४

५. शूद्रो द्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च।
वाग्दण्डपारूष्याभ्यामङ्गमोच्यो येनोपहन्यात्।। गौ०ध०सू० २/३/१ व
येन केनचिदङ्गेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम् ।। मनु०, ८/२७९

६. प्रकृत्युपवादे ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रान्तावसायिनामपरेण
पूर्वस्य त्रिपणोत्तरा दण्डाः। पूर्वेणापरस्य द्विपणाधराः कौ० अ०, ३/१८

७. वही, ३/१८

है।[१] शूद्र के लिए निर्दिष्ट मनु के दण्ड विधान से नारद[२] पूर्णतः सहमत हैं व बृहस्पति[३] भी लगभग उपर्युक्त मत को मानते प्रतीत होते हैं। गौतमधर्मसूत्र के अनुसार शूद्र द्वारा वेदपाठ सुनने, वेदमन्त्रों का उच्चारण करने व वेदमन्त्र धारण करने पर क्रमशः कानों में सीसे भरने का, जिह्वा काट लेने व सम्पूर्ण शरीर को नष्ट करने का दण्ड दिया जाता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ पर नारद व बृहस्पति आदि पश्चात्भावी धर्मशास्त्रकारों ने मनु द्वारा स्वीकृत कठोर दण्ड व्यवस्था का समर्थन किया है वहीं पर याज्ञवल्क्य ने दण्डव्यवस्था को उतना कठोर नहीं बनाया है। अपंगों को उनकी अपगंता का एहसास कराने वाले वाक्य अर्थात् काने को काना व लंगड़े को लंगड़ा कहने पर कम से कम एक कार्षापण का दण्ड देने की व्यवस्था थी।[४] याज्ञवल्क्य का भी ऐसा ही मत है।[५] कौटिल्य के अनुसार काने को काना व लंगड़े को लंगड़ा कहने पर तीन पण, झूठी निन्दा करने वाले को छः पण व व्याजस्तुति (नेत्रहीन के नेत्रों की तारीफ करना) से निन्दा करने वालों को बारह पण का दण्ड देने का विधान है। कोढ़ी, पागल या नपुंसक आदि कहकर निन्दा करने वाले को भी पण का दण्ड दिया जाता था।[६] यदि कोई व्यक्ति अपने बराबर वालों की सच्ची, झूठी तथा व्याजस्तुति से निन्दा करता था तो उस पर क्रमशः १२, २४ व ३६ पण का दण्ड होता था। बड़ों के साथ इस प्रकार (निन्दा करने पर) करने पर दुगुना व छोटों के साथ इस प्रकार निन्दा करने पर आधा दण्ड दिया जाता था। दूसरों की स्त्रियों के साथ ऐसा व्यवहार करने पर निन्दा करने वाले को दुगुना दण्ड देना पड़ता था। यदि निन्दा का कारण पागलपन, मद या मोह होता था तो दण्ड का परिमाण पहले से आधा रह जाता था।[७]

---

१. मनु०, ८/२७०-२७२

२. ना० स्मृ०, वाक्पारूष्य २२-२४,

३. बृहस्पतिस्मृति, २०/१२

४. काणं वाऽप्यथवा खञ्जमन्यं वाऽपि तथाविधम्।
तथ्येनापि ब्रुवन्दाप्यो दण्डं कार्षापणावरम्।। मनु०, ८/२७४ नारद स्मृति, १५/१७

५. सत्यासत्यान्यथास्तोत्रैर्न्यूनाङगेन्द्रियरोगिणाम्।
क्षेपं करोति चेद्दण्डयः पणानार्धं त्रयोदशान्।। याज्ञ०, २/२०४

६. शरीरप्रकृतिश्रुतवृत्तिजनपदानां शरीरोपवादेन काणखञ्जादिभिः
सत्ये त्रिपणो दण्डः। मिथ्योपवादेषट्पणोदण्डः।
शोभनाक्षिदन्त दति काणखंजादीनां स्तुतिनिन्दायां
द्वादशपणो दण्डः। कुष्ठोन्मादकलैव्यादिभिः कुत्सायां च
सत्यमिथ्यास्तुतिनिन्दासु द्वादशपणोत्तरा दण्डास्तुल्येषु। कौ०अ०, ३/१८

७. वही

कात्यायन के अनुसार यदि कोई किसी को पतित या चोर के साथ रहने के लिए मना करता है तो उसे किसी प्रकार का दण्ड नहीं दिया जाता था लेकिन निर्दोष व्यक्तियों को चोर अथवा पतित कहने पर दण्ड का विधान था। लेकिन अपराधकर्ता के द्वारा यह मान लेने पर कि उसने अबोधता, अज्ञानता, बैर या मित्रतावश ऐसा कहा है, भविष्य में ऐसा नहीं करेगा तो केवल आधा ही दण्ड दिया जाता था।[१] अपिच, माता-पिता, भाई-बहन व गुरु आदि को अपशब्द कहने पर व उनके लिए मार्ग न छोड़ने पर एक सौ पण का दण्ड विधान था।[२]

कौटिल्य के अनुसार मारने-पीटने की धमकी देने पर भी पूर्वोक्त दण्ड (धमकी देकर करने वाले की अपेक्षा) से आधा दण्ड देना चाहिए।[३] याज्ञवल्क्य ने पृथक्-२ अंगों को तोड़ने की धमकी देने पर पृथक्-२ दण्ड विधान की कल्पना की है।[४] अपिच, देश व ग्राम की निन्दा करने वालों को प्रथम साहस अर्थात् २५० पणों का दण्ड व जाति और समाज की निन्दा करने वालों को मध्यम साहस (५०० पण) का दण्ड दिया जाता था। देवता, देवालय, राजा या विद्वान के निन्दक को उत्तम साहस का दण्ड (१०००) दिया जाता था।[५]

दण्डपारूष्य

दण्डपारूष्य की परिभाषा करते हुए कौटिल्य का कहना है कि आघात पहुँचाने के लिए किसी का स्पर्श करना आक्रोशपूर्ण (चोट पहुँचाने की) धमकी देना अथवा हाथ पैर से आघात पहुँचाना ही दण्ड पारूष्य है।[६] दण्डपारूष्य के स्वरूप को बताते हुए नारद कहते हैं– हाथ पैर से, हथियार से अथवा ढेले आदि से शरीर पर घाव करना या भस्मादि (धूल, कीचड़) से शरीर को छूना दण्डपारूष्य है।[७] मिताक्षराकार के अनुसार तो पेड़-पौधों को काटना व पशुओं को पीड़ा पहुँचाना

---

१. मोहात्प्रमादात्संहर्षात् प्रीत्या वोक्तं मयेति यः।
नाहमेवं पुनर्वक्ष्ये दण्डार्थं तस्य कल्पयेत्।धर्मकोश, vol-१, भाग-३ पृ० १७९१ में उद्धृत

२. मातरं पितरं जायां भ्रातरं तनयं गुरुम्
आक्षारयञ्छतं दाप्यः पन्थानं चाददत् गुरोः।। मनु, ८/२७५

३ यः परम् 'एवं त्वां करिष्यामि' इति करणेनाभिभर्त्सयेदकरणे,
यस्तस्य करणे दण्डस्ततोऽर्धदण्डं दधात्। कौ०अ०, ३/१८/४

४. बाहुग्रीवानेत्रसक्थिविनाशे वाचिके दमः।
शत्यस्तदर्धिकः पादनासाकर्णकरादिषु।। याज्ञ०, २/२०८

५. स्वदेशग्रामयोः पूर्वं मध्यमं जातिसंघयोः। आक्रोशाद्देवचैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति। कौ०अ०, ३/१८
त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेप उत्तमसाहसः। मध्यमो जातिपूगानां प्रथमो ग्रामदेशयोः।। याज्ञ०, २/२११

६. दण्डपारूष्यं स्पर्शनमवगूर्णं प्रहतमिति। कौ०अ०, ३/१९/१

७. परगात्रेष्वभिद्रोहोहस्तपादायुधादिभिः।
भस्मादिभिश्चोघातो दण्डपारूष्यमुच्यते। ना०स्मृ०, दण्डपारूष्यम् /४
तुलनीय, वर्तमानविधिनियम, धारा ३१९-३७७ whoever causes bodily pain, disease or infirmity to any person is said to cause hurt

भी दण्डपारूष्य है।[१] नारद ने वाक्पारूष्य के समान दण्डपारूष्य के भी तीन भेद स्वीकार किये हैं– प्रथम, मध्यम उत्तम। प्रहार के लिए हस्त या अस्त्र उठाना– प्रथम दण्डपारूष्य, अचानक आक्रमण करना– मध्यम दण्डपारूष्य व घायल करना– उत्तम दण्डपारूष्य कहा गया है।[२] बृहस्पति के अनुसार हाथ, पत्थर, लाठी, राख, कीचड़, धूल या हथियार से प्रहार करना दण्डपारूष्य कहलाता है।[३]

दण्डपारूष्य के लिए धर्मशास्त्रों में दण्ड की व्यवस्था मिलती है। धर्मसूत्रों में यह व्यवस्था इतने विस्तार के साथ नहीं मिलती जितने विस्तार से स्मृतियों में इसका निरुपण किया गया है। लेकिन दण्ड का निर्धारण करने में जाति के आधार पर बनाये गये पक्षपातपूर्ण नियम कहीं-२ अमानवीय भी हो गये हैं। मनु के अनुसार शूद्र के द्वारा द्विजाति के जिस अंग पर क्षति की जाती थी प्रहारकर्त्ता शूद्र के उसी अंग पर प्रहार कर अंग काटकर पृथक् करने का विधान था। यथा ब्राह्मण पर थूक फैंकने पर ओष्ठों को कटवाने का दण्ड विधान था।[४] लेकिन यदि ब्राह्मण को न मारकर केवल मारने के लिए शस्त्र उठाया हो तो उस अंग को काटकर प्रथम साहस (२५०पण) का दण्ड होता है और शस्त्र का स्पर्शकर छोड़ने वाले को उसका आधा दण्ड देना पड़ता है।[५] गौतमधर्मसूत्र में भी शूद्र के द्वारा ब्राह्मण पर प्रहार करने पर अङ्गभङ्ग की बात कही गयी है।[६] लेकिन यदि क्रुद्ध होकर किसी ब्राह्मण के ऊपर हाथ या हथियार उठाया जाय तो उस व्यक्ति का सौ वर्षों तक स्वर्ग से बहिष्कार होता है, ब्राह्मण को मार देने पर सहस्त्रवर्षों तक स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती व मारने से खून निकलने पर जितने खून की बूंदें निकलती हैं उतने वर्षों

---

१. परगात्रेषु स्थावरजङ्गमात्मकद्रव्येषु
तदुभयं दण्डपारूष्यम् । याज्ञ०, २:२१२ पर मिताक्षरा, (देखिये, भारतीय दण्ड संहिता, धारा ४२७-४४० तक)

२. तस्यापि दृष्टं त्रैविध्यं हीनमध्योत्तमक्रमात्
अवगूरणनिश्शङ्कपातक्षतजदर्शनैः।
हीनमध्योत्तमक्रमात्। व्य०प्र० १५/५-६ ना०स्मृ०, दण्डपारूष्यम्/५-६

३. हस्तपाषाणलगुडैर्भस्मकर्दमपांशुभिः
आयुधैश्च प्रहरणं दण्डपारूष्यमुच्यते।।
स्मृ०च०, व्यवहारकाण्ड, पृ० १४

४. मनु०, ८/२७९-२८३ अपिच,
अवनिष्ठीवतो दर्पाद्द्वावोष्ठौ छेदयेन्नृपः।
अवमूत्रयतो मेढ्रमवशर्धयतो गुदम्।। ना० स्मृ०, दण्डपारूष्यम् २७

५. विप्रपीड़ाकरं छेद्यमङ्गमब्राह्मणस्य तु।
उद्गूर्णे प्रथमो दण्डः संस्पर्शे तु तदर्धिकः। याज्ञ०, २/२१५

६. शूद्रोद्विजातीनभिसंधायाभिहत्य च वाग्दण्डपारूष्याभ्यामङ्गमोच्यो येनोपहन्यात्।
गौ०ध०सू०, २/३/१

तक उसे स्वर्ग नहीं मिलता है।[१] याज्ञवल्क्य ने थूक आदि फैंकने पर मनु व नारद के समान अंग-भंग के दण्ड की व्यवस्था न करके उसके लिए केवल अर्थदण्ड की व्यवस्था की है। इससे याज्ञवल्क्य की दण्ड के विषय में तीव्रता में कमी दिखाई पड़ती है। लेकिन भूल व विक्षिप्तावस्था में ऐसा करने से दण्ड नहीं होता।[२] कात्यायन का मत है कि जिस प्रकार वाक्पारूष्य में दण्ड जाति के अनुसार दिया जाता है उसी प्रकार दण्डपारूष्य में भी होता है। यदि अपराधी मार खाने वाले से हीन जाति का हो तो उसे अधिक दण्ड दिया जाता है। तथा यदि मारने वाला मार खाने वाले से उच्च जाति का हो तो कम दण्ड दिया जाता है।[३] कात्यायन के उक्त मत का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी को मुख से धमकाता है या हाथ-पैर से प्रहार करता है तो उलटकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना दण्डनीय नहीं था। जैसा कि बृहस्पति ने स्पष्ट लिखा है– गाली के बदले गाली व मारपीट के बदले मारपीट करना अपराध नहीं है।[४] बृहस्पति के अनुसार शूद्रादि (अछूतों), जुआरियों, दासों, म्लेच्छों आदि को उच्चवर्णी लोगों के प्रति अपराध करने पर ताड़न दण्ड दिया जाता था न कि अर्थ दण्ड।[५] धर्मशास्त्रों में समानजाति में होने वाले झगड़ों के दण्ड के विषय में भी उल्लेख मिलता है। निम्नजाति के द्वारा उच्च जाति के प्रति किये गये अपराध के दण्डपारूष्य से भिन्न समानजाति वालों के कलहों में भिन्न प्रकार की दण्डव्यवस्था की गयी है। लेकिन ये दण्डविधान अपराध के प्रकार पर निर्भर करता है।[६] हाथ-पैर वस्त्र अथवा केश पकड़-कर खींचने पर, घसीटने पर अथवा पैर से मारने पर १६ से १०० पण तक का दण्ड, हाथ-पैर तोड़ने तथा नाक-कान काटने, आँख व जिह्वा को क्षति पहुँचाने

---

१. अभिक्रुद्धावगोरणं ब्राह्मणस्य वर्षशतमस्वर्ग्यम्। निघाते सहस्रम्।
लोहितदर्शने यावतस्तत्प्रस्कन्ध पांसून्संगृहणीयात्।।
गौ०ध०सू०, ३/३/२०-२२, तै०सं०, २/६/१०/२ मनु०, ११/२०६-२०७

२. याज्ञ०, २/२१३-२१४

३. वाक्पारूष्ये यथैवोक्ताः प्रातिलोम्यानुलोमतः।
तथैव दण्डपारूष्ये जात्या दण्डा यथा क्रमम्।।
कात्यायन, ७८६, परा. मा., ३३ पृ.ख ४१८

४. आक्रुष्टस्तु समाक्रोशंस्ताडितः प्रतिताडयन्।
हत्वापराधिनं चैव नापराधी भवेन्नर।।
बृहस्पति, २१/४, वीरमित्रोदय में उद्धृत, पृ० ३७१

५. प्रातिलोम्यास्तथा चान्त्याः पुरूषाणां मला स्मृताः।
ब्राह्मणातिक्रमे वध्या न दातव्या धनं क्वचित्।।
बृहस्पति, २१/१५ जॉली अनुवाद

६. याज्ञः, २/२१३-२२२

पर, भुजा या कंधा तोड़ने पर, मुख पर काजल पोतने पर पाँच सौ पण का अर्थ दण्ड का विधान किया गया था। इसके अतिरिक्त यदि एक व्यक्ति को घेरकर मिलकर कई व्यक्ति आघात पहुँचाते हैं तो दुगुना दण्ड देना पड़ता था।[१] नारद व बृहस्पति के उद्धहरणों में सामूहिक रूप से चोट पहुँचाने का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन हत्या के संदर्भ में उद्धरण मिलते हैं। अस्थियों को तोड़नेवाले को निर्वासन का दण्ड मिलता था। इसी प्रकार प्रत्येक अंग पर की गयी चोट के दण्ड के विधान है।[२]

पशुओं को मारने पर दण्डविधान–

न केवल मनुष्य पीड़न के अपराध अपितु धर्मशास्त्रों में पशुपीड़न के अपराधों में भी दण्डव्यवस्था दर्शनीय है। बकरी, भेड़ हरिण जैसे पशुओं को मारकर रुधिर निकालने पर व सींग आदि निर्जीव अंग काटने पर दण्ड की व्यवस्था मिलती है। मनु ने पशुओं को मार डालने पर या पीटने पर कई प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की है जो कि उनके मूल्य पर निर्भर करती है। यथा– छोटे पशुओं की हिंसा करने पर दो सौ पण दण्ड, मृग तथा पक्षियों की हिंसा करने पर पचास पण दण्ड, गधा, भेड़, बकरी की हिंसा पर पांच मासे चाँदी का दण्ड, कुत्ता व सूअर के मारने पर एक मासा चाँदी का दण्ड देने की परम्परा स्मृतियुग में व्यवस्थित थी।[३] परन्तु याज्ञवल्क्य का मत पशुहिंसा को लेकर कुछ भिन्न था। उदाहरणतः छोटे पशुओं को मारने या उनके अंग काटने पर दो पण से आठ पण तक का दण्ड तथा पशु का मूल्य भी देना होता था। मूल्यवान पशुओं को क्षति पहुँचाने पर १६ पण (दुगुणा दण्ड) की व्यवस्था थी।[४] कौटिल्य ने भी गाय-भैंस आदि बड़े पशुओं की हिंसा पर दुगुना दंड व अपराधी द्वारा पशुओं की औषधि का व्यय देने की बात की है।[५] मनु

---

१. एकं घ्नतां बहूनां च यथोक्ताद् व्दिगुणो दमः।
कलहापहृतं देयं दण्डश्च द्विगुणस्ततः। याज्ञ. २/२२१
महाजनस्यैकं घ्नतः प्रत्येकं व्दिगुणो दण्ड : कौ. अ. ३/१९

२. मनु. ८/२८४ बृहस्पतिस्मृति, २१/८-९

३. क्षुद्रकानां पशूनां तु हिंसायां व्दिशतो दमः।
पञ्चाशत्तु भवेद् दण्डः शुभेषु मृगपक्षिषु।।
गर्दभाजाविकानां तु दण्डः स्यात्पञ्चमाषिकः।
माषिकस्तु भवेद् दण्डः श्वसूकरनिपातने।। मनु. ८/२९७, २९८

४. याज्ञ. २/२२५-२२६
मनुष्याणां पशूनां च दुःखाय प्रहृते सति।
यथा यथा महद् दुःखं दण्डं कुर्यात्तथा तथा।। मनु. ८/२८६

५. महापशूनामेतेष्वेव स्थानेषु व्दिगुणो दण्डः समुत्थानव्ययश्च। कौ. अ., ३/१९
तुलनीय, भारतीय दंड संहिता, धारा ४२८- whoever commits mischief by killing, poisoning, maiming (permanent injury) or rendering useless, any animal or animals of the value of ten rupees or upwards shall be punished with imprisonment of either description for a term which may extend to two years, or with fine, or with both.

ने पशुओं के स्वरूप के आधार पर पृथक्-२ दण्डों की व्यवस्था की है।[१] बृहस्पति के अनुसार थके व भूखे-प्यासे भारवाहक पशुओं से बोझा ढुलवाने पर ही गाय की हिंसा करने वाले के समान या प्रथम साहस दण्ड का विधान किया है।[२] जो कि मनु के दण्ड विधान का विस्तार प्रतीत होता है। कात्यायन ने पालतु पशुओं के वध पर व अपालतु सर्प, बिल्ली, नेवला, सूअर आदि के वध पर दो से बारह पण दण्ड का उल्लेख किया है। अपिच, यदि कोई युवा गाय अथवा देवताओं को अर्पित पशुओं से बोझा ढुलवाता था तो उसे प्रथम साहस दण्ड व इन पशुओं की हत्या करने पर सर्वोच्च दण्ड देना पड़ता था।[३]

वृक्षों आदि के दण्डपारूष्य की दण्डविधि–

धर्मशास्त्रों में वृक्षों आदि को काटने के विषय में भी दण्ड की व्यवस्था की गयी है मनु के अनुसार वनस्पतियों के उपभोग के आधार पर उनको नष्ट करने वाले को उत्तम मध्यम आदि दण्ड देने का विधान है।[४] कौटिल्य ने इस विषय में विस्तार के साथ लिखा है। बाग-बगीचों के फल-फूल तथा छायादार वृक्षों के पत्ते आदि तोड़ने पर छः पण दण्ड, शाखाओं की टहनियाँ तोड़ने पर १२ पण दण्ड, मोटी शाखाओं को काटने पर प्रथम से मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था।[५] परन्तु सीमा निर्धारण के वृक्ष, देवालयों, राजचिह्नित वृक्ष, राजभवन के वृक्ष आदि को क्षति पहुँचाने पर उक्त वर्णित दण्ड का दुगुना दण्ड देने का विधान था।[६] जबकि याज्ञवल्क्य ने मनुष्य की जीविका निर्वाह के साधन आम आदि वृक्ष की कोंपलों से युक्त डालों को, तने को अथवा सम्पूर्ण वृक्ष काटने पर क्रमशः २०, ४० व ८० पण दण्ड का विधान किया है व धार्मिक स्थानों श्मशानों आदि के वृक्ष और पीपल पलाश के वृक्ष काटने पर उपरोक्त दण्ड से दुगुने दण्ड का विधान किया है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार की लताओं का उल्लेख याज्ञवल्क्य ने उनको कष्ट दिये जाने पर अपेक्षाकृत कम दण्ड की व्यवस्था की है।[७] नारद व बृहस्पति ने वृक्षसंबन्धि

---

१. देखिए, पिछला पृष्ठ, संदर्भ-३

२. He who employs at an improper time, for drawing or carring, tired.or hungry or thirsty animals, shall be compelled to atone for it in the same way as a caw killer, or to pay the first fine Brhaspati, २१/१६, Jolly translation p. ३५९

३. कात्यायन, ७९०-७९२ (काणे अनुवाद)

४. वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा।
तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा। मनु. ८/२८५

५. कौ. अ., ३/१९

६. सीमावृक्षेषु चैत्येषु द्रुमेष्वालक्षितेषु च।
त एव व्दिगुणा दण्डाः कार्या राजभवनेषु च।। वही, ३/९/१

७. याज्ञ., २/२२७-२२९

अपराधों का उल्लेख नहीं किया है। याज्ञवल्क्य व कौटिल्य ने मुद्गर आदि से दीवार तोड़ने, सेंध लगाने व दीवार गिराने को भी दण्डपारूष्य के अन्तर्गत गिनाकर दण्ड का विधान किया है।[१] मनु ने सारथि (रथचालक) की मूर्खता के कारण किसी की मृत्यु हो जाने पर सारथि के स्वामी पर दो-सौ पण दण्ड का विधान किया है लेकिन सारथि के चतुर होने पर दण्ड का भागी स्वयं सारथि ही को माना गया है।[२] मनुस्मृति में सगे सम्बन्धियों द्वारा अपराध किये जाने पर भी दण्ड का विधान किया गया है। स्त्री, पुत्र, दास, भृत्य-अनुज द्वारा अपराध करने पर रस्सी या बाँस की छड़ी से ताडन का दण्ड देने का विधान है।[३] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि इस प्रकार के अपराधों में साक्षी के बिना किसी पर एकान्त में मारने-पीटने का अभियोग लगाया जाता था तो राजा का कर्त्तव्य हो जाता था कि चिह्नों, युक्ति (कारण, प्रयोजन, पर्यालोचन) और आगम द्वारा उसकी परीक्षा करके ही दण्ड का निर्धारण करे[४] अर्थात् यह देखा जाय कि कहीं चोट आदि के झूठे चिह्न तो नहीं बनाये गये हैं। बृहस्पति व कात्यायन ने भी कलह के कारण के अज्ञात होने पर साक्षियों या दिव्यों का सहारा लेने की बात कही है।[५]

स्तेय

स्तेय का अर्थ है चोरी करना। धर्मशास्त्रों में चोर व चोरी की परिभाषा पृथक्-२ रूप से की गयी है। मनुस्मृति में कहा गया है कि वस्तु स्वामी के सामने से बलात्पूर्वक किसी वस्तु का अपहरण करना साहस कहलाता है व वस्तुस्वामी के परोक्ष में (गुप्तरूप से, चुपके से) वस्तु का अपहरण करना स्तेय कहलाता है।[६] इस प्रकार मनु ने स्तेय को साहस से पृथक् माना है। मनु के समान कौटिल्य व नारद भी स्तेय व साहस को पृथक्-पृथक् मानते हैं।[७] स्तेय की परिभाषा करते हुए

---

१. अभिघाते तथा रवेदे भेदे कुडयावपातने।
पणान्दाप्यः पञ्च दश विंशति तद्द्वयं तथा।
याज्ञ., २/२२३। परकुडयमभिघातेन क्षोभयतस्त्रिपणोदण्डः।
छेदनभेदने षट्पणः। पातनभञ्जने व्दादशपणः प्रतिकारश्च। कौ. अ०, ३/१९

२. मनु., ८/२९३-२९४

३. वही, ८/२९९-३००

४. असाक्षिकहते चिह्नैर्युक्तिभिश्चागमेन च।
द्रष्टव्यो व्यवहारस्तु कूटचिह्नकृतो भयात्। याज्ञ., २/२/२

५. बृहस्पति, २१/११ (जॉली अनुवाद)
कात्यायन, ७७९ (काणे अनुवाद)

६. स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्।
निरन्वयं भवेत्स्तेयं हत्वाऽपव्ययते च यत्।। मनु., ८/३३२

७. सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद् बलदर्पितैः।।
तत साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते
तस्यैव भेदः स्तेयं स्याद्विशेषस्तत्र तूच्यते।
आधिः साहसमाक्रम्य स्तेयमाधिश्छलेन तु।। ना. संहिता, ४/१४/१, १२

नारद का कहना है कि सोते हुए, असावधान अथवा उन्मत्त लोगों के धन का विभिन्न उपायों व छल से हरण करना चोरी कहलाता है।[१] कात्यायन के अनुसार दूसरे के द्रव्य का हरण गुप्त रूप से या खुले रूप से रात्रि अथवा दिन में करना ही स्तेय है।[२]

धर्मशास्त्रकाल में धरोहर हड़पने, दूसरे की वस्तु को अपनी बताने, अनुचित रूप में सम्पत्ति का आदान करने, चोर को संरक्षण प्रदान करने, वस्तु को अनुचित मूल्य पर क्रय-विक्रय करने, वस्तु में मिलावट करने, सेंध लगाने वाले कर्मों को स्तेय माना जाता था।

स्तेय वस्तु की भिन्नता के अनुसार इसके तीन भेद किये गये हैं।[३]

साधारण स्तेय— मिट्टी के बर्तन, आसन, खाट, लकड़ी के उपकरण, खाल, घास व भोजन की चोरी।

मध्यमस्तेय— सूती व ऊनी वस्त्र (रेशम को छोड़कर) गाय व बैल के अतिरिक्त अन्य पशु, सोने के अतिरिक्त अन्य धातु (चाँदी, लोह, कांस्य एवं चावल व जौ की चोरी।

गम्भीर स्तेय— स्वर्ण आभूषण, रेशम के वस्त्र, पालतु-पशु, हाथी-घोड़े, स्त्रियाँ व पुरुष अथवा मन्दिरों के धन की चोरी गम्भीर स्तेय कहलाता है।

चोरी के प्रकारों का निर्देश करने के साथ-२ चोरों के प्रकारों का भी निर्देश किया गया है। मनु एवं बृहस्पति के अनुसार चोरों के दो प्रकार हैं—

१. प्रकाश (चोर) व अप्रकाश (चोर)[४]

गलत तराजू व बटखरों का प्रयोग कर माल या अन्न की चोरी करने वालों को प्रकाश चोरों की श्रेणी में रखा गया था। जुआरी, मिथ्या (नकली) चिकित्सक, उत्कोच लेने वाला, वेश्याएँ, नकली वस्तुओं के व्यापारी, जादू या हस्तरेखा से देखकर न जानते हुए भविष्यवाणी करने वाले असत्यसाक्षी भी प्रकट चोरों की श्रेणी

---

१. उपायैर्विविधैः सर्वैः कल्पयित्वापकर्षणम्।
सुप्तप्रमत्तमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिणः। ना. स्मृ., साहसम् /१७

२. कात्यायन, ८१० काणे में उद्धृत

३. क्षुद्रमध्यमहाद्रव्यहरणे सारतो दमः।
देशकालवयःशक्तिसंचिन्त्यं दण्डकर्मणि। याज्ञ., २/२७५
मृद्भाण्डासनखट्वास्थि-------द्रव्यं विज्ञेयमुत्तमम्।।
नारद, १७/१३-१६ याज्ञ. मिताक्षरा में उद्धृत

४. प्रकाशांश्चाप्रकाशांच चारचक्षुर्महीपतिः। मनु. ९/२५६
प्रकाशाश्चाप्रकाशाश्चतस्करा द्विविधो स्मृताः।
प्रज्ञासामर्थ्यमायाभिः प्रभिन्नास्ते सहस्रधा। बृहस्पति, २२/१

में आते थे।[१] चुंगी बचाने वाले व्यापारी अथवा निर्धारित समय के अतिरिक्त क्रयविक्रय करने वाले अथवा गलत वजन बताकर सौदा करने वालों को भी चोर ही माना जाता था।[२]

अप्रकाशचोर– छिपे रूप से दूसरों को सामान उठाने वाले, सेंध मारने वाले, जेब कतरे, यात्रियों को लूटने वाले, पुरुष-स्त्री एवं पशुओं को चुरानेवालों को अप्रकाश चोर कहा गया है। बृहस्पति के अनुसार अपनी प्रतिभा व योग्यता आदि के आधार पर वे कई प्रकार के होते हैं।[३] जबकि व्यास ने इन्हें मुख्य रूप से नौ प्रकार का कहा है।[४]

धर्मशास्त्रों में उक्त सभी प्रकार के चोरों का पता लगाने व उनको पकड़ने की विधियों का भी उल्लेख किया गया है। मनु के अनुसार तस्करों के नाश के लिए राजा को अपने गुप्तचरों को नियुक्त करना चाहिए जो सभाओं, प्याउ, वेश्यागृह, होटल, मदिरालय, धानादि स्थानों पर जाकर चोरों का पता लगायें।[५] अपिच, चोरों के सहायक व जानकार पुराने निपुण चोरों को अपने गुप्तचर बनाकर राजकीय गुप्तचरों के साथ चोरों का पता लगाने के लिए भेजे व उनका नाश करे।[६] नारद के अनुसार रात्रि में घूमने वाले चाण्डाल आदि को चोरों को ढूँढने के लिए नियुक्त करना चाहिए। बृहस्पति भी उपर्युक्त बातों का ही उल्लेख करते हैं।[७]

याज्ञवल्क्य के अनुसार लोगों के द्वारा जिसे चोर कहा जाय उसके पास चोरी की वस्तु मिलने पर, चोरी का चिह्न मिलने पर, चौर्यपद का अनुकरण करने से, पहले अपराधी होने व निवास स्थान का सही ज्ञान न होने पर, ऐसे व्यक्ति को चोरी के सन्देह में पकड़ा जा सकता है। अपिच, अपनी जाति और नाम छुपाने वाले, जुआ, वेश्या-गमन और मद्यपान आदि व्यसन में लिप्त रहने वाले, प्रश्नादि पूछने

---

१. मनु. ९/२५७-२६०
नारद परिशिष्ट, २-३, बृहस्पति, Sacred Books of the east vol.३३ पृ०३६०, verse ३-४

२. शुल्कस्थानं परिहरन्नकालेक्रयविक्रयी।
मिथ्यावादी च संख्याने दाप्योऽष्टगुणमत्ययम्।। मनु०, ८/४००

३. House breakers, highwaymen, robbers of bipeds or quadrupeds, Thieves of clothes and the like, and stealers of grain, should be considered secret thieves,बृहस्पति २२/५ जॉली अनुवाद

४. उत्क्षेपकः सन्धिभेत्ता पान्थमुङ ग्रन्थिभेदकाः।
स्त्रीपुंगोश्वपशुस्तेयी चौरो नवविधः स्मृतः।।
व्यास, स्मृ. च., भाग-२ पृ. ३१८ में उद्धृत।

५. मनु. ९/२६७-२६८

६. नारद, १४/२४-२६ (जॉली अनुवाद, पृ० २०६)

७. बृहस्पति, २२/६ (जॉली अनुवाद)

पर जिनका मुख सूख जाता है व जो ठीक से बोल नहीं पाता दूसरे के घर के विषय में पूछने वाले को वेष बदलकर गुप्त स्थान पर रहने वाले, आय न होने पर भी खुले हाथों से खर्च करने वाले व खोई हुई वस्तुओं को बेचने वाले—ये सभी, चोरी का सन्देह होने पर पकड़ने योग्य व्यक्ति हैं।[१] याज्ञवल्क्य के समान ही नारद का भी मत है।[२] उनके अनुसार केवल सन्देह होने पर ही किसी का अपराध सिद्ध नहीं होता अतः राजा को भली प्रकार से छानबीन करनी चाहिए क्योंकि निरपराधी व्यक्ति के भी उपर्युक्त लक्षण हो सकते हैं व उनके पास भी चोरी की वस्तुएँ मिल सकती हैं। यदि चोरी की वस्तु किसी के पास मिलती है, तो यह भी संभव है कि वह उसके पास किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा आयी हो।[३] अथवा उसे पड़ी मिली हो या उसकी उसने स्वयं चोरी की हो, झूठे व्यक्ति अकसर सच्चे व्यक्तियों का चेहरा बनाये रहते हैं।

अर्थशास्त्र में चोर के परीक्षण के समय में कहा गया है कि जिसका सामान चोरी हो गया हो उसके समक्ष बाहर-भीतर के अन्य व्यक्तियों के समक्ष गवाह (साक्षी) से सन्देह में पकड़े गये व्यक्तियों के देश, जाति, गोत्र, नाम, काम, सम्पत्ति, मित्र व निवासस्थान के सम्बन्ध में पूछना चाहिए। तदनन्तर सन्देह में पकड़े गये व्यक्ति से पिछले दिन के कार्य तथा रात्रि निवास और जिस समय वह पकड़ा गया है उस समय तक के सभी कार्यों के सम्बन्ध में पूरी पूछताछ करनी चाहिए। चोरी करते समय मकान में किस-किस ने प्रवेश किया और किसे कितना हिस्सा मिला इसकी भी जानकारी होनी चाहिए।[४] समान स्वभाव वाली वेश्याओं, दूतियों, कथकों, सराय व होटल वालों द्वारा गुप्त रूप से बुरा कर्म करने वाले व्यक्तियों (चोरों) का पता लगाना चाहिए।[५] कौटिल्य ने वशीकरण संबन्धी मंत्रों के प्रयोग से भी चोरों को पकड़ने की विधि का उल्लेख किया है।[६] मनु के अनुसार चोरी में पकड़े गये

---

१. याज्ञ., २/२६६-२६८, नारदपरिशिष्ट, ९-१२

२. अन्यहस्तात् परिभ्रष्टमकामादुच्छ्रितं भुवि।
चौरेण वा परिक्षिप्तं लोप्त्रं यत्नात्परीक्षयेत्॥
नारद, मिताक्षरा पृ. ३६९ में उद्धृत। इस पर मिताक्षरा का कहना है-
"न पुनर्लिङ्गदर्शनमात्रेण चौरनिर्णयं कुर्यात्।
अचौरस्यापि लोप्त्रादि चौर्यलिङ्गसम्बन्धसम्भवात्।

३. नारद, १/४२,
असत्याः सत्यसंकाशाः सत्याश्चासत्यसंनिभाः
दृश्यन्ते विविधान्भावास्तस्माद्युक्तं परीक्षणम्॥ वही, १/७१ मनु., ९/२७०.

४. कौ. अ., ४/८/१-४

५. तुल्यशीलपुंश्चलीप्रावादिकथावकाशभोजनादातृभिरसर्पयेत्। वही ४/८/८

६. प्रस्वापनान्तर्धानव्दारापोहमन्त्रेण प्रतिरोधकान्,
संवननमन्त्रेण पारतल्पिकान्। वही, ४/५/१

व्यक्ति को केवल अस्वीकारोक्ति के आधार पर ही नहीं छोड़ देना चाहिए बल्कि उसको प्रयोगों व दिव्यों के माध्यम से अपनी निर्दोषता प्रमाणित करनी चाहिए।[१]

स्तेय व दण्डव्यवस्था–

धर्मशास्त्रों में राजा के द्वारा चोरों के निग्रह का विधान बताया गया है क्योंकि चोरों का निग्रह करने से ही राजा के वंश व राज्य की वृद्धि होती है।[२] लेकिन प्रकाश चोरों के दण्ड का निश्चय चोरी के अपराध के प्रकार व उसकी गुरुता के आधार पर ही होनी चाहिए।[३] अतः शास्त्रकारों द्वारा विभिन्न अपराधों के लिए दण्ड की लम्बी सूची प्रस्तुत की गयी है।

मनु के अनुसार राजा के अन्न भण्डार, शस्त्रागार में सेंध लगाने वाले को तथा देवमन्दिर तोड़ने वालों तथा घोड़ा, रथ व हाथी आदि चुराने वालों को मृत्युदण्ड देना चाहिए,[४] कुलीन कुल में उत्पन्न पुरुष तथा विशेषतः स्त्रियों व बहुमूल्य रत्नों की चोरी पर मृत्युदण्ड[५] मिलता था। रात्रि में सेंध लगाने वाले के हाथों को काटकर शूली पर चढ़ाने का नियम था।[६] मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार जेबकतरों (ग्रन्थिभेदकों) के प्रथम अपराध पर अंगूठा एवं तर्जनी काट देने का दण्ड, दूसरे में हाथ-पैर काट लेने का दण्ड व तीसरी बार वही अपराध करने पर "वध-दण्ड" का विधान किया गया था।[७] चोर को चोरी के सामान की क्षतिपूर्ति भी करनी पड़ती थी।[८] मनु के अनुसार साधारण चोरी के सामान के मूल्य का दुगुना[९] अर्थदण्ड व

---

१. गृहीतः शङ्कया चौर्ये नात्मानं चेद्विशोधयेत्।
दापयित्वा हृतं द्रव्यं चौरदण्डेन दण्डयेत्। याज्ञ., २/२६९

२. परमं यत्नमातिष्ठेत्स्तेनानां निग्रहे नृपः।
स्तेनानां निग्रहादस्य यशो राष्ट्रं च वर्धते । मनु. ८/३०२

३. ज्योतिर्ज्ञानं तथोत्पातमविदित्वा तु ये नृणाम्।
श्रावयन्त्यर्थलोभेन बिनेयास्ते प्रयत्नतः।। बृहस्पति, व्य.प्र., पृ. ३८७

४. कोष्ठागारायुधागारदेवतागारभेदकान्।
हस्त्यश्वरथहर्तुश्च हन्यादेवानि चारयन्।। मनु. ९/२८०

५. पुरुषाणां कुलीनानां नारीणां च विशेषतः।
मुख्यानां चैव रत्नानां हरणे वधमर्हति।। वही, ८/३२३

६. संधि छित्वा तु ये चौर्यं रात्रौ कुर्वन्ति तस्कराः।
तेषां छित्वा नृपो हस्तौ तीक्ष्णे शूले निवेशयेत्। मनु., ९/२७७
सन्धिच्छेदकृतो ज्ञात्वा शूलमाग्राह्येत्प्रभुः। बृहसपति, व्य. प्र. पृ. ३८८

७. अङ्गुलीर्ग्रन्थिभेदस्य छेदयेत्प्रथमे ग्रहे।
द्वितीये हस्तचरणौ तृतीये वधमर्हति। मनु., ९/२७७
उत्क्षेपकग्रन्थिभेदौ करसन्दंशहीनकौ
कार्यो द्वितीयापराधे करपादैकहीनकौ। याज्ञ., २/२७४

८. मनु., ८/३२०, याज्ञ., २/२७० नारदपरिशिष्ट, २१

९. मनु., ८/३२६-३२९

नारद ने पांचगुना अर्थदण्ड देय कहा है।[१] मनु व याज्ञवल्क्य की अपेक्षा कौटिल्य का दण्डविधान अधिक युक्ति-युक्त प्रतीत होता हैं क्योंकि उन्होंने एक ही अपराध के दो बार करने पर मृत्युदण्ड की अपेक्षा अर्थदण्ड का विधान किया है। उनके अनुसार तीर्थों पर वस्त्रादि चुराने वाले, जेबकतरे, छत फोड़ने वाले पुरुषों को प्रथम अपराध पर ५४ पण दण्ड या अगुँष्ठ या कनिष्ठा काटने का दण्ड, द्वितीय बार करने पर सब अँगुलियाँ काटने का दण्ड या १०० पण का दण्ड, तृतीय बार दाहिना हाथ काटने का या ४०० पण का दण्ड एवं चतुर्थ बार में प्राणदण्ड का विधान किया गया है। मृत्युदण्ड के विषय में धर्मशास्त्रों में विभिन्न शब्दों व प्रकारों का उल्लेख मिलता है। यथा शूली पर चढ़ाना, डुबाकर मारना, फाँसी देना, आग में जला देना व वध करना आदि। "वध" शब्द का प्रयोग कहीं पर तो प्राणदण्ड के अर्थ में व कहीं पर केवल विभिन्न प्रकार के शारीरिक दण्डों के रूप में किया गया है। तदनुरूप ही अनुवादकों ने अपराध की गुरुता व लघुता के आधार पर उसका अर्थ प्रस्तुत किया है तथा याज्ञवल्क्य ने "वध" शब्द का प्रयोग "चौर प्रदाप्यापहृतं घातयेद्विविधैर्वधै :[२] स्थल पर "वध" शब्द का प्रयोग विविध प्रकार के वधों के रूप में किया गया है जिससे स्पष्टतः विविध प्रकार के शारीरिक दण्डों की ओर संकेत मिलता है। इसी प्रकार नारद द्वारा प्रयुक्त "वध" शब्द का तात्पर्य अनुवादकों ने शारीरिक दण्ड अथवा मृत्युदण्ड किया है।[३] "वध" शब्द का अर्थ "काटना" व "मारना" दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त होता है। "अंग के वध" से तात्पर्य अंग विशेष को काटने से है व केवल वध शब्द से तात्पर्य मार डालने से है।[४] लेकिन धर्मशास्त्रों में "वध" शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में हुआ है। जो मनुष्य दस कुम्भों से अधिक धान्य (अन्न की चोरी करता था अथवा सोना, चाँदी आदि तथा उत्तमवस्त्रों को व सौ पण से अधिक चुराने वाले को भी प्राणदण्ड दिया जाता था।[५] कौटिल्य ने कण्टक शोधन नामक अध्याय में जीरा, अजवाइन आदि के राजकीय खेतों के कर्मचारियों द्वारा की गई चोरियों के दण्डों के संदर्भ में दश पण मूल्य तक की वस्तु चुराने पर भी प्राणदण्ड का विधान किया है। इसी प्रकार का दण्ड गोदाम, दुकान आदि के चुराने पर दिया जाता था और कोश, भांडागार और अक्षशाला से जो कोई वस्तु चुराता उस पर दूना दण्ड लगता था।

---

१. नारद, प्रकीर्णक, २२-२४

२. याज्ञ., २/२७०

३. नारद परिशिष्ट, "स्तेय" २७ (जॉली अनुवाद)

४. देखिए, मोनियर विलियम्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी।

५. धान्यं दशभ्यः कुम्भेभ्यो हरतोऽभ्यधिकं वधः। मनु. ८/३२०
अपिच, तथा धरिममेयानां शतादभ्याधिकेवधः। सुवर्णरजतादीनामुत्तमानां च वाससाम्।
वही, ३२१

मनु के अनुसार सर्वाधिक पापी सुनार के बेईमानी करने पर (अच्छे माल के बदले खोटा माल देने पर) अपराध प्रमाणित हो जाने पर राजा के द्वारा उसके शरीर के शस्त्रों से टुकड़े-२ करवाने की बात कही गयी है।[१] बृहस्पति ने नकली सोना व रत्न आदि बनाने वालों के लिए अर्थदण्ड का विधान बताया है।[२]

कौटिल्य ने भी सुनार के लिए अङ्गभंग का दण्डविधान नहीं किया है।[३] यद्यपि उन्होंने चोरी के संदर्भ में दण्डों की व्याख्या करते हुए अनेक प्रकार के शारीरिक दण्डों का उल्लेख भी किया है। यथा कोडे मारना, हाथ-पैर बाँधकर उलटा लटका देना, नाक में नमक का पानी डालना, वृश्चिकबंध, हाथ के नखों में सुई चुभाना, लस्सी पिलाकर लघुशंका से निवृत्त न होने देना व घी पिलाकर एक दिन धूप में या अग्नि के निकट तपाना आदि।[४] अपिच, कौटिल्य ने व्यापारियों व दुकानदारों से संबंधित नियमों के संदर्भ में उनके द्वारा की जाने वाली माल संबन्धी चोरी पर, मिलावट की वस्तुएँ बेचने पर, चोरी का माल खरीदने पर अपराधानुसार अर्थदण्ड की व्यवस्था की है।[५] स्वयं चोरी करके चोरों का नाम लगाने वाले कर्मचारी को चित्रवध (विविध क्लेश देकर प्राण लेने का दण्ड) व कष्टपूर्वक प्राणघात का दण्ड दिया जाता था। कष्टकशोधन के ग्यारहवें अध्याय में कौटिल्य ने शुद्ध व चित्र दण्ड का विवरण देते हुए बलात्कार से ही ग्रामों के द्रव्य हरण करने वाले व सेंध लगाकर चोरी करने वाले, मार्ग की धर्मशालाओं, प्याओं में चोरी करने वाले आदि लोगों के लिए सूली पर चढ़ाने का दण्ड निर्धारित किया है व मृत्योपरान्त उनका संस्कार भी वर्जित किया है। सूली पर चढ़ाये गये अपराधी के शव का दाह संस्कार करने वाले एवं उठाकर ले जाने वाले को भी शूली की ही सजा अथवा उत्तम साहस का दण्ड देने का विधान किया है।[६] हथियारों की चोरी

---

१. सर्वकण्टकपापिष्ठं हेमकारं तु पार्थिवः।
प्रवर्त्तमानमन्याये छेदयेल्लवशः क्षुरैः।। मनु., ९/२९२

२. हेमरत्नप्रबालाद्यान् कृत्रिमान् कुर्वते तु ये।
क्रेतुर्मूल्यं प्रदाप्यास्ते राज्ञा तद्विगुणं दमम्।
बृहस्पति, वीरमित्रोदय में उद्धृत, पृ. ३८८

३. कौ. अ., ४/१

४. वही, ४/२६-२८

५. वही, ४/२, मनु. ८/२५८-२६०, नारदपरिशिष्ट,
स्तेय- २ (जाली अनुवाद)

६. प्रसवस्त्रीपुरुषघातकाभिसारकनिग्रहावघोषकावस्कन्दकोपवेधकान्
पथि वेश्मप्रतिरोधकान् राजहस्त्यश्वरथानां हिंसकान् स्तेनान्
वा शूलानारोहयेयुः, यश्चैनान् दहेदपनयेद्वा। स तमवेव दण्डं
लभेत, साहसमुत्तमं वा । कौ. अ., ४/११

करने वाले की बाणों से हत्या करने का उल्लेख मिलता है।[१]

याज्ञवल्क्य ने चोरी सम्बन्धी अन्य नियमों का भी उल्लेख किया है। गाँव में किसी की हत्या या चोरी होने पर यदि अपराधी के गाँव छोड़कर चले जाने का संकेत नहीं मिलता तो ग्रामपति का ही दोष समझा जाता था, सराय में चोरी होने पर सराय का स्वामी व मार्ग में चोरी होने पर मार्ग रक्षक दोषी समझा जाता था।[२] ग्राम की सीमा के भीतर हुई चोरी का दण्ड गांव के निवासियों को अथवा जिस गाँव में चोरों के पद चिह्न दिखाई पड़ते थे उस गाँव के निवासियों को देना पड़ता था। कई गावों के बीच एक कोस की दूरी पर चोरी की घटना होने पर पांच या दस गाँव मिलकर दण्ड देते थे।[३]

नारद के अनुसार किसी घर में चोरी होने पर चोर के न पकड़े जाने की स्थिति में अधिकारी, पहरेदार अथवा राज्य के निवासियों को चोरी हुई वस्तु की क्षतिपूर्ति करनी चाहिए।[४] चोर के चालाक होने की स्थिति में व इस बात का सन्देह होने पर कि वास्तव में चोरी हुई है, तो जिसकी चोरी हुई हो उसे विश्वास दिलाने के लिए शपथ लेकर अपनी सत्यता सिद्ध करनी होती थी। जब किसी निरपराधी व्यक्ति को अपराधी (चोर) सिद्ध करके उसे दण्ड दिया जाता था व पश्चात् में वास्तविक अपराधी के पकड़े जाने पर अधिकारी को निरपराधी को दण्ड देने व जुर्माना भरने का दुगुना दण्ड भरना पड़ता था।[५] मनु व याज्ञवल्क्य के अनुसार ब्राह्मण चोर को वधदण्ड या शारीरिक दण्ड देना वर्जित माना गया है।[६]

नारद भी मनु का समर्थन करते हैं।[७]

तत्कालीन समय में न केवल चोर को ही दण्ड दिया जाता था अपितु चोर को आश्रय देने वाले, भोजन की व्यवस्था करने वाले अथवा चोरी का माल

---

१. प्रहरणावरणस्तेनमनायुधीयमिषुभिर्घातयेत्। वही, ४/११

२. घातितेऽपहृते दोषो ग्रामभर्तुरनिर्गते।
विवीतभर्तुस्तु पथि चौरोद्हर्तुरवीतके। याज्ञ., २/२७१

३. स्वसीम्नि दद्यात् ग्रामस्तु पदं वा यत्र गच्छति।
पञ्चग्रामी बहिः कोशाद्दशग्राम्यथवा पुनः। वही, २७२

४. नारद परिशिष्ट, स्तेय १८, पृ. २२६

५. नारद परिशिष्ट, स्तेय १८/२०

६. न जातु ब्राह्मणं हन्यात्सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात्समग्रधनमक्षतम्। मनु. ८/३८०
सचिह्नं ब्राह्मणं कृत्वा स्वराष्ट्राद्विप्रवासयेत्। याज्ञ., २/२७०

७. दश स्थानानि दण्डस्य मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
त्रिषु वर्णेषु यानि स्युरक्षतो ब्राह्मणो व्रजेत्।। मनु., ८/१२४ अपिच,
नारदपरिशिष्ट, ३६, जॉली अनुवाद, पृष्ट २२८

खरीदने व छिपाने वालों को भी चोर के समान ही दण्डित किया जाता था।[१] लेकिन मनु व गौतम ने वनस्पतियों के मूल तथा फल, अग्निहोत्र के लिए समिधा और गोग्रास के लिए घास ग्रहण करने को चोरी नहीं माना हैं।[२] परन्तु आपस्तम्ब ने बिना आज्ञा फलफूलादि ग्रहण करने पर डाँटफटकार की व्यवस्था की है।[३] लेकिन पाथेय (रास्ते के भोजन) से रहित द्विज पथिक भोजन के अभाव में बिना माँगें खेत में से दो गन्ने या दो मूली, दो तरबूज, पाँच आम, एक मुट्ठीभर खजूर और बेर या चावल या गेहूँ लेने पर दण्डनीय नहीं होता था।[४]

गौतमधर्मसूत्र में असत्य भाषण करने वाले को भी दण्ड देने का विधान किया है। ऐसे व्यक्ति के धन का अपहरण करके उसे देश निर्वासन का दण्ड दिया जाय।[५]

लेकिन यदि असत्य भाषण से किसी सत्पुरुष की रक्षा होती है तो असत्य भाषण करने वाले को दोषी नहीं माना जाता था। लेकिन यदि असत्य बोलने से पापी की रक्षा होती हो तो वह अपराध माना जाता था।[६]

स्त्रीसंग्रहण

मनु के अनुसार परस्त्री के पास सुगन्धित तेल आदि भेजना, उसके आभूषण तथा वस्त्रों का स्पर्श करना, हँसी मजाक करना, एक शय्या पर साथ-२ बैठना व अस्पृश्य अंगों का स्पर्श करना आदि को "संग्रहण" कहा जाता है।[७] "संग्रहण" का स्वरूप प्रदर्शन करते हुए याज्ञवल्क्य का कहना है कि परायी स्त्री का केश पकड़कर क्रीड़ा करने से, कामक्रीडा द्वारा बनाये गये नरवक्षत आदि चिह्नों से अथवा दोनों की परस्पर प्रकट प्रीति देखकर व्यभिचार में प्रवृत पुरुष को पकड़ना चाहिए।[८]

---

१. मनु., ९/२७१, २७८, याज्ञ., २/२७६, कौ. अ., ४/१०

२. गौ. ध. सू., १२/२४, वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्नयर्थं
तथैव च। तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत,
मनु, ८/३३९, याज्ञ., २/१६६

३. आ. ध. सू., २/२८/११

४. आ. ध. सू., २/२८/१३, मनु., ८/३४१
याज्ञ., २/७५, नारदप्रकीर्णक, ३९

५. गौ. ध. सू., २/४/२३

६. नानृतवचनेदोषो जीवनं चेत्तदधीनम् । गौ. ध. सू.,
२/४/२४, न तु पापयिसो जीवनम्। वही, २/४/२५

७. उपचारक्रिया केलिः स्पर्शो भूषणवाससाम्
सह खट्वासनं चैव सर्वं संग्रहणं स्मृतम्। मनु., ८/३५७

८. पुमान् सङग्रहणे ग्राहयः केशाकेशि परस्त्रिया।
सद्यो वा कामजैश्चिन्हैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा।।
याज्ञ०, २/२८३ पर मिताक्षरा।

मिताक्षरा के अनुसार संभोग (मिथुनी भाव) के लिए किसी पुरुष व स्त्री का एक साथ होना ही संग्रहण है।[१] जबकि धर्मसूत्रों के अनुसार नग्न स्त्री को देखना, नारी की ओर देखकर हँसना, स्त्री का मुख चूमना, स्त्री प्राप्ति की कामना करना, बिना कारण स्पर्श करना आदि को स्त्रीसंग्रहण का अपराध माना गया है।[२] नारद पृथक् रूप से स्त्रीसंग्रहण का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब कोई स्त्री अपने पति के अतिरिक्त कहीं और किसी पुरुष से अनुचित संबन्ध रखती है तो उसे स्त्रीसंग्रहण कहा जाता है।

बृहस्पति के अनुसार संग्रहण तीन प्रकार का होता है– १. शक्ति या बल से – संभोग करना वह संग्रहण है जो नारी (स्त्री) की इच्छा के विरुद्ध किसी गुप्त स्थान पर किया जाता है। इस प्रकार में पुरूष एकान्त में गुप्त रुप से किसी स्त्री की इच्छा के विरूद्ध उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करता है अथवा सोती हुई या फिर मानसिक रूप से अव्यवस्थित स्त्री के साथ अनुचित सम्बन्ध करता है इसीलिए इसे बलात्कार कहा गया है। २. धोखे से स्त्रीसंग्रहण में परस्त्री को बहकाकर या फुसलाकर या मदिरा आदि पिलाकर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। ३. स्त्रीसंग्रहण का तीसरा प्रकार वह है जब किसी स्त्री को आँख मारकर या दूती भेजकर बुला लिया जाय व दोनों परस्पर संभोग कर्म में लिप्त हों। इस तीसरे भेद के पुनः तीन भेद किए गये हैं।[३] साधारण, मध्यम व गम्भीर।[४]

इन त्रिविध प्रकारों में कटाक्ष करना, मुस्कुराना, दूती भेजना व वस्त्र आभूषण छूना साधारण प्रकार है। दूसरे प्रकार में पुष्प, गंध, माल्य आदि भेजना व स्त्री से गुप्त रूप से बात करना मध्यम प्रकार है। व एक ही बिस्तर पर सोना, विहार करना चुम्बन लेना आदि तृतीय प्रकार में आता है।[५]

मनु व नारद के अनुसार स्त्री व पुरुष के अरण्य में, वन में व नदियों के सङ्गम स्थान पर मिलने को भी "स्त्रीसंग्रहण" कहा गया है।[६] नारद के अनुसार तो

---

१. स्त्रीपुँसयोर्मिथुनीभावः संग्रहणम्।
याज्ञ., २/२८३ पर मिताक्षरा

२. आ०ध०सू०, १/१२/८/१० अपिच, ब्रह्मसुरापगुरूतल्पगमातृपितृ-
योनिसंबन्धागस्तेननास्तिकनिन्दितकर्माभ्यासिपतितात्याग्यपतितत्यागिनः पतिताः। गौ०ध०सू०, ३/३/१

३. पापमूलं संग्रहण त्रिप्रकारं निबोधत।
बलोपाधिकृते द्वे तु तृतीयमनुरागजम्।
तत्पुनस्त्रिविधं प्रोक्तं प्रथमं मध्यमोत्तमम्।। बृहस्पति, धर्मकोश में उद्धृत।

४. त्रयाणामपि चैतेषां प्रथमो मध्यउत्तमः।
विनयः कल्पनीयः स्यादधिको द्रविणाधिको। वही

५. वही

६. परस्त्रियं योऽभिवदेत्तीर्थेऽरण्ये वनेऽपि वा।
नदीनां वाऽपि संभेदे स संग्रहणमाप्नुयात्।। मनु०, ८/३५६

किसी व्यक्ति के द्वारा घमण्ड से, मोहवश अथवा अपनी प्रशंसा करने के लिए भी यह कहे जाने पर कि उसने अमुक स्त्री का भोग किया है उसे भी "स्त्रीसंग्रहण" कहा गया है।[१] लेकिन सन्तानोत्पत्ति से पूर्व ही पति की मृत्यु होने पर सन्तान की इच्छा से देवर से, एक पिण्ड के, एक गोत्र के या एक प्रवर पुरुष से अथवा इन सबके संभव न होने पर अपनी जाति के पुरुष से सन्तानोत्पत्ति की इच्छा को धर्मशास्त्र सम्मत कहा गया है।[२] लेकिन एक सन्तान के पश्चात् दूसरी सन्तानोत्पत्ति का निषेध किया गया है।[३] यदि पति किसी अज्ञात स्थान पर चला गया हो तो छः वर्ष तक विद्याध्ययन के लिए दूसरे देश में चले जाने पर उसके लौटने की प्रतीक्षा का विधान किया गया है।[४]

नारद के अनुसार अविवाहित स्त्री की इच्छा (स्वीकृति) से सम्बन्ध रखने वाले व परित्यका पत्नी या नपुंसक की पत्नी के साथ उसकी इच्छा से गमन करने वाला पुरुष दोषी नहीं माना गया है।[५]

स्त्रीसंग्रहण व दण्डव्यवस्था–

पापमूल स्त्रीसंग्रह एक अपराध था। इसी कारण इसका निषेध किया गया था क्योंकि इससे भय एवं नैतिक पतन होता था। अतः संग्रहण के अपराधी के लिए विभिन्न दण्डों का विधान किया गया था।[६] दण्डविधान जातिगत आधार पर किया गया है। सजातीय नारी के साथ समागम करने पर पुरुष की सम्पूर्ण सम्पत्ति छीनकर व उसके गुप्तांग काटकर उसे गदहे पर चढ़ाकर घुमाया जाता था जबकि

---

१. दर्पाद्वा यदि वा मोहाच्छ्लाघया वा स्वयं वदेत्।
पूर्वं मयेयं भुक्तेति तच्च संग्रहणं स्मृतम्।। नारद, १२/६९, याज्ञ० में उद्धृतं।

२. अपतिरपत्यलिप्सुर्देवरात्। पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धेभ्यो योनिमात्राद्वा। गौ०ध०सू०, २/९/४, ६

३. नातिद्वितीयं। वही, २/९/८

४. श्रूयमाणेऽभिगमनम्। द्वादशवर्षाणि ब्राह्मणस्य विद्यासंबन्धे। वही, २/९/१५, १७

५. अदुष्टत्यक्तदारस्य क्लीबस्याक्षमकस्य च।
स्वेच्छानुपेयुषो दोषः साहसे भवेत्।। ना०स्मृ०,
१५/६१ धर्मकोश, पृ० १८८१ में उद्धृत।

६. परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नृन्महीपतिः।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत्। मनु०८/३५२,
सहसाकामयेद्यस्तुधनंतस्याखिलंहरेत्
उत्कृत्य लिंगवृषणौ भ्रामयेद् गर्दभेन तु।।
दमोनेयः समायां तु हीनायामधिकस्ततः
पुंसः कार्योऽधिकायां तु गमने संप्रमापणम्।
बृह०स्म०, स्मृ०च० २, पृ० ३२० पर उद्धृत।

हीन जाति की स्त्री के साथ व्यभिचार करने पर उपर्युक्त दण्ड का आधा दण्ड ही दिया जाता था लेकिन उच्च वर्ण की नारी के साथ संभोग करने पर मृत्युदंड दिया जाता था। बृहस्पति का कहना है कि स्त्री के साथ धोखे से संभोग करने वाले पुरुष की सम्पूर्ण सम्पत्ति को छीनकर उसके मस्तक पर स्त्री के गुप्तांग चिह्नित कर नगर से निकाल दिया जाता था।[1] मनु ने ब्राह्मणी के साथ सम्भोग करने पर वैश्य को १ वर्ष तक जेल में रखने के बाद सर्वस्व हरण का दण्ड, क्षत्रिय को १००० पण का दण्ड देने के साथ शिर गधे के मूत्र से मुंडवाने का विधान किया गया था।[2] यदि ब्राह्मणी गुणवती हो तो उसके साथ मैथुन क्रिया में प्रवृत्त वैश्य व क्षत्रिय के लिए तृणाग्नि में जलाने योग्य दण्ड (अर्थात् मृत्युदण्ड) का विधान किया गया था।[3] लेकिन स्त्री के दोषी न होने पर (अर्थात् बलात्कार से युक्त नारी को) उसके लिए दण्डविधान नहीं किया गया था अपितु उसे घर में कुछ दिन बंद रहकर नीची शय्या पर शयन कर व मात्र जीवित रहने योग्य भोजन कर कृच्छ्र या पराक नामक प्रायश्चित करना पड़ता था। प्रायश्चित के उपरान्त वह पूर्ववत समाज में रहने की अधिकारिणी हो जाती थी। लेकिन बृहस्पति के अनुसार निम्नजाति के पुरुष द्वारा उपभुक्त उच्च जाति की निर्दोष स्त्री भी मृत्युदण्ड की अधिकारिणी होती है।[4] नारद के अनुसार अविवाहिता कन्या की इच्छा के विरुद्ध उससे सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्ति की दो अँगुलियाँ काटने का निर्देश है और यदि कन्या उच्च वर्णी हो तो व्यक्ति की सम्पत्ति छीनकर उसे मृत्युदण्ड दिया जाता था।[5]

इस प्रकार धर्मशास्त्रों में विवाहिता, अविवाहिता, गुप्ता व अगुप्ता, घर की स्त्री या दासी आदि विभिन्न स्त्री जातियों के आधार पर भिन्न-भिन्न दण्ड की व्यवस्था की है जिनका विस्तार यहाँ पर वांछनीय नहीं है। गौतम, वसिष्ठ, आपस्तम्ब, नारद, मनु व कौटिल्य आदि ने उनका विस्तार से वर्णन किया है।

---

१. छद्मना कामयेद्यस्तु तस्य सर्वहरो दमः।
अंङ्कयित्वा भगाङ्केन पुरान्निर्वासयेत्ततः ।
बृह० स्मृ०, स्मृतिचन्द्रिका, २ पृ० ३२० पर उद्धृत।

२. मनु०, ८/३७५, ३७६

३. उभावपि तु तवैव ब्राह्मणया गुप्तया सह।
विप्लुप्तौ शूद्रवद्दण्डयौ वा कटाग्निना। मनु०, ८/३७७

४. बृह० स्मृ०, २३/१३-१४ जॉली अनुवाद।

५. नारदस्मृति, १२/७१ जॉली अनुवाद।
मनु०, ८/३६८, दूषणे तु करच्छेद
उत्तमायां वधस्तथा। याज्ञ०, २/२८८

साहस

"साहस" शब्द की व्युत्पत्ति "सहस" शब्द से हुई है। "सहस" का अर्थ है "बल"। जिन कार्यों को बलपूर्वक या अभिमान से किया जाये उन्हें साहस कहा जाता है।[१] कौटिल्य के अनुसार खुले आम बलात्कार करना, डाके डालना तथा मारधाड़ करना साहस कहलाता है।[२] मनु के अनुसार वस्तु के स्वामी के समक्ष से बलपूर्वक वस्तु का हरण करना साहस कहलाता है।[३] साहस में शक्ति व हिंसा का प्रयोग निहित रहने के कारण इसे निषिद्ध माना जाता था, क्योंकि साहसपूर्ण कृत्य दुस्साहसिक अकृत्य माना जाता था। नारद ने प्रथमतः साहस के चार प्रकार माने हैं– मनुष्य हत्या, चोरी, परस्त्रीहरण एवं दो प्रकार के पारुष्य। पुनः प्रथम, मध्यम व उत्तम भेद से तीन प्रकार का है।[४]

प्रथम साहस– फलों, जड़मूलों, जल आदि व कृषि सम्बन्धी बर्तनों व उपकरणों आदि को तोड़ना, नष्ट करना, क्षति पहुँचाना या रुप बिगाड़ना।

मध्यम साहस– वस्त्र, भोजन, बर्तन एवं सार्वजनिक उपयोग की वस्तु को नष्ट करना आदि।

उत्तम साहस– विषादि देकर मनुष्य हत्या, परस्त्री हरण व प्राणियों को क्लेश देना।

दण्डव्यवस्था– सामान्यवस्तु का बलपूर्वक अपहरण करने पर उस वस्तु के मूल्य का दुगुना दण्ड दिया जाता था तथा अपराध अस्वीकार करने पर उसका चौगुना दण्ड होता था।[५]

रत्न व अन्य बहुमूल्य टिकाऊ वस्तुओं व तांबे आदि पदार्थों पर डाका डालनेवाले को मनु के मतानुयायी आचार्यों के अनुसार वस्तु की कीमत के बराबर दण्ड दिया जाना चाहिए जबकि कौटिल्य ने अपराधानुसार दण्ड देने की बात कही है।[६] प्रमाणस्वरूप कोई चिह्न या साक्षी न मिलने पर साहस के अपराधी को शपथ या दिव्य द्वारा अपनी निर्दोषता प्रमाणित करनी पड़ती थी।[७]

---

१. सहसा क्रियते कर्म यत्किञ्चिद्बलदर्पितैः।
तत् साहसमिति प्रोक्तं सहो बलमिहोच्यते।। ना०स्मृ०, साहसम्/१

२. साहसमन्वयवत्प्रसभकर्म। निरन्वये स्तेयमपव्ययने च। कौ०अ०, ३/१७

३. स्यात्साहसं त्वन्वयवत्प्रसभं कर्म यत्कृतम्। मनु०स्मृ० ८/३२२

४. तत् पुनस्त्रिविधं ज्ञेयं प्रथमं मध्यमं तद्या।
उत्तमं चेति शास्त्रेषु तस्योक्तं लक्षणं पृथक्। ना०स्मृ०, साहसम्/३

५. तन्मूल्याद द्विगुणो दण्डो निह्नवे तु चतुर्गुणः। याज्ञ० स्मृ०, २/२३०

६. रत्नसारफल्गुकुप्यानां साहसे मूल्यसमो दण्डः इति मानवाः। मूल्यद्विगुण इत्यौशनसाः। यथापराध इति कौटिल्यः। कौ०अ०, ३/१७

७. बृहस्पति, २२/३७ (जॉली अनुवाद)

न केवल साहस कर्म करनेवालों को ही दण्डित किया जाता था अपितु साहस कृत्य करने के लिए उकसानेवाले को भी उस अपराध के दण्ड का दुगुना दण्ड दिया जाता था। एवं जो यह कहकर साहस कर्म करवाता था कि "धन की चिन्ता न करो मैं लगाऊँगा"– उसे चौगुना दण्ड मिलता था।[१]

दूसरों के द्रव्यों का अपहरण करने पर वस्तुमूल्य का दुगुना अर्थदण्ड देना पड़ता था। धोबी द्वारा धुलाई निमित्त आये वस्त्रों को स्वयं पहनने पर तीन पण दण्ड दूसरों को पहनने देने व किराये पर देने पर दश पण दण्ड दिया जाता था।[२] फूल, फल, शाक, मूल, कंद, पका अन्न, चमड़ा, बांस और मिट्टी के बर्तन आदि छोटी छोटी वस्तुओं का अपहरण करनेवाले पर बारह पण से लेकर चौबीस पण तक का दंड दिया जाने का विधान था। इसी प्रकार लोहा, लकड़ी रस्सी, छोटे पशु और वस्त्र आदि वस्तुओं के अपहरण में चौबीस से अठतालीस पण तक का दण्ड दिया जाता था। ताँबा, पीतल, काँसा, काँच और हाथीदाँत आदि की बनी हुई वस्तुओं पर डाका डालने वाले पर अड़तालीस से छियानवे पण तक का जुर्माना करने का विधान था। इसी को प्रथम साहस दण्ड कहा गया है।[३] बड़े पशु, मनुष्य, खेत, मकान, हिरण्य, सोना और बड़ी कीमत के वस्त्र आदि द्रव्यों पर डाका डालने वाले को दौ सौ पण से पाँच सौ पण तक का दण्ड देने को मध्यम साहस का दण्ड कहा जाता था। स्त्री पुरुष को जबर्दस्ती बाँधने, बँधवाने वाले और राजाज्ञा से बँधे हुए स्त्री-पुरुष को अनधिकार जबर्दस्ती छोड़ने या छुड़वाने वाले व्यक्ति को पाँच सौ पण से लेकर हजार पण तक का दण्ड दिया जाने का विधान था। यही उत्तम साहस दण्ड कहलाता है।[४]

हत्यारे को सामान्यतः प्राणदण्ड ही दिया जाता था किन्तु इस दण्ड का निर्धारण हत्या का आशय जानकर ही किया जाता था। ब्राहमणेतर व्यक्तियों द्वारा असावधानी वश हत्या होने पर उन्हें केवल सम्पत्ति से वंचित किए जाने का दण्ड था किन्तु जानबूझकर किए गए हत्या के अपराध पर प्राण दण्ड

---

१. यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/२३१, कौ०अं० ३/१७/२-३

२. बसानस्त्रीन्पणान्दण्डयो नेजकस्तु परांशुकम्।
विक्रयावक्रयाधानयाचितेषु पणान्दश ।। याज्ञ० स्मृ०, २/२३९

३. कौ०अ० ३/१७, प्रथम साहस के लिए नारद ने कम से कम सौ पण दण्ड का विधान किया है।

४. अबन्ध्यं यश्च बध्नाति बद्धं यश्च प्रमुञ्चति।
अप्राप्तव्यवहारं च स दाप्यो दममुत्तमम्।। याज्ञ० स्मृ०, २/२४३, कौ० अर्थ०, ३/१७
नारद ने उत्तम साहस में न्यूनातिन्यून हजार पण का दण्ड माना हैं– उत्तमे साहसे दण्डः सहस्त्रावर इष्यते। ना०स्मृ०, साहस, ८

निश्चित था।[१] सामान्यतः ब्राह्मणों के लिए प्राणदण्ड वर्जित था।[२] लेकिन "आततायी" ब्राह्मण के लिए प्राणदण्ड को मनु ने अनुचित नहीं माना है।[३] "आततायी"[४] ब्राह्मणों के संदर्भ में कात्यायन ने भृगु के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यदि वेदादि का ज्ञाता उच्चवर्णी व्यक्ति "आततायी" है तो भी उसको मारना नहीं चाहिए। प्राणदण्ड केवल निम्नवर्णी लोगों को ही उनके अपराधों पर देना चाहिए। लेकिन कात्यायन ने आततायियों व "आततायी" प्रकृति के पशुओं के वध को अपराध नहीं माना है।[५] उनके अनुसार स्त्री का गर्भपात करानेवाले, स्वर्ण के चोर, ब्राह्मण स्त्री पर तीखे अस्त्र से हमला करनेवाले अथवा भोली-भोली स्त्री की हत्या करनेवाले ब्राह्मण को प्राणदण्ड देने को स्वीकार किया है।[६] नारद ने ब्राह्मण के लिए प्राणदण्ड की व्यवस्था नहीं की है अपितु उसे सिर मुंडाकर, ललाट पर अपराध का चिह्न अंकित करके, गधे पर बिठाकर नगर निष्कासन का दण्ड देने का विधान किया है।[७] उक्त नियम इस ओर इंगित करते हैं कि तत्कालीन मान्यता में वर्ण प्रमुखता सर्वोपरि थी। किन्तु विज्ञजनों की वैचारिकता कतिपय भीषण अपराधों में ब्राह्मणों की मुक्ति को तर्कसंगत भी नहीं स्वीकार कर पाती थी अतः प्रचलित परम्पराओं का निर्वाह करते हुए उन्होंने कतिपय ऐसे नियम भी दिए जिनसे महापातकी, चाहे वह ब्राह्मण ही क्यों न हों, बच न सके। यही कारण है कि हमें इन नियमों में कहीं कहीं विरोधाभास दृष्टिगत होता है।

नारद ने साहस के अपराधी के लिए प्रायश्चित का भी विधान किया है। प्रथम व मध्यम साहस के अपराधी प्रायश्चित करके व दण्ड भुगतने के पश्चात् पुनः समाज में रहने के योग्य हो जाते थे किन्तु उत्तम साहस के दोषी को दण्ड भुगतने के पश्चात भी ऐसी आज्ञा नहीं थी। उसके साथ बात करना भी वर्जित था।[८]

---

१. इतरे कृतवन्तस्तु पापान्येतान्यकामतः ।
सर्वस्वहारमर्हन्ति कामतस्तु प्रवासनम् ।। मनु०स्मृ०, ९/२४२, कात्यायन, ७९७ काणे अनुवाद।

२. अविशेषेण सर्वेषामेष दण्डविधिः स्मृतः।
वधादृते ब्राह्मणस्य न बधं ब्राह्मणोऽर्हति।। ना०स्मृ०, साहसम्/९

३. नाततायिबधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। मनु० स्मृ०, ८/३५१

४. द्रष्टव्य कात्यायन, ८०१-८०४ (काणे अनुवाद)

५. कात्यायन, ८०५

६. गर्भस्यपातने स्तेनो ब्राह्मण्यां शस्त्र पातने।
अदुष्टां योषितं हत्वा हन्तव्यो ब्राह्मणोपिहि।। कात्यायन, ८०६

७. शिरसो मुण्डनं दण्डस्तस्य निर्वासनं पुरात्।
ललाटे चाभिशस्ताङ्क प्रयाणं गर्दभेन च० ना०स्मृ०, साहसम्/१०

८. स्यातां संव्यवहार्यो तौ घृतदण्डौ तु पूर्वयोः।
घृतदण्डोऽप्यसंभाष्यो ज्ञेयं उत्तमसाहसे।। वही ११

धनमूलक व्यवहारपद

ऋणादान— ऋणादान व्यवहारपद के अन्तर्गत ऋण सम्बन्धी सभी प्रकार के विवादों पर विचार किया गया है। सभी स्मृतिकारों ने व्यवहारपदों में ऋणादान को प्रथम स्थान दिया है। ऋण लेकर न देना, बिना दिये माँगना और लेने-देने का जो व्यवहार निश्चित हुआ हो उसका उल्लंघन करने से जो विवाद उत्पन्न होते हैं वे सभी "ऋणादान" शीर्षक के अन्तर्गत आते हैं।[१]

"ऋण" शब्द का प्रयोग प्राचीनकाल से होता आया है।[२] ऋग्वेद का "ऋण" शब्द, ऐतरेय ब्राह्मण का "सन्नयति" शब्द, तैत्तिरीय संहिता का 'कुसीद' शब्द, शतपथ ब्राह्मण का 'कुसीदी' शब्द, पाणिनि का "उत्तमर्ण" (ऋणदाता) शब्द "ऋण" की प्राचीनता के द्योतक हैं।[३] ऋग्वैदिककाल में देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण, की परिकल्पनाएँ विद्यमान हैं।[४] इस प्रकार के आध्यात्मिक ऋणों के साथ आगे चलकर अन्य सार्वभौमिक ऋणों की परम्पराएँ बँधती चली गयीं। महाभारत के आदि पर्व में चार व अनुशासनपर्व में पाँच ऋणों की चर्चा आती है।[५] ऋण का अदा करना अनिवार्य था। ऋण अदा न करने पर ऋणी मृत्यु के उपरान्त ऋणदाता के घर में दास, मृत्यु, पशु के रूप में जन्म लेकर ऋण को अदा करता था।[६]

ऋणादान के लिए बृहस्पति ने व्यवहारपद तालिका में "कुसीद" शब्द का प्रयोग किया है। वे इसकी परिभाषा इन शब्दों में देते हैं— जो चौगुने या अठगुने के रूप में किसी दुःखी व्यक्ति से, बिना किसी संकोच या अनुताप के ग्रहण किया जाये।[७]

नारद के अनुसार मूलधन के फलस्वरूप पूर्व निश्चित लाभ की प्राप्ति ही

---

१. ऋणं देयमदेयं च येन यत्र यथा च यत्।
दानग्रहणधर्माभ्यामृणादानमिति स्मृतम्। ना०स्मृ०, ऋणादानम्/१

२. ऋग्वेद, ८/४७/१०, १०/३४/१०, ऐत०ब्रा०, १३/४/३/११ ऋणंसन्नयामसि। ऋग्० ८/४७/१ तै०सं० ३/३/८/१-२, पाणिनि, १/४/३५

३. ऋग्० ६.६.१.१, ८/३२/१६, तै०सं० ६/३/१०/५, शत०ब्रा० १.७.२.११, ऐत०ब्रा० ३३/१ अनुशासन-पर्व ३७.१७

४. तै०सं०, ६/३/१०/५, शत०ब्रा० १/७/२/११, ऐत०ब्रा० ३३/१

५. ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः।। आदिपर्व, १२०/१७/२०, ऋणमुन्मुच्य देवानामृषीणां च तथैव च। पितृणामथ विप्राणामतिथीनां च पञ्चकम्। अनु०प०, ३७/१७

६. कोटिशते तु संपूर्णे जायते तस्य वेश्मनि।
ऋणसंशोधनार्थाय दासो जन्मनि जन्मनि।।
ना०स्मृ०, ऋणादानम्/८, कात्या०, ५५१

७. बृहस्पति, १०/६, ७, ११ (आयंगर द्वारा सम्पादित)

"कुसीद" है। ऐसा करने वाले कुसीदी कहलाते हैं।[१] स्पष्ट है कि "कुसीद" शब्द सूद अथवा "ब्याज" शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[२] अनाज को ब्याज के रूप में ग्रहण करना वृद्धि कहलाता था।

नारद ने ऋणादान के सात प्रमुख रूप दिये हैं– (१) कौन सा ऋण दिया जाना चाहिए। (२) कौन सा नहीं दिया जाना चाहिए, (३) किसके द्वारा, (४) किस रूप में, (५) कहाँ दिये जाने चाहिए, (६) ऋण देते समय व लौटाते समय किन नियमों का पालन करना चाहिए।[३]

याज्ञवल्क्य के अनुसार पिता के परदेश जानेपर, परलोक सिधारने पर अथवा असाध्य रोग से पीड़ित होने पर उसके पुत्र एवं पोत्रों को उसका ऋण चुकाना पड़ता था।[४] इसी को अधिक स्पष्ट करते हुए नारद कहते हैं कि सभी पुत्र, यदि उनमें सम्पत्ति विभाजन हो चुका है, तो अपने-अपने हिस्से के अनुसार ऋण चुकायें यदि सम्पत्ति अविभाज्य है तो सम्पत्ति का प्रबन्ध (भले ही वह छोटा हो या बड़ा) ऋण की पूर्ण अदायगी करे[५]। कौटिल्य इस विषय में स्पष्ट लिखते हैं कि मृत ऋणी के पुत्रों अथवा उसकी सम्पत्ति लेने वाले दायभागियों को उसका ऋण चुकाना चाहिए।[६] किन्तु जिस ऋण का स्थान और समय निश्चित न हो उसे सम्पत्ति प्राप्त करने वाले पुत्र, पौत्र या दायभागी चुकाएँ।[७] याज्ञवल्क्य के अनुसार जिस ऋणी का धन पुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी को न मिला हो उसे पुत्र चुकाये व पुत्रहीन ऋणी का धन उसकी सम्पत्ति का भाग लेनेवाला अदा करे।[८] इससे स्पष्ट होता है कि पुत्र तभी ऋण चुकाता था जबकि उसे स्थायी सम्पत्ति प्राप्त होती थी।

---

१. स्थानलाभनिमित्तं हि दानग्रहणमिष्यते।
तत्कुसीदमिति प्रोक्तं तेन वृत्तिः कुसीदिनाम्।। ना०स्मृ०, ४/ऋणादानम्९८

२. तै०सं०, पाणिनी के अनुसार "कुसीद" शब्द का अर्थ "सूद" है। देखें, माँनियर विलियम्स, "ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी।"

३. ना०स्मृ०, ऋणादानम्/१

४. पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपिवा।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निहन्वे साक्षिभावितम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/५०

५. पितर्युपरते पुत्रा ऋणं दद्युर्यथांशतः।
विभक्ता अविभक्ता वा यो वा तामुद्धरेद्धुरम्।। ना० स्मृ०, ऋणादानम्/२

६. कौ०अ० ३/११/१९-२१

७. वही, ३/११, १२

८. रिक्थग्राह ऋणं दाप्यो योषिद्ग्राहस्तथैव च।
पुत्रोऽनन्याश्रितद्रव्यः पुत्रहीनस्य रिक्थिनः।। याज्ञ०स्मृ०, २/५१

ऋण पर सूद के प्रकार–

सूद के चार प्रकारों का उल्लेख किया गया है–

१. चक्रवृद्धि, २. कालवृद्धि, ३. कायिका व ४. कारिका।[१]

बृहस्पति ने "शिखावृद्धि" एवं "भोगलाभ" को भी सूद के अन्य प्रकार बताये हैं।[२] सूद के प्रकारों[३] के अर्थ को स्पष्ट करते हुए नारद कहते हैं कि ऋणदाता द्वारा निश्चित सूद "कारिता", प्रतिमास दी जाने वाली वृद्धि "कालिका", प्रतिदिन पण के रुप में दिया जाने वाला धन "कायिका"[४] व सूद पर सूद लगने की पद्धति को "चक्रवृद्धि" कहते हैं। आगे बृहस्पति इन प्रकारों का आलंकारिक भाषा में विस्तृत वर्णन देते हैं– "शिखावृद्धि" सूद का तात्पर्य यह है जैसे सिर की शिखा प्रतिदिन बढ़ती जाती है उसी प्रकार बढ़ने वाला सूद। "भोग् लाभ" वह सूद है जिसमें गृह का उपयोग किया जाये या भूमि का अन्न ग्रहण किया जाये।[५]

यद्यपि सूद सम्बन्धी विस्तृत नियम निर्धारित किये गए हैं तथापि ऋण पर सूद लेने की परम्परा को उस समय बहुत अच्छी दृष्टि से नहीं देखा जाता था। अत्यधिक सूद लेना अपने में चोर, पाप व अपराध के साथ निन्दनीय कार्य समझा जाता था। ब्रह्महत्याकर्ता एवं सूद लेने वाले में सूद लेनेवाला गुरु अपराधी माना जाता था।[६] नारद ने अन्न पर सूद लेने को निकृष्ट माना है किन्तु वैश्य को आपातकाल में अन्न पर सूद लेने की छूट देते हैं। ब्राह्मण के लिए आपातकाल में भी ऐसा करना वर्जित था।[७]

स्मृतियों में सूद की दरों के विस्तृत नियम निर्देशित किये गये हैं। अधिकांशतः वसिष्ठ द्वारा प्रतिपादित नियमों को स्वीकार करते हुए प्रतिमाह मूलधन के १/८०

---

१. चक्रकालवृद्धिः। कारिताकायिकाशिखाधिभोगाश्च।
गौ०ध०सू०, १२/३१-३२, कालिका कारिता चैवं कायिका च तथा परा। चक्रवृद्धिश्च शास्त्रेऽस्मिन् वृद्धिदृष्टा चतुर्विधा।। ना०स्मृ० ४/ऋणादानम्१०२

२. बृहस्पति, १०/८-९ (आयंगर द्वारा सम्पादित), गौ०ध०सू० १२/३२

३. प्रतिमासं स्रवन्ती या वृद्धिः सा कालिका स्मृता।
वृद्धिः सा कारिता नाम यर्णिकेन स्वयंकृता।।
कायाविरोधिनी शश्वत्पणपादादि कायिका।
वृद्धेरपि पुनर्वृद्धिश्चक्रवृद्धिरूदाहता।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १०३-१०४

४. गौतमधर्मसूत्र की मिताक्षरा टीका के अनुसार शारीरिक श्रम द्वारा चुकाया जानेवाला ब्याज "कायिका" कहलाता है। गौ०ध०सू०, १२/३२ पर मिताक्षरा।

५. बृहस्पति, १०/१०-१६ आयंगर सम्पादित।

६. वशिष्ठ ध०सू०, २/४१, अनु०प० ११७/२०, बौ०ध०सू०, १/५/१०/२४

७. आपदं निस्तरेद् वैश्यः कामं बार्धुषिकर्मणा।
आपत्स्वपि हि कष्टासु ब्राह्मणस्य न वार्धुषम्।। ना०स्मृ०, ४/ऋणादानम् १११

भाग को सूद के रूप में लेना स्वीकार किया गया है।[१] याज्ञवल्क्य के अनुसार यह नियम तभी लागू हो सकता था जबकि बंधक रूप में कोई वस्तु रखी गई हो। बंधक न होने की स्थिति में ब्राह्मण से दो प्रतिशत, क्षत्रिय से तीन एवं वैश्य व शूद्र से क्रमशः चार व पाँच प्रतिशत सूद प्रतिमाह लेना चाहिए।[२] किसी भी रूप में ऋणी से दिये गये ऋण का दुगुना ऋण नहीं लिया जा सकता था।[३] ब्याज के यह नियम सामान्य रूप से स्वीकृत थे किन्तु देशकाल एवं स्थानीय परम्पराके आधार पर इसमें कुछ अन्तर भी था।[४] मनु के अनुसार भारवाही पशुओं, अनाज, फल, घी, दूध आदि के ऋणों में सूद पाँच गुणे से अधिक नहीं लिया जा सकता था।[५] याज्ञवल्क्य के मतानुसार पशुओं और स्त्रियों के लिए उनकी सन्तान ही सूद होती थी एवं वस्त्र, धान्य व स्वर्ण पर सूद अधिक से अधिक क्रमशः दुगुना, तिगुना चौगुना होता था। तेल व घृत के ऋण में अधिक से अधिक आठ गुणा सूद लिया जा सकता था।[६] बृहस्पति व विष्णु के अनुसार मद्य बनाने वाले पदार्थो, रूई, सूत, चमड़ा, अस्त्र-शस्त्र, ईंटे, व कोयले पर सूद की कोई सीमा नहीं है।[७] मनु के अनुसार किन्हीं विशेष परिस्थितियों में सूद की दर निश्चित करने का अधिकार ऋणदाता पर रहता था।[८]

ऋण से मुक्त व्यक्तियों के विषय में कौटिल्य ने लम्बी अवधि तक होने वाले यज्ञ में घिरे व्यक्ति, व्याधिग्रस्त, गुरुकुल में अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी,

---

१. कुसीद्वृद्धिर्धर्म्या विंशतिः पञ्चमाषिकी मासम्।
गौ०ध०सू०, १२/२६, वसिष्ठ, २/२५०
वसिष्ठविहितां वृद्धिं सृजेद्वित्तविवर्धिनीम्।
अशीतिभागं गृहणीयान्मासाद्वार्धुषिकः शते।
मनु०स्मृ०, ८/१४०, याज्ञ०स्मृ०, २/३७, ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् ९९

२. मनु० स्मृ०, ८/१४१, १४२, अशीतिभागो वृद्धिः स्यान्मासि मासि सबन्धके।
वर्णकमाच्छतं द्वित्रितुष्पञ्चकमन्यथा।। याज्ञ०स्मृ० २/३७

३. कुसीदवृद्धिर्द्वैगुण्यं नात्येति सकृदाहृता।
धान्ये सदे लवे वाहये नातिक्रामति पञ्चताम्।। मनु० स्मृ०, ८/१५१

४. अर्थानां सार्वभौमोऽयं विधिर्वृद्धिकरः स्मृतः।
या देशावस्थितिस्त्वन्या यत्रर्णमवतिष्ठते।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १०५

५. मनु० स्मृ०, ८/१५१

६. सन्ततिस्तु पशुस्त्रीणां रसस्याष्टगुणापरा।
वस्त्रधान्यहिरण्यानां चतुस्त्रिद्विगुणा परा।। याज्ञ०स्मृ० २/३९

७. बृह०, ११/१६, विष्णु ६/१६ (वीरमि०)

८. समुद्रयानकुशला देशकालार्थदर्शिनः।
स्थापयन्ति तु यां वृद्धिं सा तत्राधिगमं प्रति।। मनु० ८/१५७

बालक या शक्तिहीन पुरुष जो ऋणी हों, उनको सूद देने से मुक्त किया है।[१] नारद ने मित्र को दिये गये ऋण पर सूद लेना वर्जित माना है।[२] शुक्र ने भी मित्रता के सम्बन्ध से बिना सूद के ऋण देने का अनुमोदन किया है। उनके अनुसार यदि मित्र पर पहले का ऋण शेष हो तो भी मित्रतावश उसे फिर ऋण दे देना चाहिए।[३] नारद व कात्यायन ने मित्र को बिना सूद ऋण देने की परम्परा तो स्वीकार की है किन्तु जब तक ऋणदाता मित्र अपना धन वापस न माँगें तब तक सूद नहीं लगता था किन्तु मित्र द्वारा अपना धन वापिस माँगने पर, धन वापिस न किये जाने की स्थिति में वापस माँगने के समय से पाँच प्रतिशत प्रतिमाह के हिसाब से सूद लगना प्रारम्भ हो जाता था।[४] नारद इस विषय में भिन्न नियम प्रस्तुत करते हैं। यदि मित्रों में ऋण चुकाने तक सूद का करार हो गया है तब तो सूद लगेगा और यदि करार नहीं भी हुआ है तो भी ऋण लेने के बाद यदि मित्र ने वह धन छः माह तक नहीं चुकाया है तो उस पर भी सूद लगना आरम्भ हो जायेगा।[५]

आधि (बंधक, रहन)– चल या अचल सम्पत्ति को बंधक रूप में रखना "आधि" कहलाती थी।[६] नारद ने "आधि" के सर्वप्रथम दो भाग किये हैं कृतकाल (जो कुछ काल तक के लिए ही रखा जाये एवं अकृतकाल (जो पूर्ण ऋण चुकाये जाने तक रहे। पुनः इनके भी दो भाग किये गये थे– प्रथम "गोप्यं एवं द्वितीय "भोग्य"।[७] मनु, याज्ञवल्क्य व कात्यायन ने भी गोप्य व भोग्य आधि का उल्लेख किया है।[८] बृहस्पति ने "आधि के चार प्रकार निर्देशित किये हैं[९]– (१) जंगम, (२) स्थावर, (३) गोप्य, (४) भोग्य। "आधि" के भोग्य होने पर सूद देय नहीं होता था, अपितु ऋणी द्वारा ऋण लौटा देने पर सम्पत्ति ऋण अदाकर्ता को पहुँच जाती थी।[१०]

---

१. कौ०अ०, ३/११/१५

२. न वृद्धिः प्रीतिदत्तानां स्यादनाकारिता क्वचित्।
अनाकारितमप्यूर्ध्वं वत्सरार्धात्प्रवर्धते।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १०८

३. शुक्र, ३/१९१

४. प्रीतिदत्तं तु यत् किंञ्चिन्न तद्वर्धत्ययाचितम्।
याच्यमानमदत्तं चेद्वर्धते पञ्चकं शतम्। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १०९, कात्या० ५०५

५. ना०स्मृ० ४/१०८

६. अधिक्रियत इत्याधिः स विज्ञेयो द्विलक्षणः।
कृतकालोपनेयश्च यावद्देयोद्यतस्तथा ।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १२४ याज्ञ०, २/५९

७. स पुनर्द्विविधः प्रोक्तो गोप्यो भोग्यस्तथैव च।
उपचारस्तथैवास्य लाभहानिर्विपर्यये।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १२५

८. मनु०स्मृ० ८/१४३, गोप्याधिभोगे नो वृद्धिः सोपकारे च हापिते।
नष्टो देयो विनष्टश्च देवराजकृतादृते।। याज्ञ० स्मृ०, २/५९, कात्या० ५७६ (काणे अनुवाद)

९. बृहस्पति, १०/३८, (आयंगर द्वारा सम्पादित)

१०. याज्ञ०, २/६०

"आधि" का मूल्य कम होने, या आधि के मूल व ब्याज के बराबर होने, अथवा नष्ट भ्रष्ट होने पर, ऋणी को दूसरी वस्तु बन्धक के रूप में रखनी पड़ती थी, या ऋण वापिस करना पड़ता था।[१] ऋणदाता को बन्धक के रूप में रखी वस्तु सुरक्षा के साथ रखनी पड़ती थी। यदि बन्धक रखी वस्तु को ऋणदाता उपयोग में लाता था तो ब्याज बन्द हो जाता था। आधि के नष्ट होने पर ऋणदाता को उसका सम्भावित मूल्य अदा करना अनिवार्य होता था। "बन्धक" वस्तु के खराब होने पर ब्याज देना निषिद्ध होता था। साथ-साथ ऋण भी समाप्त ही समझ लिया जाता था।[२] ऋणी समय से पूर्व आधि (बन्धक) को मांग नहीं सकता था। परन्तु समयोपरान्त आधि न लौटाने वाला व्यक्ति चोर सदृश दण्डित होता था।[३] ऋणदाता को, यदि ऋण का धन सूद मिलकर दूना हो जाने के बाद भी ऋणीसे धन न मिला हो, ऋणी की मृत्यु हो गयी हो, ऋणी अनुपस्थित हो अथवा निश्चित समय बीत चुका हो तो ऋणी के सम्बन्धियों एवं साक्षियों के समक्ष आधि बेचकर धन प्राप्त करने का अधिकार था।[४] कात्यायन ने इस संदर्भ में एक नियम और जोड़ते हुए यह स्पष्ट किया है कि ऋणदाता द्वारा आधि बेचकर प्राप्त धन में से अपना धन लेकर शेष धन राजा को देना पड़ता था।[५] ऋणदाता की मृत्यु हो जाने की स्थिति में अथवा उसके कहीं बाहर चले जाने की स्थिति में ऋणी उसके कुटुम्ब को धन चुकाकर "आधि" वापिस ले सकता था। यदि कुटुम्बी भी न हो व ऋणदाता ब्राह्मण हो तो किसी ब्राह्मण को ऋण देकर और यदि ब्राह्मण भी उपलब्ध नहीं है तो धन को जल में फैंक कर आधि वापिस ली जा सकती थी।[६]

प्रतिमू या प्रतिभाव्य– "प्रतिभू" का अर्थ है किसी का उत्तरदायित्व लेना अर्थात् किसी की जमानत देना।[७] गौतमधर्मसूत्र में उसके लिए "प्रतिभाव्य" शब्द का प्रयोग

---

१. रक्ष्यमाणोऽपि यत्राधिः कोलेनेयादसारताम्।
तत्राधिरन्यः कर्त्तव्यो देयं वा धनिने धनम्।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् १३०

२. याज्ञ०, २/५९-६०, ना०स्मृ०, ४/१२५-२७
न भोक्तव्यो बलादाधिर्भुञ्जानो वृद्धिमुत्सृजेत्।
मूल्येन तोषयेच्चैनमाधिस्तेनोऽन्यथा भवेत्।। मनु०स्मृ० ८/१४४

३. उपस्थितस्य मोक्तव्य आधिः स्तेनोऽन्यथा भवेत्।
प्रयोजकेऽसति धनं कुले न्यस्याधिमाप्नुयात्। याज्ञ०स्मृ०, २/६२

४. तत्कालकृतमूल्यो वा तत्र तिष्ठेदवृद्धिकः।
बिना धारणकाद्वापि विक्रीणीत ससाक्षिकम्।। वही, २/६३

५. कात्या, ५२९।

६. याज्ञ०, २/६२, यदा तु न सकुल्याः स्युर्न च सम्बन्धितबान्धवाः। तदा दद्याद् द्विजातिभ्यस्तेष्वसत्स्वप्सु निक्षिपेत्।। ना०स्मृ० /ऋणादानम्११३

७. मनु० स्मृ०, ८/१५८

मिलता है अर्थात् ऋण अदा करने के लिए विश्वासहेतु दूसरे पुरुष के साथ जो समय, शर्त, प्रतिबन्ध या मर्यादा निश्चित की जाती है उसे प्रतिभाव्य कहते हैं।[१] याज्ञवल्क्य के अनुसार "दर्शन" दिखा देना (न्यायालय में उपस्थित करना, प्रत्यय और "दान" (स्वयं देने की प्रतिज्ञा करना) को प्रतिभाव्य कहते हैं। प्रथम दो प्रतिभाव्य ऋण अदायगी के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे। परन्तु तीसरे प्रतिभाव्य को ऋण लौटाना पड़ता था। उसकी मृत्यु पर उसका पुत्र ऋण अदा करता था।[२] क्योंकि ऋण प्रतिभाव्य पर है, ऋणी पर नहीं। याज्ञवल्क्य के अनुसार सम्मिलित प्रतिभूति में सभी को समान रूप से बांटकर ऋण का अंश चुकाना पड़ता था। यदि सभी प्रतिभू समान रूप से ऋणी के समान पूरा धन देने को उद्यत रहते थे तो ऐसी स्थिति में ऋणदाता अपनी इच्छानुसार किसी एक से धन ले सकता था। नारद ने भी उपरोक्त मत का समर्थन किया है।[३] मनु ने पुत्रों को उत्तरदायित्व से पूर्णरूपेण मुक्त किया है। यद्यपि वे एक स्थल पर पुत्र द्वारा ऐसे धन के दिये जाने को शास्त्र-सम्मत कहते हैं जहाँ पुत्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है।[४]

ऋणशोधन के प्रकार–

ऋण शोधन के कई प्रकार थे। यदि ऋणी ऋण लेना अस्वीकार करता था तो उस स्थिति में मुकद्दमा चलाया जा सकता था व राजा को यह अधिकार था कि वह किसी प्रकार से ऋणदाता को उसका धन ऋणी से वापिस दिलवाये।[५] ऋणी द्वारा ऋण लेना स्वीकार कर लेने पर ऋण शोधन के पाँच प्रकार कहे गये हैं।

१. धर्म– ऋणी को समझा-बुझाकर, अनुरोध या अनुनय करके ऋण वसूल करने की व्यवस्था करना।

२. व्यवहार– न्यायालय में वाद प्रस्तुत करके ऋण लेना।

३. छल या उपाधि– छल से ऋण वसूल करना।

४. आचरित– धरणा आदि देना (ऋणी के द्वार पर पशु बांधकर या अपनी पत्नी सहित बैठकर उपवास आदि करना)

---

१. अग्निपुराण, अध्याय, २५४

२. मनु० स्मृ०, ८/१६०, दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्यं विधीयते।
आद्यौ तु वितथे दाप्यावितरस्य सुता अपि, याज्ञ० २/५३, उपस्थानाय दानाय प्रत्ययाय तथैव च।
त्रिविधः प्रतिभूदृष्टस्त्रिष्वेवार्थेषु सूरिभिः। ना०स्मृ०, ऋणादानम् /११८

३. बहवः स्युर्यदि स्वांशैर्दद्युः प्रतिभुवो धनम्।
एकच्छायाश्रितेष्वेषु धनिकस्य यथारूचि।। याज्ञ०२/५५, ना०स्मृ० ४/१२०

४. मनु०, ८/१६१-१६२

५. यैर्यैरूपायैरर्थं स्वं प्राप्नुयादुत्तमर्णिकः
तैस्तैरुपायैः संगृहय दापयेदधमर्णिकम्।। मनु० स्मृ०, ८/४८

५. बल[१]— बल प्रयोग द्वारा (घर बुलाकर बांधना, बंद करना, मारना-पीटना।)

बृहस्पति ने "व्यवहार" का उल्लेख नहीं किया है।[२] याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि ऋणदाता ऋणी से धर्मपूर्वक अपना धन वसूलता है तो राजा को उसमें दखल नहीं देना चाहिए। लेकिन राजा को धन दिलाने का निवेदन किये जाने पर राजा ऋणदाता को उसका ऋण दिलाये।[३] ऋणी यदि ऋण का शोधन करने में असमर्थ होता था तो राजा उसे ऋणदाता के पास कार्य करने के लिए बाध्य कर सकता था। कृषक, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र कार्य के द्वारा ऋण चुकाने में बाध्य होते थे।[४]

ऋण देने व लेने की पूर्ण लिखा-पढ़ी आवश्यक थी।[५] ऋणी द्वारा धन प्राप्ति का स्वहस्ताक्षर युक्त प्राप्तिपत्र (रसीद) देना आवश्यक था। यदि ऋणी एक बार में ऋण अदा करने में असमर्थ होता था तथा ऋण का भुगतान अंश रूप में करता था तो ऋणदाता को धन प्राप्ति का पत्र देना अनिवार्य था। ऋणदाता द्वारा प्राप्ति की रसीद न देने पर तो शेष बचे हुए ऋण को चुकता मान लिया जाता था। यदि ऋणदाता ऋणी के आग्रह करने पर भी प्राप्तिपत्र नहीं देता था तो स्वयं ऋणदाता को ऋणी का देनदार बन जाता था।[६] याज्ञवल्क्य व नारद के अनुसार ऋण चुकता होने पर ऋण लेख्य प्रमाणपत्र लिखकर ऋणमुक्त व्यक्ति को दे दिया जाता था कि आज से मेरा कोई ऋण शेष नहीं है। साक्षियों की उपस्थिति में लिया गया ऋण साक्षियों के सम्मुख ही लौटाया जाता था।[७]

---

१. धर्मेण व्यवहारेण छलेनाचरितेन च।
प्रयुक्तं साधयेदर्थं पञ्चमेन बलेन च।।
मनु०स्मृ०, ८/४९, ना०स्मृ०, ऋणादानम् /१२२

२. बृह०स्मृ०, १०/९० (आयंगर द्वारा सम्पादित)

३. प्रपन्नं साधयन्नर्थं न वाच्यो नृपतेर्भवेत् ।
साध्यमानो नृपं गच्छन्दण्डयो दाप्यश्च तद्धनम्। याज्ञ०स्मृ०, २/४०, मनुः स्मृ०, ८/१७६

४. कर्मणाऽपि समं कुर्याद्धनिकायाधमर्णिकः।
समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्यात्छ्रेयांस्तु तच्छनैः।। मनु०, स्मृ०, ८/१७७,
हीनजातिं परिक्षीणमृणार्थं कर्म करयेत्।
ब्राह्मणस्तु परिक्षीणः शनैः दाप्यो यथोदयम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/४३ ना०स्मृ०, ऋणादानम् /१३१

५. बृहस्पति, ११/१ (जॉली अनुवाद पृ० ३१९)

६. गृहीत्वोपगतं दद्यादृणिकायोदयं धनी।
अददद्याच्यमानस्तु शेषहानिमवाप्नुयात्।।
यदि नो लेखयेद्दत्तमृणिनां चोदितोऽपि सन्।
ऋणिकस्यपि वर्धेत यथैव धनिकस्य वत्।। ना०स्मृ०, ऋणादानम् /११४-११५

७. दत्तवर्णं पाटयेल्लेख्यं शुद्धयै वाऽन्यत्तुकारयेत्।
साक्षिमच्च भवेद्यद्वा तद्दातव्यं ससाक्षिकम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/९४,
लेख्यं दद्याद्विशुद्धर्णे तदभावे प्रतिश्रवम्।
धनिकर्णिकयोरेवं विशुद्धिः स्यात् परस्परम्।। ना०स्मृ० ऋणादानम् /११६

ऋणशोधन के सम्बन्ध में एक अन्य नियम यह भी था कि यदि एक व्यक्ति ने अनेक व्यक्तियों से ऋण लिया हो तो उसे वर्ण की उच्चता के क्रम से ऋण चुकाना होता था। यथा सर्वप्रथम ब्राह्मण का ऋण चुकता करके तत्पश्चात् क्षत्रिय का ऋण चुकता करे।[१] नृप द्वारा ऋणी से ऋण वसूल करने पर ऋणी से १० प्रतिशत तथा ऋणदाता से पाँच प्रतिशत ऋण धन का प्राप्त किया जाता था, यदि ऋण दाता व्याज के लालच में ऋण दिये जाने पर भी स्वीकार नहीं करता था तो ऋण की आधि को किसी मध्यस्थ के यहाँ रख दिया जाता था व उसी दिन से सूद लगना बंद हो जाता था।[२]

ऋण चुकाने के संदर्भ में कौटिल्य के अनुसार ऋणी कृषकों व राजकर्मचारियों को उनके कार्य के समय पकड़ने की मनाही थी।[३]

ऋण चुकाने का उत्तरदायित्व किन परिस्थितियों में किस पर होता था इसके विभिन्न नियमों के मध्य जो सर्वमान्य सामान्य प्रचलित नियम थे उनके अनुसार ऋण चुकाने का उत्तरदायित्व चौथी पीढ़ी से आगे नहीं जाता था।[४] पैतृक सम्पत्ति प्राप्त करने पर ही पुत्र या पौत्र ऋण के देनदार होते थे अथवा जिसे भी सम्पत्ति मिली थी वह ऋण चुकाने का उत्तरदायी होता था भले ही वह पुत्र या पौत्र न हो। पिता के द्वारा अनैतिक कार्यों अथवा अवैधानिक कार्यों हेतु लिये गये ऋण का कोई उत्तरदायित्व पुत्र-पौत्रों पर नहीं आता था। इसके अन्तर्गत उस ऋण को भी सम्मिलित किया गया है जो राजा द्वारा दिये गये दण्ड का शेष धन पिता पर बाकी हो।[५]

उपर्युक्त नियमों में कुछ अपवाद भी मिलते हैं– पिता की मृत्यु हो जाने पर विदेश चले जाने पर अथवा रूग्ण होने पर पुत्र व पौत्रों पर उत्तरदायित्व होता था।[६] जीवित पिता के पास रहते हुए भी सन्यासी हो जाने पर पुत्र-पौत्र उत्तरदायी

---

१. गृहीतानुक्रमाद्दाप्यो धनिनामधमर्णिकः।
दत्त्वा तु ब्राह्मणायैव नृपतेस्तदनन्तरम्।। याज्ञ०स्मृ० २/४१

२. राज्ञाऽधमर्णिको दाप्यः साधिताद् दशक शतम्।
पञ्चकं च शतं दाप्यः प्राप्तार्थो ह्युत्तमर्णिकः।। याज्ञ० स्मृ०, २/४२

३. कौ०अ०, ३/११/२८

४. बृह० १०/११३ (आयंगर सम्पादित)

५. प्रातिभाव्यं वृथादानमाक्षिकं सौरिकं च यत्।
दण्डशुल्कावशेषं च न पुत्रो दातुमर्हति।। मनु०स्मृ०, ८/१५९,
सुराकामद्यूतकृतं दण्डशुल्कावशिष्टकम्।
वृथादानं तथैवेह पुत्रो दद्यान्नपैतृकम् ।। याज्ञ०स्मृ०, २/४७, ना०स्मृ०, ऋणादानम् /१०

६. पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा।
पुत्रपौत्रैर्ऋणं देयं निह्नवे साक्षिभावितम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/५०

माने जाते थे। जन्मांध, जातिच्युत, पागल व अतिवृद्ध पिता के ऋण को भी पुत्र-पौत्रों को चुकाना पड़ता था।[१] कुटुम्भ के भरण-पोषण हेतु लिये गये ऋण का शोधन करने की जिम्मेदारी कुटुम्ब पर थी। पिता के ऋणों को पुत्र द्वारा चुकाने पर ही पिता की मुक्ति मानी जाती थी अन्यथा पिता नरकवासी होता था[२] ऐसी मान्यता थी। किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पुत्र द्वारा पिता का ऋण न चुकाने पर पौत्र को चुकाना पड़ता था लेकिन केवल मूलधन चुकाना पड़ता था।[३]

संयुक्त परिवार में अनेक व्यक्तियों या एक व्यक्ति द्वारा जो ऋण कुटुम्ब के पालन के लिए लिया गया हो, उसे उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके सभी उत्तराधिकारियों को ऋण चुकाना पड़ता था।[४] पुत्र व पत्नी के व्यक्तिगत ऋण का उत्तरदायित्व पिता या पति पर, जैसी स्थिति हो, तभी होता था जबकि उसने देनदारी की स्वीकृति दे दी हो अथवा पिता की आज्ञा से ही पुत्र ने ऋण लिया हो अथवा वह उसका दायी नहीं होता।[५]

गृहस्वामी या पति के दायित्व के सम्बन्ध में कुछ अपवाद भी मिलते हैं तथा जहाँ पति की आय तथा गृहव्यय पत्नी पर निर्भर होता था, जैसे ग्वालों, अभिनेताओं, धोबियों एवं शिकारियों के मामलों में वहाँ पत्नी द्वारा लिये गये ऋण का दायित्व पति पर होता था।[६] कौटिल्य के अनुसार ऐसे पुरुषों को जिनकी जीविका कुछ न कुछ स्त्रियों पर निर्भर करती थी जैसे ग्वाला आदि, उनके ऋण की देनदार पत्नी भी होती थी। अन्य परिस्थितियों में पति के ऋण के लिए पत्नि पर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता था।[७] कौटिल्य ने एक नवीन व विपरीत मत व्यक्त किया है, यदि पति अपनी पत्नी द्वारा लिये गये ऋण की व्यवस्था से बचने के लिए विदेशयात्रा की इच्छा करता है तो उसे उत्तमसाहस का दण्ड देना चाहिए अर्थात् पति को हर स्थिति में पत्नी के ऋण के लिए बंदी बनाया जा सकता है।

---

१. बृहस्पति, १०/११०-११३

२. वही, १०/११९

३. वही० ११/४८-४९

४. अविभक्तैः कुटुम्बार्थे यदृणं तु कृतं भवेत्।
दद्युस्तद्रिक्थिनः प्रेते प्रोषिते वा कुटुम्बिनि।। याज्ञ०स्मृ०, २/४५,
कुटुम्बहेतोरुत्क्षिप्तं दातव्यं तत्कुटुम्बिना।। ना०स्मृ०, ऋणादानम् /१२ मनु०स्मृ०, ८/१६७

५. याज्ञ०, २/४६, ना०स्मृ०, १/१०-११

६. गोपशौण्डिकशैलूषरजकव्याधयोषिताम्।
ऋणं दद्यात्पतिस्तेषां यस्माद्वृत्तिस्तदाश्रया।। याज्ञ०स्मृ०, २/४८, ना०स्मृ०, ऋणादानम् /१०-११

७. कौ०अ० ३/११

निक्षेप

"निक्षेप" शब्द का अर्थ है धरोहर। इस अर्थ के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग देखने में मिलता है यथा निक्षेप, उपनिधि एवं न्यास आदि। अर्थ की समानता होने पर भी धर्मशास्त्रों में इसको पृथक-पृथक रुप से परिभाषित किया गया है। मनु-स्मृति व वसिष्ठ धर्मशास्त्र में निक्षेप व उपनिधि को पृथक-पृथक माना है।[१] कौटिल्य भी निक्षेप व उपनिधि को पृथक्-पृथक् मानते हैं।[२] याज्ञवल्क्य के अनुसार "उपनिधि" वह द्रव्य है जिसको किसी पात्र में रखकर रूप या संख्या आदि बताये बिना किसी के पास रख दिया जाता है।[३] नारद भी इसी का समर्थन करते हैं।[४] जबकि जिस समय कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य पर विश्वास कर शंका रहित होकर, उसके पास अपनी वस्तु, द्रव्य धरोहर के रूप में रखता है, तो उसे निक्षेप कहते हैं।[५] बृहस्पति के अनुसार अपना घर छोड़कर कहीं जाने पर, राजा के भयस्वरूप व अपने संबन्धियों को वंचित करने के कारण किसी दूसरे के पास रखी गयी धरोहर को "निक्षेप" कहा जाता है।[६] लेकिन राजभय अथवा चोरों के भय से, किसी खतरे से या सम्पत्ति से बेदखल किये जाने की आशंका से सुरक्षा हेतु रखी गयी धरोहर "न्यास" कहलाती है।[७] याज्ञ० स्मृति में मिताक्षराकार के अनुसार घर के मालिक की अनुपस्थिति में घर के किसी अन्य सदस्य को वस्तु दे देना– "न्यास" कहलाता है।[८]

---

१. अ) आधिःसीमा बालधनो निक्षेपोपनिधिस्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न संभोगेन हीयते।। वासिष्ठ, ध०सू०, १६/१८
ब) आधिःसीमा बालधनं निक्षेपोपनिधिः स्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियस्वं च न भोगेन प्रणश्यति।। मनु०स्मृ०, ८/१४९

२. कौअ०, ३/१२

३. वासनस्थमनाख्याय हस्तेऽन्यस्य यदर्प्यते।
द्रव्यं तदौपनिधिकं प्रतिदेयं तथैव तत्।। याज्ञ०स्मृ०, २/६५

४. असंख्यातमविज्ञातं समुद्रं यन्निधीयते।
तज्जानीयादुपनिधिं निक्षेपं गणितं विदुः।। नारद, मिताक्षरा से उद्धृत

५. स्वद्रव्यं यत्र विश्रम्भान्निक्षिपत्यविशङ्कितः।
निक्षेपो नाम तत्प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैः।। ना०स्मृ० निक्षेप०–१

६. स्थानत्यागाद्राजभयाद् दायादानां च वञ्चनात्।
स्वद्रव्यमर्प्यतेन्यस्य हस्ते निक्षेपमाह तम्। बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका २, पृ० १७८

७. राजचौरारातिभयाद् दायादानां च वञ्चनात्।
स्थाप्यतेऽन्यगृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तितः। बृहस्पति, व्य०प्र० २७९

८. न्यासो नाम गृहस्वामिनेऽदर्शयित्वा तत्परोक्षमेव गृहजनहस्ते प्रक्षेपो गृहस्वामिने समर्पणीयमिति, याज्ञ०स्मृ०, २/६७ पर मिताक्षरा।

अनेक स्मृतिकारों ने निक्षेप एवं उपनिधि का पृथक्-पृथक् अस्तित्व स्वीकार किया है।[१] परन्तु आगे चलकर वह एक रूप में समाविष्ट होकर रूढ़ हो गई थी। निक्षेप को सदैव ही कुलीन, चरित्रवान्, धार्मिक, सन्यासी, दीर्घकुटुम्बी, धनी एवं ऋजु व्यक्ति के पास रखा जाता था।[२] धरोहर की सुरक्षा का पूर्ण उत्तरदायित्व धरोहर रखने वाले पर होता था।[३] किन्तु यदि राजा के कारण, चोरी के कारण अथवा दैवी विपत्तिवश धरोहर नष्ट हो जाती थी तो धरोहर रखनेवाला उसका उत्तरदायी नहीं होता था।[४]

"निक्षेप" को साक्षियों के सम्मुख रखा जाता था।[५] धरोहर की वापसी भी सील एवं मुद्रांकित रूप में ही होती थी।[६] धरोहर रखनेवाले की मृत्यु के पश्चात् मृतक के उत्तराधिकारियों को निक्षेप (सम्पत्ति) बिना माँगे लौटा दी जाती थी।[७] बृहस्पति के अनुसार धरोहर रखनेवाले को ही लौटानी चाहिए उसके उत्तराधिकारी को नहीं। बृहस्पति, १२/९, जॉली अनुवाद

निक्षेप का उपभोग करने वाला दण्डनीय होता था। लापरवाही के कारण अथवा किसी कारण नष्ट हुई या खो गई निक्षेप को लौटाना पड़ता था।[८] नारद के अनुसार यदि धरोहर रखने वाला व्यक्ति धरोहर से लाभ कमाता है (बिना उसके स्वामी की आज्ञा लिए हुए) तो वह भी अपराधी होता था। वह दण्डनीय था व धरोहर से प्राप्त लाभ को भी प्रत्यावर्तित करना पड़ता था।[९] निक्षेप माँगने पर अविलम्ब लौटाना आवश्यक था यदि धरोहर उचित समय पर लौटाई नहीं जाती थी तो धरोहर रखनेवाले को वस्तु मूल्य का दुगुना अर्थदण्ड देना पड़ता था।

---

१. मनु०स्मृ०, ८/१४९, कौ०अ०, ३/१२

२. कुलजेवृत्तसम्पन्ने धर्मज्ञेसत्यवादिनि।
महापद्येधनिन्यर्थे निक्षेपं निक्षिपेद्बुधः। मनु०स्मृ०, ८/१७९, ना०स्मृ० ४ निक्षेप, २

३. मनु०स्मृ० ८/१९२, १८५

४. मनु०स्मृ० ८/१८९, याज्ञ० २/६७, नारद ४, निक्षेप /९ गौ० धर्म०सू० २/४/३९

५. स पुनर्द्विविधः प्रोक्तः साक्षिमानितरस्तथा।
प्रतिदानं तथैवस्य प्रत्ययः स्याद्विपर्यये।। ना०स्मृ०, ४, निक्षेप /६

६. मनु०स्मृ०, ८/१८५, याज्ञ०स्मृ०, २/६५

७. स्वयमेव नु यो दद्यान्मृतस्य प्रत्यनन्तरे।
न स राज्ञाभियोक्तव्यो न निक्षेप्तुश्च बन्धुभिः।। ना०स्मृ०, ४, निक्षेप /१०,

८. याच्यमानस्तु यो दात्रा निक्षेपं न प्रयच्छति।
दण्डयः स राज्ञा दुष्टात्मा नष्टे दाप्यश्च तत्समम्।। याज्ञ०स्मृ० २/६७,
ना०स्मृ० २/७, बृहस्पति स्मृति, (जॉली अनवाद) १२/११, कात्यायन, ५९६-५९७

९. यं चायं साधयेत्तेन निक्षेप्तुरननुज्ञया
तत्रापि दण्ड्यः स भवेद्दाप्यस्तच्चापि सौदयम्।। ना०स्मृ०, २/८

भूमि तथा गौ आदि गिरवी रखकर ऋण लेने पर यदि ऋणदाता उनका उपभोग करता है व उनसे लाभान्वित होता है तो उस पर ब्याज नहीं लिया जाता था व अधिक समय व्यतीत हो जाने पर मूल धनराशि के दुगुना हो जाने पर भी ऋणदाता रहन रखी हुई सम्पत्ति को न तो किसी दूसरे को देने का अधिकारी था और न ही उसे बेचने का।[2] रहन रखी हुई वस्तु का उपभोग करना सर्वथा अमान्य था। यदि उसका उपभोग किया जाता था तो ऋणी से सूद न लेने का विधान था। तथा बन्धक रखी हुई वस्तु के नष्ट हो जाने पर ऋणी को उसका मूल्य देकर संतुष्ट करना पड़ता था। रहन रखी वस्तु पर असली स्वामी का स्वामीत्व अधिक समय व्यतीत हो जाने पर भी बराबर बना रहता था।[3]

अपनी सम्पत्ति को दूसरे के द्वारा उपभोग में लायी जाती हुई देखते हुए भी स्वामी यदि दशवर्षों तक कुछ नहीं कहता तो उसका सम्पत्ति पर से अधिकार समाप्त हो जाता था। लेकिन बालक, पागल, स्त्री, नृप व वेदपाठी के विषय में यह नियम लागू नहीं होता था।[4]

निक्षेप को लेकर वापिस न करनेवाले अथवा बिना निक्षेप को दिये ही वापिस मांगनेवाले को चोर के समान दण्डित किया जाना चाहिए।[5] निक्षेप के संबन्ध में वृथा एवं असत्य भाषणकर्ता को निक्षेप तुल्य दण्ड दिया जाता था।[6]

सम्भूयसभुत्थान

जब अनेक मनुष्य संयुक्त रूप से परस्पर मिलकर कोई व्यापार या कार्य करते थे तो उसे "सम्भूयसमुत्थान" कहा जाता था।[7] सम्भूयसमुत्थान में लाभ व हानि का बँटवारा लगायी गयी पूँजी के अनुसार होता था। अथवा उनमें परस्पर हुई

---

१. यो निक्षेपं याच्यमानो निक्षेप्तुर्न प्रयच्छति।
स याच्यः प्राड्विवाकेन तान्निक्षेप्तुरसन्निधौ।। मनु०स्मृ०, ८/१८१

२. न त्वेवाधौ सोपकारे कौसीदीं बृद्धिमाप्नुयात्।
न चाधेः कालसंरोधान्निसर्गोऽस्ति न विक्रयः। मनु०स्मृ०, ८/१४३

३. मनु०स्मृ०, ८/१४४-१४५

४. मनु०,स्मृ०, ८/१४७-१४८

५. यो निक्षेपं नार्पयति यश्चानिक्षिप्य याचत।
तावुभौ चौरवच्छास्यौ दाप्यौं वा तत्समं दमम्।। वही, ८/१९१

६. निक्षेपो यः कृतो येन यावांश्च कुलसन्निधौ।
तावानेव स विज्ञेयो विब्रुवन्दण्डमर्हति। मनु०स्मृ०, ८/१९४

७. वणिकप्रभृतयो यत्र कर्म सम्भूय कुर्वते।
तत्सम्भूयसमुत्थानं व्यवहारपदं स्मृतम्।। ना०स्मृ०, ४, सम्भूयसमुत्थान,१।

संविदा के अनुसार होता था।[१]

"सम्भूय" शब्द की निष्पत्ति "सम्" उपसर्ग पूर्वक "भू" धातु से निष्पन्न हुई है जिसका अर्थ है– एक साथ होना। बृहस्पति के अनुसार भागीदार (सहकारिता) का व्यवहार चतुर, कुलीन, दक्ष, विद्वान व साहसी जनों के साथ ही किया जाना चाहिए अन्य जनों के साथ नहीं[२]। साझे में लगायी गयी पूँजी के अनुपात से ही साझेदार को श्रम करना पड़ता था एवं स्वर्ण, अन्न एवं पेय पदार्थों का विभाजन आय-व्यय, हानि-लाभ व परिश्रम के आधार पर ही होता था।[३] साझेदारी में भले ही कोई साझेदार उपस्थित हो या अनुपस्थित हो लेकिन साझेदारी में परस्पर ईमानदारी बरतना उनका कर्त्तव्य था। एक साझेदार द्वारा किया गया कार्य प्रत्येक साझेदार द्वारा सम्मानित माना जाता था। संदिग्ध परिस्थितियों का निराकरण वे परस्पर मिलकर करते थे। सत्यता को प्रमाणित करने के लिए वे परस्पर विशिष्ट शपथ या दिव्य का अवलम्बन भी लेते थे। सभी साझेदारों के लिए यह आवश्यक था कि वे अनधिकृत रूप से अथवा दूसरे साझेदारों की अनुमति के बिना कोई ऐसा कार्य न करे जिससे सबकी हानि हो। ऐसा करने वाले को उस हानि की व्यक्तिगत रूप से क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। इसके विपरीत साझेदारी की सम्पत्ति की सुरक्षा करने वाले भागीदार को रक्षित सम्पत्ति का दशमांश पुरस्कार स्वरूप दिया जाता था।[४] यदि कोई साझेदार क्रय-विक्रय में बेईमानी करता था तो उसे शपथ या दिव्य द्वारा अपनी निर्दोषता प्रमाणित करनी पड़ती थी।[५] साझेदार के विदेशगमन या

---

१. I) समवायेन वणिजां लाभार्थं कर्म कुर्वताम् ।
लाभालाभौ यथाद्रव्यं यथा व। संविदा कृतौ। मनु०स्मृ०, ८/२५९
II) सम्भूयस्वानि कर्माणि कुर्वद्भिरिह मानवैः।
अनेन विधियोगेन कर्त्तव्यांशप्रकल्पना।। याज्ञ०स्मृ० २/२११
III) समोऽतिरिक्तो हीनो वा तत्रांशे यस्य यादृशः
क्षयव्ययो तदा वृद्धिस्तत्र तस्य तथाविधाः।। ना०स्मृ०, संभूय समुत्थान० ३

२. कुलीनदक्षानलसैः प्राज्ञेर्नाणवेदिभिः अशक्तालसरोगार्तमन्दभाग्यनिराश्रेयैः वाणिज्या द्यासहेतैसुत न कर्तव्या बुधैः क्रिया।। बृह०उद्०स्मृ० चन्द्रिका २ पृ० ८४ पर

३. समक्षसमक्षंवा अवन्वयन्तः परस्परम्। नानापण्यानुसारात्तेप्रकुर्युः क्रयविक्रयो। व्यास, उद्०स्मृ० च० पृ० १८५ पर बृह० उद०स्मृ०च० २ पृ० १२५।

४. प्रतिषिद्धमनादिष्टं प्रमादाद्यच्च नाशितम्।
स तद्दद्याद्विप्लवाच्च रक्षिताद्दशमांशभाक्। याज्ञ०स्मृ० २/२६०
I) प्रमादान्नाशितं दाप्यः प्रतिषिद्धकृतं च यत्।
असंदिष्टश्च यत् कुर्य्यात् सर्वसम्भूयकारिभिः।
दैवतस्कतराजभ्यो व्यसने समुपस्थिते।
यस्तत्स्वशक्त्या रक्षेत तस्यांशो दशमः स्मृतः। ना०स्मृ०, संभूयसमुत्थान/५-६

५. बृहस्पति, १४/७ जॉली अनुवाद।

मृत्यु हो जानेपर उसका अंश उसके उत्तराधिकारियों या सजातियों को दिया जाता था। उत्तराधिकारिगों तथा सजातियों के अभाव में १० वर्ष की परीक्षा के उपरान्त मृत व्यक्ति के भाग को सभी साझेदार परस्पर समान रूप में विभक्त करने के अधिकारी होते थे। ऐसा न होने पर वह अंश राजा को मिल जाता था।[१] उत्तराधिकारियों को अपना उत्तराधिकार सिद्ध करना अनिवार्य होता था।[२] बृहस्पति ने केवल ३ वर्षो का समय निर्धारित किया है। बृहस्पति के अनुसार ब्राह्मण की सम्पत्ति होने पर उसे राजा स्वयं न रखकर अन्य ब्राह्मणों में बाँट देता था।[३] यहाँ पर बृहस्पति ब्राह्मणों के पक्षपाती दिखायी देते हैं। जो कि न्यायिक प्रक्रिया की दृष्टि में अनुचित है। याज्ञवल्क्य के अनुसार दुष्टता एवं छल व प्रपंचकर्ता साझेदार को बिना भाग दिये सहकारिता से पृथक् कर दिया जाता था।[४] धर्मशास्त्रों में साझेदार के स्वयं कोई कार्य करने में असमर्थ होने की स्थिति में प्रतिनिधि की नियुक्ति को भी मान्यता दी है।[५] कौटिल्य के अनुसार पूरा सामान बिक जाने की स्थिति में साझेदारों को तुरन्त उनका हिस्सा दे देने का नियम था। क्योंकि भविष्य में काम करने में पुनः सफलता व असफलता समान हो सकती है।[६] कार्य चलते हुए स्वस्थ व्यक्ति द्वारा कार्य छोड़कर चले जाने पर बारह पण दण्ड का विधान किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि कौटिल्य द्वारा अस्वस्थ व्यक्ति को विशेष छूट दी गयी है।[७] साझेदारी में चोरी करने वाले के द्वारा सत्य बात कहने पर उसे उसका हिस्सा देकर क्षमा कर दिया जाता था किन्तु उसके द्वारा पुनः चोरी करने पर उसे साझेदारी से पृथक् कर देने का नियम था।

बृहस्पति शिल्पियों के साझीदारी के नियमों का भी वर्णन करते हैं।[८] शिल्पियों के साझे का कार्य करने में उन्हें उनके कार्यानुसार ही लाभांश प्राप्त होता

---

१. देशान्तरगतेप्रेते द्रव्यं दायादबान्धवाः।
ज्ञातयो वा हरेयुस्तदागतास्तैर्विना नृपः। याज्ञ०स्मृ०, २/२६४ अपिच, ना०स्मृ०, ३/१६-१८ राजा कश्चिच्चेत् सञ्चरन्.. .. धर्मो न हीयते।

२. बृहस्पति, १४/१२ जॉली अनुवाद

३. वही, १४/१४

४. मनु० स्मृ०, ८/२०६

५. कौ०अ०, ३/१४/२४

६. संसिद्धे तूद्धृतपण्ये सन्नस्य तदानीमेव प्रत्यंशं दधुः।
सामान्या हि पथि सिद्धिश्चासिद्धिश्च। कौ०अं०, ३/१४

७. प्रकान्ते तु कर्मणि स्वस्थस्यापक्रामतो द्वादशपणो दण्डः।
न च प्राकाम्यमपक्रमणे।। वही।

८. बृहस्पति, १४/२७ जॉली अनुवाद

था। किसी मंदिर या मकान के निर्माण में अथवा तालाब की खुदाई आदि में कार्य करने वालों के मुखिया को दुगुना भाग प्राप्त होता था। संगीतकारों के लिए भी यही नियम था लेकिन लय मिलाकर बाजा बजानेवालों को आधा भाग मिलता था।[१] नारद ने साझे के नियमों के बाद पुरोहितों के विषय में भी नियम दिये हैं।[२]

इन नियमों का उल्लंघन होने पर होनेवाला विवाद सम्भूयसमुत्थान व्यवहारपद के अन्तर्गत आता था।

वेतनादान या वेतनस्यनपाकर्म–

भृत्यों का वेतन देने तथा न देने से सम्बन्धित विवाद वेतनापाकर्म विवाद कहलाता था।[३] स्वामी के अनुबंध के अनुसार कार्य आरम्भ करने से पूर्व, कार्य के मध्य में, कार्य के सम्पादन के पश्चात् भृत्य को उसके पारिश्रमिक का भुगतान नियमित रूप से करते रहना चाहिए।[४] यदि पहले से पारिश्रमिक निश्चित नहीं किया जाता था तो व्यापारी, कृषक व ग्वाला के प्रतिनिधी या नौकर को, ग्वाले, कृषक एवं व्यापारी को दूध का अन्न का व लाभ का दशांश लाभ के रूप में प्राप्त होता था।[५] उपर्युक्त नियम का विस्तार करते हुए बृहस्पति का कहना है कि यदि कृषक नियोजक द्वारा भृत्य को भोजन व वस्त्र दिये जाते हैं तो उस स्थिति में लाभ अन्न का पाँच प्रतिशत और भोजन वस्त्र न देने की स्थिति में अन्नलाभ का तीसरा भाग देने की व्यवस्था थी।[६] याज्ञवल्क्य के अनुसार जो नौकर अपने स्वामी को देश और समय के ज्ञान से अधिक लाभ कराता है उसे अधिक वेतन देना चाहिए लेकिन इसके विपरीत घाटा कराने पर उसके वेतन की मात्रा स्वामी की इच्छा पर निर्भर

---

१. बृहस्पति १४/२८-३० जॉली अनुवाद

२. ऋत्विनां व्यसनेऽप्येवमन्यस्तत्कर्म निस्तरेत्।
लभेत दक्षिणाभागं स तस्मात् सम्प्रकल्पितम्।। ना०स्मृ०, सम्भूयसमुत्थान/३/८

३. अ) भृत्यानां वेतनस्योक्तो दानादानविधिक्रमः।
वेतनस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्।। ना०स्मृ०, वेतनविधि,-१
ब) राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृतिं स्थानं कर्मानुरूपतः।। मनु० ७/१२५

४. भृत्याय वेतनं दद्यात् कर्मस्वामी यथाक्रमम्।
आदौ मध्येऽवसाने वा कर्मणो यदि निश्चितम्।। ना०स्मृ०। (वेतनविधि)

५. लाभगोबीजशस्यानां, वणिग् गोपकृषीवलाः।
क्रियोपकरणं चैषां क्रियां मत्प्रत्युदाहृतम्। वही, ३
दाप्यस्तु दशमं भागं वाणिज्य पशुसस्यतः।
अनिश्चित्य भृतिं यस्तु कारयेत्स महीक्षिता। याज्ञ०स्मृ० २/१९४

६. भक्ताच्छादभृतः सीराद् भागंगृहणीत पंचम्। जातसस्यात् विभागं प्रगृहणीयाद्वा भृतः। बृहस्पति, उदृधत स्मृ०च० २ पृ०, २.२

करती है।[1] एक दिन, एक पक्ष, एक माह अथवा एक वर्ष जितना भी निश्चित हुआ हो उस समय तक भृत्य को कार्य करना चाहिए और स्वामी को तदनुरूप वेतन देना अनिवार्य था।[2] वेतन लेकर काम न करने वाले भृत्य को वेतन का दुगुना धन दण्ड स्वरूप देना पड़ता था और बिना वेतन लिए काम करना स्वीकार करके न करने पर वेतन के बराबर धन का दण्ड देय था।[3] कार्य करने के यन्त्रों व उपकरणों की सुरक्षा का दायित्व भृत्यों पर ही होता था। ऐसा न करने के कारण खोये हुए उपकरणों का मूल्य, भृत्य के पारिश्रमिक से काटकर क्षतिपूर्ति की जाती थी।[4]

उक्त नियम का समर्थन करते हुए बृहस्पति ने जुर्माने में वृद्धि की है। उनके अनुसार ऐसा कार्य न करनेवाले भृत्य को राजा के प्रति वेतन का दुगुना धन जुर्माना स्वरूप व स्वामी को वेतन के बराबर का धन देना चाहिए।[5] कौटिल्य ने वेतन लेकर काम न करनेवाले भृत्य को बारह पण दण्ड देने को कहा है और यदि बिना कारण ही काम न करे तो कारावास का दण्ड दिया जाना चाहिए।[6] लेकिन भृत्य के बिमार होने पर या संकटग्रस्त होने पर वह अपना प्रतिनिधी भेज सकता था।[7] स्वामी या नियोजक द्वारा वेतन न देने की स्थिति में उस पर छः पण का दण्ड या पारिश्रमिक का दसवां भाग दण्ड स्वरूप लगता था।[8] किसी एक भृत्य से समझौता हो जाने पर निश्चित अवधि के भीतर स्वामी या नियोजक दूसरा नौकर नहीं रख सकता था।[9] तथा नौकर दूसरा स्वामी नहीं रख सकता था।

राजकृत अथवा दैवसंयोग छोड़कर माल ढोनेवाले की असावधानी से सामान दूषित या नष्ट हो जाने की स्थिति में भारवाहक को क्षतिपूर्ति (हर्जाना भरना)

---

१. देशं कालं च योऽतीयाल्लाभं कुर्याच्च योऽन्यथा।
तत्र स्यात्स्वामिनश्छन्दोऽधिकं देयं कृतेऽधिके।।

२. बृहस्पति, १६/९, जॉली अनुवाद

३. गृहीतवेतनः कर्म त्यजन्द्विगुणमावहेत्।
अगृहीते समं दाप्यो भृत्यै रक्ष्य उपस्करः। याज्ञ० २/१९३
भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्।
स दण्डयः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्यवेतनम्।। मनु०स्मृ०, ८/२१५
कर्माकुर्वन प्रतिश्रुत्य कार्यो दत्वा भृतिं वलात्।
भृतिं गृहीत्वाऽकुर्वाणो द्विगुणां भृतिमावहेत्।। ना०स्मृ०, वेतनविधि, ५

४. क्रियोपकरणं चैषां क्रियां मत्प्रत्युदाहतम्।
तत्स्वभावेन कुर्वीत न जिहवेन समाचरेत्। वही, ४

५. बृहस्पति, १६ (१५-१६) जॉली अनुवाद।

६. कौ०अ०, ३, १४, १-२

७. वही, ३-४ (३-१४-३-४)

८. बृहस्पति, १६, १८ (जॉली अनुवाद) कौ०अ० ३/१३/४५

९. कौ०अ०, ३/१४

करनी पड़ती थी।[१] यदि भारवाहक सामान नहीं ले जा पाता था तो उसे भृति (पारिश्रमिक) नहीं मिलती थी और ढोना आरम्भ करके बीच में ही परेशानी उत्पन्न करने पर उसे पारिश्रमिक का दुगुना धन देना पड़ता था।[२] जो कोई विवाह आदि मंगल अवसरों के समय (प्रस्थान के समय) विघ्न उपस्थित करता था उसको भी वेतन का दुगुना धन दण्डस्वरूप देना पड़ता था।[३] इसके अतिरिक्त स्वामी के लिए भी दण्डविधान का निर्देश किया गया है। यदि स्वामी मार्ग में ही भारवाहक को मुक्त करना चाहता था तो उसे पूरा किराया देना पड़ता था। हस्ति, अश्व, बैल, गदहा व ऊँट को किराये पर लेकर काम कराने के पश्चात् वापिस न करने की स्थिति में लौटाने के समय तक का पूरा किराया देना पड़ता था।[४] नियोजक द्वारा ठीक समय पर भृत्य को वेतन न देने पर प्रथम साहस का दण्ड मिलता था। व यदि भृत्य रोगग्रस्त होने पर कार्य छोड़ देता था व पूर्ण स्वस्थ होने पर कार्य करता था तो उसे सम्पूर्ण माह का वेतन दिया जाता था।[५] लेकिन वेतन पानेवाले कर्मचारी के स्वस्थ रहते हुए भी कहे अनुसार काम न करने पर राजा के द्वारा उसे आठ कृष्णल (रत्ती) सुवर्ण आदि का दण्ड देना चाहिए व उनका वेतन न दे।[६]

भृत्यों के वेतन की व्यवस्था उनके कार्यानुसार नियत की गयी थी।[७] यथा गृह को शुद्ध करने वाले तथा पानी लाने वाले को प्रतिदिन एक पण[८] (एक पैसा) एक मास में एक द्रोण अन्न (दो सेर) व छटे मास में एक जोड़ा वस्त्र दिये जाते

---

१. अराजदैविकं नष्टं भाण्डं दाप्यस्तु वाहकः।
प्रस्थानविघ्नकृच्चैव प्रदाप्यो द्विगुणां भृतिम्। याज्ञ० स्मृ०, २/१९७
भाण्डं व्यसनमागच्छेद्यदि वाहकदोषतः।
स दाप्यो यत् प्रणष्टं स्याद्दैवराजकृतादृते। ना०स्मृ०, ४/ वेतनादान प्रकरण, १

२. अनयन्वाहकोऽप्येवं भृतिहानिमवाप्नुयात्।
द्विगुणां तु भृतिं दाप्यः प्रस्थाने विघ्नमाचरन्। वही /८

३. यः पुनर्विवाहाद्यर्थं मङ्गलवति वासरे प्रतिष्ठमानस्य तत्प्रस्थानौपयिकं कर्म प्रागङ्गीकृत्य तदानीं न करिष्यामि इति प्रस्थानविघ्नमाचरति तदासौ द्विगुणां भृतिं दाप्यः। या०स्मृ०, २१/१९७ पर मिताक्षरा

४. कात्यायन, ६६२-६६३। काणे अनुवाद

५. आर्तस्तु कुर्यात्स्वस्थः सन् यथाभाषितमादितः।
स दीर्घस्यापि कालस्य तल्लभेतैव वेतनम्।। मनु०,स्मृ० ४/२१६

६. भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्।
स दण्डयः कृष्णलान्याष्टौ न देयं चास्य वेतनम्। मनु०स्मृ० ४/२१५

७. राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।
प्रत्यहं कल्पयेद्वृत्तिं स्थानं कर्मानुरूपतः। मनु०स्मृ० ९/१२५

८. ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः।
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः। मनु० ८/१३६

थे, उत्तम कार्यकर्ता (दास या दासी) को प्रतिदिन ६ पण, प्रत्येक मास में ६ द्रोण अन्न व छटे माह चार वस्त्र दिये जाते थे। मध्यम दशा के सेवक को प्रतिदिन ३ पण, प्रतिमास ३ द्रोण धान्य व छटे मास तीन वस्त्र दिये जाते थे।[१]

स्वामीपालविवाद

पशुस्वामी व पशुचारक (चरवाह) के मध्य होने वाला विवाद या व्यवधान स्वामिपाल विवाद कहलाता था।[२] स्वामी व सेवक के मध्य होने वाले विवाद को भी इसी परिधि में रखा गया था।[३] पशुओं के स्वामी व उनके सेवकों के मध्य उत्पन्न विवादों का निराकरण इस व्यवहारपद के अन्तर्गत होता था। पशुपालक प्रातःकाल पशुओं को चराकर उन्हें पानी पिलाकर संध्याकाल में पशुस्वामी के यहाँ लौटा देता था।[४] इस प्रकार मनु व याज्ञवल्क्य के अनुसार दिन में पशुओं की सुरक्षा का उत्तरदायित्व पशुपालक पर रहता था तथा रात्रि में पशु के स्वामी पर रहता था। लेकिन पशु के रात्रि में भी पशुपालक के पास रहने पर रात्रि में भी पशुपालक का दायित्व होता था।[५]

पशुओं की सम्पूर्ण सुरक्षा का दायित्व गोपालक का होता था पशुपालक की असावधानी से खोए हुए या मरे हुए पशु का मूल्य पाशुपालक के वेतन से काट लिया जाता था।[६] नारद के अनुसार गोचारण काल के समय पशु के किसी दुर्घटना का शिकार हो जाने पर पशुपालक को यथासम्भव उसकी रक्षा करनी पड़ती थी। रक्षा करने में असमर्थ होने पर तत्काल पशु स्वामी को सूचना देनी चाहिए।[७] लेकिन यदि गोपालक पशु की रक्षा नहीं करता था और न ही रक्षार्थ चिल्लाता था

---

१. पणो देयोऽवकृष्टस्यषडुत्कृष्टस्य वेतनम्।
षाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणस्तु मासिकः। मनु०स्मृ० ७/१२६

२. पशुषु स्वामिनां चैव पालानां च व्यतिक्रमे।
विवादं सम्प्रवक्ष्यामि यथावद्धर्मतत्त्वतः। मनु०स्मृ०, ८/२२९

३. याज्ञ०स्मृ० व्यवहारअध्याय-१०, ना०स्मृ० १/१-१२

४. यथार्पितान्पशून्गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा। याज्ञ०स्मृ०, २/१६४
उपानयेद्गा गोपाय प्रत्यहं रजनीक्षये।
चीर्णाः पीताश्च ता गोपः सायाह्वे प्रत्युपानयेत्। ना०स्मृ०, / वेतनादानविधि, ११

५. दिवा वक्तव्यता पाले रात्रौ स्वामिनि तद्गृहे।
योगक्षेमेऽन्यथा चेत्तु पालो वक्तव्यतामियात्। मनु०स्मृ०, ८/२३०
पालसंयुक्ते तु तस्मिन्। गौ०ध०सूत्र, २/३/१७

६. यथार्पितान्पशून्गोपः सायं प्रत्यर्पयेत्तथा।
प्रमादमृत्तनष्टांश्च प्रदाप्यः कृतवेतनः।। याज्ञ०स्मृ०, २/१६४

७. सा चेद् गोर्व्यसनं गच्छेद्व्यायच्छेत्तत्र शक्तितः।
अशक्तस्तूर्णमागत्य स्वामिने तन्निवेदयेत्। ना०स्मृ०, ४/ वेतनादान, विधि, १२

और स्वामी को भी सूचित नहीं करता था तो उसे पशु का मूल्य उसके स्वामी को व राजा को अर्थ दण्ड देना पड़ता था। पशुपालक की असावधानी से पशु को कृमि आदि के नष्ट कर देने पर श्वान आदि के द्वारा मारे जाने पर अथवा गड्ढे में गिरकर मरने की स्थिति में पशुपालक को उसका पूरा मूल्य चुकाना पड़ता था। बृहस्पति भी इसका समर्थन करते हैं।[१] चोरों द्वारा पशुओं के चुराए जाने पर अथवा भेड़िए आदि द्वारा मार दिए जाने पर मृत पशु के बाल, सींग अस्थिपंजर, कान, पूँछ आदि को पशुस्वामी को दिखाना पड़ता था।[२] लेकिन भेड़िये के हमले से पशु की रक्षा न करने पर पशुपालक को दोषी माना जाता था।[३]

पशुपालक का वेतन प्रायः अनिश्चित होता था। मनु के अनुसार गोपालक प्रत्येक दस गायों में से एक सर्वोत्तम गाय का दूध दुहने का अधिकारी था। जबकि नारद के अनुसार वेतन निश्चित न होने पर पशुपालक को सौ गायों पर प्रतिवर्ष एक बछड़ा तथा दो सौ गायों पर प्रतिवर्ष एक दुधारू गाय बछड़े सहित पाता था। आठवे दिन समस्त गायों का दूध वेतन स्वरूप लेने का अधिकारी था।[४] बृहस्पति का भी ऐसा ही विचार है।[५]

चारागाहकी व्यवस्था–

धर्मशास्त्रों में पशुरक्षा हेतु उत्तम एवं अनुकूल चारागाह सम्बन्धी व्यवस्था का भी अनुमोदन मिलता है (किया गया है)।[६] मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार गाँव के चारों ओर सौ धनु[७] भूमि (स्थान) खर्बट (कस्बे) के चारों ओर दो सौ धनुष और

---

१. मनु०, ८/२३२-२५५
नष्टंविनष्टं कृमिभिः श्वहतं विषमे मृतम्।
हीनं पुरुषकारेण पालएव निपातयेत्।। नारद ४/ वेतनादानविधि /१४
कृमि चोरव्याघ्रभयाद्दरीश्च भ्राच्चपालयेत।
व्यायच्छेच्छक्तित क्रोशेत्स्वामिनेवा निवेदयेत। बृह० १६/२० जॉली अनुवाद

२. मनु० २/२३४-२३६; अनेन सर्वपालानां विवादः समुदाहतः।
मृतेषु च विशुद्धिः स्याद्बालशृङ्गादिदर्शनात्।। ना०स्मृ०, ४/ वेतनादानविधि /१७

३. मनु० ८/२३५-२३६, अजाबिके तथारूद्धे वृकैः पालेत्वनायति।
यां प्रसहय वृको हन्यात् पाले तत् किल्विषं भवेत्।। ना०स्मृ० ४/ वेतनादानविधि /१५

४. गवां शताद्वत्सतरी धेनुः स्याद्द्विशताद् भृतिः।
प्रति सम्वत्सरं गोपे संदोहश्चाष्टमेऽहनि।। ना०स्मृ०, ४/ वेतनादानविधि /१०

५. बृहस्पति १६/१९ जॉली अनुवाद

६ ग्राम्येच्छया गोप्रचारो भूमिराजवशेन वा।
द्विजस्तृणैधःपुष्पाणि सर्वतः सर्वदा हरेत्।। याज्ञ०स्मृ०, २/१६६

७. एक साधारण मनुष्य द्वारा तीन बार फैंकी गई लकड़ी की दूरी के बराबर एक धनु होता है।

नगर के चारों ओर चार सौ धनुष भूमि चारागाह हेतु छोड़ देनी चाहिए।[१] खेती को नष्ट होने से बचाने के लिए ग्रामनगर अथवा मार्ग के समीपस्थ खेतों को इतनी ऊँची खाई या बाड़ों से घेर देने की व्यवस्था थी कि कोई पशु कूदकर अन्दर जाकर खेती नष्ट नहीं करे। बाडे के रहने पर भी यदि वन्य पशुओं द्वारा खेतों की उपज नष्ट की जाती थी तो रक्षक को दण्डित किया जाता था। इसके विपरीत (बाड़े के न रहने पर) खेत सम्बन्धी हानि का दोषी पशुपालक नहीं होता था[२] क्षति का उत्तरदायित्त्व खेत स्वामी पर होता था। मनु व याज्ञवल्क्य ने किन्हीं विशेष परिस्थितियों में पशुओं द्वारा खेत नष्ट करने पर भी उन्हें दण्डित करने का निषेध किया है। साँड, यज्ञविधि से छोड़े गये पशु, दस दिन से कम की ब्याही हुई गाय व अपने गिरोह से भटके हुए पशु खूँटा या रस्सा तुड़ाकर भागनेवाले पशुओं के द्वारा फसल चरने पर उन्हें खेत से निकाल दिया जाता था, उसके स्वामी को दण्डित नहीं किया जाता था।[३] नारद के वृषभों, हस्तियों व अश्वों को भी छूट दी है।[४]

अभ्यूपेत्याशुश्रूषा

उपर्युक्त विवादपद की परिभाषा करते हुए नारद कहते हैं कि सेवाकार्य करने का वचन देकर जब सेवक कार्य का सम्पादन नहीं करता था अथवा सेवाकार्य के लिए उपस्थित नहीं होता था तब सेवक का व्यवहार "अभ्युपेत्याशुश्रूषा" नामक विवाद का विषय होता था।[५] सर्वप्रथम शुश्रूषकों के पाँच प्रकारों का उल्लेख किया गया है।[६] शिष्य, अन्तेवासी, भृतक, अधिकर्मकृत एवं दास। इनमें से प्रथम चार

---

१. धनुःशतं परीणाहो ग्रामे क्षेत्रान्तरं भवेत्।
द्वेशते खर्वटस्य स्यान्नगरस्य चतुःशतम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/१६७

२. ना० ११/४० जॉली अनुवाद० गौ०ध०सू०, २/३/१८
तत्रापरिवृत्तं धान्यं विहिंस्युः पशवो यदि।
न तत्र प्रणयेद्दण्डं नृपतिः पशुरक्षिणाम्। मनु० ८/२३८

३. अनिर्दशाहां गां सूतो वृषान्देवपशून्स्तथा।
सपालान्वा विपालान्वा न दण्डयान्मनुरब्रवीत्। मनु० ८/२४२
महोक्षोत्सृष्टपशवः सूतिकागन्तुकादयः।
पालो येषां न ते मोच्या दैवराजपरिप्लुताः। याज्ञ०स्मृ०, २/१६३

४. गौः प्रसूता दशाहं च महोक्षो वाजिकुञ्जरौ।
निवार्याः स्युः प्रयत्नेन तेषां स्वामी न दण्डभाग्।। ना०स्मृ०, ४/११/३

५. अभ्युपेत्य च शूश्रूषां यस्तां न प्रतिपद्यते।
अशुश्रूषाभ्युपेत्यैतद्विवादपदमुच्यते।। ना०स्मृ०, अभ्युपेत्याशुश्रूषा ५/१

६. शुश्रूषकः पञ्चविधः शास्त्रे द्रष्टो मनीषिभिः।।
चतुर्विधः कर्मकरस्तेषां दासास्त्रिपञ्चकाः।। वही, २

कर्मकर (जो शुभकर्म करनेवाले हैं) एवं पाँचवे दास हैं जो गृह में ही उत्पन्न होते हैं व सेवाकार्य करते हैं।[१] दासों के पन्द्रह प्रकार बताये गये हैं। ये दास गृहद्वार बुहारना, गन्दे स्थलों की सफाई करना, स्वामी की मालिश करना व गुप्त अँगों की सफाई करना, मलमूत्र फेंकना आदि अशुभ कर्मों को करते हैं। दासों की स्थिति स्वतन्त्र न होकर परतन्त्र होती थी। उनका स्थान व भृत्ति उनकी जाति व कार्य के अनुरूप होती थी।

वेदविद्या के अर्थी को शिष्य, शिल्प का शिक्षार्थी अन्तेवासी, मूल्य से काम करने वाले भृतक होते हैं

नारद ने शुभ व अशुभ कर्मों का भी विभाजन कर दिया है।[२]

शुभ कार्यो में शिष्य को अपनी विद्या एवं शिल्पज्ञान के पूरे होने पर्यन्त गुरु, पत्नी व गुरुपुत्र की सेवा करनी पड़ती थी।[३] गुरु की आज्ञा का पालन करना, निश्चित समय पर अध्ययन करना आदि कर्त्तव्यों का पालन न करने पर वह गुरु के द्वारा दण्ड का भागी बनता था।[४] लेकिन गुरु को शिष्य के कोमल अंगों पर प्रहार नहीं करना चाहिए इसके अतिरिक्त ताड़ना से राजा गुरु को दण्डित कर सकता था।[५] शिक्षा के पूर्ण होने पर शिक्षार्थी गुरुदक्षिणा देता था।[६]

शिष्यों से भिन्न अन्तेवासी वो थे जो किसी विशेष शिल्प की शिक्षा पाने के लिए उस शिल्प के ज्ञाता के घर में निश्चित समय तक निवास करते थे। उसके भोजनादि का भार शिक्षक के ऊपर रहता था व शिक्षक उससे काम नहीं ले सकता था। शिक्षक को उसके साथ पुत्रवत् व्यवहार करना पड़ता था।[७] जबकि बृहस्पति ने अन्तेवासी के द्वारा शिक्षक के गृह में रहते हुए काम करने का निर्देश किया है।[८] शिल्पविद्या का ज्ञान प्राप्त करके आचार्य की प्रदक्षिणा करके अन्तेवासी घर लौट सकता था।[९]

---

१. शिष्यान्तेवासिभृतकाश्चतुर्थस्त्वधिकर्मकृत।
एते कर्मकरा ज्ञेया दासास्तु गृहजादयः।। ना० स्मृ०, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, ३

२. वही, ३-७

३. आविद्याग्रहणाच्छिस्यः शुश्रूषेत प्रयतो गुरुम्।
तत्वृत्तिर्गुरुदारेषु गुरुपुत्रे तथैव च।। वही, ८

४. अनुशास्यश्च गुरुणा न चेदनुविधीयते।
अविधिनाथवा बद्ध्वा रज्जवा वेणुदलेन वा। वही, १३

५. वही, १४

६. समावृत्तश्च गुरवे प्रदाय गुरुदक्षिणाम्। वही, १५

७. आचार्यः शिक्षयेदेनं स्वगृहे दत्तभोजनम्।
न चान्यत् कारयेत् कर्म पुत्रवच्चैनमाचरेत्।। वही, १७

८. बृहस्पति १६, ६ , जॉली अनुवाद

९. वही, ५/२०

सेवा करने वालों की पाँच श्रेणियों में से तीसरी श्रेणी भृत्यों की है। सेवक या भृत्य भी तीन प्रकार के थे। वेतन एवं योग्यता के अनुसार उनका विभाजन निम्न प्रकार से है।[१] १. उत्तम, २. मध्यम व ३. हीन अथवा अधम। सैनिक कृत्य करने वाले उत्तम, खेती में संलग्न भृत्य मध्यम व द्वारपाल आदि या भार ढोनेवाले कुली आदि हीन श्रेणी में रखे गये हैं।

पूर्वनिश्चित वेतन के अनुरुप एक दिन, एक पक्ष, एक मास या अधिक समय तक के लिए भृत्यों की नियुक्तियाँ की जाती थीं।[२] पूर्वनिश्चित वेतन इन्हें कार्यानुसार धन, अन्न या दुग्ध के रूप में दिया जाता था। भृतकों के अधीक्षक अथवा घर के आय-व्यय के निरीक्षण के लिए नियुक्त व्यक्ति को "अधिकर्मकृत" कहा जाता था।[४]

सेवा करने वालों का पाँचवा प्रकार "दासों" का है। नारद ने दासों के कार्यों व तत्संबन्धी नियमों का विस्तृत निर्देश दिया है।[५] पन्द्रह प्रकार के दासों में से प्रथम चार (स्वामी के गृह में जन्म लेनेवाला, खरीदा हुआ, दान में मिला हुआ व पैतृक रूप से प्राप्त) बिना स्वामी की कृपा के दासता से मुक्त नहीं हो सकते थे। याज्ञवल्क्य के अनुसार जिन व्यक्तियों को बलपूर्वक या चुराकर बेचने के कारण दास बनाया जाता था वे स्वामी की रक्षा करने पर, स्वामी के खोये हुए धन प्राप्त कराने पर अथवा निष्क्रय का मूल्य चुका देने पर दासता से मुक्त हो जाता था।[६] नारद के अनुसार इस प्रकार के दासों को यदि स्वामी मुक्त नहीं करता है तो राजा को मुक्त करवाना चाहिए।[७] नारद ने मुक्त हुए दास को स्वामी की सम्पत्ति में से पुत्रतुल्य भाग प्राप्त होने का विधान भी दिया है।[८] मिताक्षराकार के अनुसार यह

---

१. भृतकस्त्रिविधो ज्ञेय उत्तमो मध्यमोऽधमः।
शक्तिभक्त्यानुरुपा स्यादेषां कर्माश्रया भृतिः। ना०स्मृ० अभ्युपेत्याशुश्रषा, २२

२. उत्तमस्त्वायुधीयोऽत्र मध्यमस्तु कृषीवलः।
अधमो भारवाहः स्यादित्येष त्रिविधो स्मृतः। वही, २३

३. बृहस्पति, १६/९ जॉली अनुवाद, उद्०स्मृतिचन्द्रिका पृ० १९६

४. अर्थेस्वधिकृतो यः स्यात् कुटुम्बस्य तथोपरि।
सोऽपि कर्मकरो श्रेयः स च कौटुम्बिकः स्मृतः। ना०स्मृ०, अभ्युपेत्याशुश्रषा /२४

५. वही, ५-२७

६. बलाद्दासी कृतश्चौरैर्विक्रीतश्चापि मुच्यते।
स्वामीप्राणप्रदो भक्तयागातन्निष्क्रयादपि।। या०स्मृ० २/१८२

७. चौरापहृतविक्रीता ये य दासीकृता बलात्।
राज्ञा मोक्षयितव्यास्ते दासत्वं तेषु नेष्यते। ना०स्मृ०, अभ्युपेत्याशुश्रषा /३८

८. यश्चैषां स्वामिनं कश्चिन्मोक्षयेत् प्राणसंशयात्।
दासत्वात् स विमुच्येत पुत्रभागे लभेत च।। वही, /३०

नियम सब दासों के लिए समान रूप से लागू होता था। दासों का वर्णन नारदस्मृति में विस्तार से किया गया है।[१]

दण्डव्यवस्था– दासत्व सम्बन्धी नियमों को स्वीकार कर उनका पालन न करनेवाला दास दण्ड का भागी होता था। यथा कार्य प्रारम्भ करके प्रतिज्ञा कर के भी कार्य को मध्य में ही छोड़नेवाले को परिश्रम फल से वंचित कर देने का दण्ड दिया जाता था।[२]

वेतन पानेवाला कर्मचारी स्वस्थ रहता हुआ भी यदि कहने के अनुसार काम नहीं करता था तो उसे वेतन से वंचित कर प्रतिदिवस आठ रत्ती स्वर्ण से दण्डित करने की परम्परा थी।[३] इसी प्रकार किसी काम को करने का परामर्श कर फिर लोभ आदि के कारण कार्य न करने पर उसे राज्य से निष्काषित करने का दण्ड या चार सौ पण का निष्क्रय दण्ड दिया जाता था।[४]

कौटिल्य ने कार्य करने के विषय में मालिक व सेवक में आपसी समझौता हो जाने पर यदि मालिक नौकर से काम न करवाये अथवा सेवक समझौते को भङ्ग करे, दोनों ही स्थितियों में मालिक व नौकर पर १२-१२ पण का दण्ड देने का विधान किया है।[५] नियोक्ता द्वारा समय पर वेतन न देने पर छः पण दण्ड व वेतन को पहले ही प्राप्त करके कार्य न करने वाले सेवक पर बारह पण का दण्ड प्रतिदिन देने की व्यवस्था थी।[६]

अल्पव्यस्क शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण को स्वजनद्वारा बेचने पर क्रमशः १२ पण, २४ पण, ३६ पण ४८ पण का आर्थिक दण्ड दिया जाय व विक्रेता के दूसरे वर्ण का होने पर क्रमशः प्रथम साहस, मध्यम साहस, उत्तम साहस एवं वध दण्ड दिये जाते थे।[७] दास से मृतक का शव, मलमूत्र तथा जूठन उठवाने वाले, दासी द्वारा नंगे पुरुषों को स्नान कराने पर स्थिति व अपराधानुसार धनिक दण्डित होता

---

१. ना०स्मृ० अभ्युपेत्याशुश्रषा /३१-४३

२. चक्रवृद्धिं समारूढो देशकालव्यवस्थितः।
अतिक्रामन्देशकालौ न तत्फलमवाप्नुयात्।। याज्ञ०स्मृ०, २/१५६

३. भृतो नार्तो न कुर्याद्यो दर्पात्कर्म यथोदितम्
स दण्डयः कृष्णलान्यष्टौ न देयं चास्य वेतनम्। मनु०स्मृ०, ८/२१५

४. मनु०स्मृ०, ८/२१९-२२०

५. नान्यस्त्वया कारयितव्यो मया वा नान्यस्य कर्तव्यमित्यवरोधेभर्तुरकारयतो भृतकस्याकुर्वतो वा द्वादशपणोदण्डः। कौ०अ०, ३/१४/३

६. वेतनादाने दशबन्धो दण्डः षट्पणो वा। अपव्ययमाने द्वादशपणो दण्डः, पंचबन्धो वा। वही, ३/१३

७. शूद्रं विक्रयाधानं नयतः स्वजनस्य द्वादशपणेदण्डः।
वैश्यं द्विगुणः। क्षत्रियं त्रिगुणः। ब्राह्मणं चतुर्गुणः।
परजनस्य पूर्वमध्यमोत्तमवधा दण्डाः केतृश्रोतृणां च। को०अ०, ३/१३

था। दासियों के साथ व्यभिचार करने पर २५० पण दण्ड, बंधक रखी कन्या से व्यभिचार करने पर बंधक धन से वंचित कन्या को शुल्क देने तथा शुल्क का दुगुना अर्थदण्ड लगता था। गर्भवती दासी को बेचने या बन्धक रखने वाले पर २५० पण दण्ड प्रतिदिन, बिके हुए दास व दासी को पुनः बेचने पर १२ पण का दण्ड दिया जाता था।[१]

संविद्व्यतिक्रम

संविद्व्यतिक्रम के लिए नारद व कौटिल्य ने "समयस्यानपाकर्म" शब्द का प्रयोग किया है।[२] बृहस्पति ने इसे "समयातिक्रम" व "संविद्व्यतिक्रम" कहा है। "संविद्" शब्द का अर्थ है "नियत की हुई व्यवस्था। उस व्यवस्था या संविद् का व्यतिक्रम "संविद्व्यतिक्रम" कहलाता है।[३] मनु के अनुसार "जो मनुष्य किसी ग्राम, देश, संघ (व्यापारियों का दल) या किसी अन्य प्रकार के लोगों के साथ शपथपूर्वक संविदा (करार) करता है व बाद में लोभवश उसका अतिक्रमण करता है, वह मनुष्य राजा द्वारा देश निष्कासन का दण्ड पाता है।[४] आपस्तम्बधर्मसूत्र में "समय" शब्द का प्रयोग रुढि या अंगीकृत सिद्धान्त के अर्थ में किया गया है।[५] याज्ञवल्क्य स्मृति में इस शब्द का प्रयोग समझौते के अर्थ में भी किया गया है। (गान्धर्वः समयान्मिथः) याज्ञ०स्मृ०, १/६१

इस (संघों के कार्य) कार्य के लिए २, ३ अथवा ५ व्यक्तियों की एक सभा होती थी जो परम्पराओं के प्रचलन की व्यवस्था करती थी। सभा के सदस्य धार्मिक, लोभरहित एवं चरित्रवान होते थे। क्रान्ति अतिक्रमण एवं अनैतिकता को रोकना सभा का कार्य था।[६] मेघातिथि के अनुसार "बहुत से लोगों द्वारा किसी विशिष्टनियम

---

१. वही०

२. पाषण्डिनैगमादीनां स्थितिः समय उच्चते।
समयस्यानपाकर्म तद्विवादपदं स्मृतम्।। ना०स्मृ०, समयस्यानपाकर्म /१ कौअ०, ३/१०/६०

३. अग्निपुराण अ० २५७, मनु० ८.५, २१८, २१९
याज्ञ०स्मृ०, १.६१ ना०सू०, १.१.१. २० ऋक्, १.३३.५

४. यो ग्रामदेशसङ्घगानां कृत्वा सत्येन सम्विद्म्।
विसम्वदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्।। मनु० स्मृ० ८/२१९

५. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च। आ०ध०सू०, १/१/१-२
अङ्गानां तु प्रधानैर्व्यपदेश इति न्यायवित्समयः। वही, २/४/८/१३

६. नारद स्मृ०, १३/४-५
निगृहय दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान्षनिष्कांश्छतमानं च राजतम्। मनु० स्मृ०, ८/२२०

या रूढ़ि अथवा परम्परा को अंगीकार करना" ही समय अथवा संविद् का अर्थ है।[१] नारद के मत में नास्तिकों, नैगमों आदि द्वारा निश्चित नियम (परम्पराएँ) समय के उदाहरण है। व्यवहार प्रकाश में कहा गया है कि नास्तिक लोग भी अपने मठों के लिए नियम बनाते हैं। इन्हीं नियमों पर परम्पराओं के व्यतिक्रम को विवाद का विषय माना गया है जिनका अतिक्रमण दण्डणीय था। अतः राजा का कर्त्तव्य था कि वह संघों निगमों, नास्तिकों, श्रेणियों, पूगो आदि के नियमों या परम्पराओं की रक्षा करे।[२]

धर्मशास्त्रों में समय भङ्ग करने वालों के दण्ड व्यवस्था की गयी है जो निम्न प्रकार से है–

ग्रामवासी, देशवासी का व्यापारी आदि के समुदाय का जो व्यक्ति सत्यादि शपथपूर्वक किये गये समय (शर्त) को लोभ आदि के कारण भङ्ग करता था, उसे देशनिष्कासन का दण्ड देना चाहिए (दिया जाता था।)[३] अथवा समय का भङ्ग करनेवाले को राजा निग्रहित कर दण्डित कर उसे चार "स्वर्ण" (८/१३४) छः "निष्क" (८/१३७ या शतयान ८/११६) अर्थात् ३२० रत्ती चाँदी का दण्ड दिलाये।[४] सामूहिक हित के विपरीत बोलने वाले को प्रथम साहस का दण्ड देने की बात याज्ञवल्क्य करते है।[५] समूह के कार्य के लिए आये हुए व्यक्तियों का कार्य करके राजा उन्हें दान, मान और सत्कार द्वारा संतुष्ट करके विदा करता था। समूह निमित्त प्राप्त धन को समूह में विभाजित न करने पर धन का ग्यारह गुणा अर्थदण्ड देना पड़ता था।[६] बृहस्पति के अनुसार ग्रामवासियों, संघों आदि के बीच हुए समझौतों को अच्छे व बुरे दोनों ही समयों में स्वीकार किया जाना चाहिए। (A compact formed among villagers, companies and associations is an agreement, such agreement must be observed both in time of distress and for act of piety).

---

१. मनु०स्मृ०, ८/२१९-२२० पर मेधातिथि।

२. पाषण्डिनैगमश्रेणिपूगव्रात गणादिषु।
संरक्षेत् समयं राजा दुर्गे जनपदे तथा।। ना०स्मृ०, अभ्युपेत्याशुश्रषा /२

३. यो ग्रामदेशसङ्घानां कृत्वा सत्येन सम्विदम्।
विसम्वदेन्नरो लोभात्तं राष्ट्राद्विप्रवासयेत्।। मनु०, स्मृ०, ८/२१९ या०स्मृ०, २/१८७

४. निगृहय दापयेच्चैनं समयव्यभिचारिणम्।
चतुःसुवर्णान्षण्निष्कांश्छतमानं च राजतम्।। वही, ८/२२०

५. यस्तत्र विपरीतः स्यात्स दाप्यः प्रथमं दमम्। याज्ञ०स्मृ, २/१८८

६. समूहकार्यप्रहितो यल्लभेत तदर्पयेत्।
एकादशगुणं दाप्यो यद्यसौ नार्पयेत्स्वयम्।। या०स्मृ० २/१९० बृहस्पति स्मृति, १७/२२ जॉली अनुवाद

क्रयविक्रयानुशय

क्रय-विक्रय सम्बन्धी विवादों को स्मृतिकारों ने "क्रयविक्रयानुशय" व्यवहारपद के अन्तर्गत निर्देशित किया है। किसी वस्तु को दाम देकर खरीदना क्रय व मूल्य के बदले बेचना विक्रय कहलाता है। नारद ने सम्पत्ति के दो प्रकार माने हैं– चल सम्पत्ति व अचल सम्पत्ति। ये दोनों ही प्रकार की सम्पत्तियाँ बिक्रीयोग्य कही गयी हैं।[१] प्रत्येक प्रकार की चल व अचल सम्पत्तियों को छः भागों में विभाजित किया गया था।[२]

१. गिनकर बेची जाने वाली वस्तु तथा- सुपारी आदि।
२. तोलकर बेची जाने वाली-सोना कस्तूरी।
३. मापकर बेची जाने वाली कपड़ा आदि।
४. कार्य को देखकर बेची जाने वाली यथा गाय, भैंस अश्वादि (दुधारू पशु या भार ढोने वाले पशु)
५. सौंदर्य देखकर बेची जाने वाली जैसे वेश्या आदि।
६. दीप्ति देखकर बेची जाने वाली वस्तुएँ जैसे-हीरा, मोती आदि।

मनु के अनुसार किसी वस्तु को खरीदकर या बेचकर पश्चाताप होने पर दस दिन के भीतर वस्तु वापिस दी या ली जा सकती है।[३]

याज्ञवल्क्य के मतानुसार ब्रीहि आदि के बीज की दस दिन, लोहा एक दिन, भार ढ़ोने वाले बैल आदि पशु पाँच दिन रत्न सात दिन, स्त्री (दासी) एक मास, दूध देनेवाले पशु तीन दिन, दास की परीक्षा पन्द्रह दिन में हुआ करती थी।[४] निर्दिष्ट समय के भीतर ही उपर्युक्त वस्तुओं को क्रय के उपरान्त वापिस लौटाया जा सकता था। लेकिन निर्धारित अवधि के समाप्त हो जाने पर हानि को देखकर कम मूल्य लेकर वस्तु वापिस लौटायी जा सकती थी।[५] इस विषय (वस्तु परीक्षण) में नारद, बृहस्पति व कात्यायन भी याज्ञवल्क्य द्वारा स्वीकृत कालक्रम को स्वीकार करते हैं।[६]

---

१. लोकेऽस्मिन् द्विविधं द्रव्यं जङ्गमं स्थावरं तथा।
क्रयविक्रयधर्मेषु सर्वं तत् पण्यमुच्चते। नारदस्मृति विक्रीयासंप्रदान , ८/२१

२. षड्विधस्तस्य तु बुधैर्दानादानविधिः स्मृतः।
गणिमं तुलिमं मेयं क्रियया रूपतः श्रिया।। वही, ३

३. क्रीत्वा विक्रीय वा किञ्चिद्यस्येहानुशयो भवेत्।
सोऽन्तर्दशाहात्तद् द्रव्यं दद्याच्चैवाददीत वा। मनु० ८/२२२

४. दशैकपञ्चसप्ताहमासत्र्यहार्धमासिकम्।
बीजायोवाहयरत्नस्त्रीदोहयपुंसां परीक्षणम्। याज्ञ०स्मृ०, २/१७७

५. नारद स्मृति, ११/४-५, मनु, ८/२२

६. नारद, ९/५-६ बृहस्पति १८/६ आयंगर काव्या० ६९८-६९९ काणे अनुवाद।

नारद के अनुसार समय निर्धारित न होने पर क्रय की गई वस्तु उसी दिन लौटायी जा सकती है। लेकिन दूसरे दिन लौटाने पर क्रेता को मूल्य का १/३० भाग व तीसरे दिन लौटाने पर वस्तु मूल्य का १/१५ भाग कट जाता था व तीन दिन के पश्चात् वस्तु को लौटाया नहीं जा सकता था।[१] क्योंकि वस्तु को खरीदने से पूर्व उसका भली प्रकार परीक्षण कर लिया जाता है अतः भली प्रकार परीक्षण की गयी वस्तु लौटायी नहीं जा सकती है।[२]

कौटिल्य के अनुसार, व्यापारियों, कृषकों, चरवाहों, वर्णसंकरों एवं उच्चवर्णों को वस्तु लौटाने के लिए एक रात्रि से सात रात्रियों तक की छूट प्राप्त थी।[३] वस्तु खरीद कर फिर न लेनेवाले को कौटिल्य १२ पण देने का निर्देश करते हैं। लेकिन दोष, उपनिपात (राजा, चोर, अग्नि या जल द्वारा बाधा पहुँचाना) एवं अविषह्य होने (वस्तु का गुणहीन या दुःखदायी होना) के कारण वस्तु को न लेने में कोई हानि नहीं होती थी।[४] याज्ञवल्क्य के अनुसार जो विक्रेता दोषपूर्ण वस्तु को निर्दोष बनाकर बेचता था उसे राजा को वस्तु के मूल्य का दुगुना धन देना पड़ता था।[५] खरीदी हुई वस्तु क्रयकर्ता के पास पहुँचने से पूर्व ही यदि जल जाती थी अथवा चुरा ली जाती थी तो उसकी हानि विक्रेता की होती थी।[६] लेकिन क्रयकर्ता वस्तु को खरीदकर यदि स्वीकार नहीं करता था तो विक्रेता को वस्तु को किसी दूसरे को बेचने का अधिकार होता था।[७]

मत्त, उन्मत्त, अस्वतन्त्र मुग्ध जनों से क्रय की गई सम्पत्ति को वापिस करना पड़ता था।[८] पहना हुआ, चिथडे की हालत में, व धूल से खराब हुआ वस्त्र यदि

---

१. द्वितीयेऽह्नि ददत् क्रेता मूल्यात्रिशांशमाहरेत्।
द्विगुणं तु तृतीयेऽह्नि परतः क्रेतुरेव तत्। कात्या०, ६९८-६९९ (काणे) ना०स्मृ०, क्रीत्वानुशयः/३

२. क्रेता पण्यं परीक्षेत् प्राक् स्वयं गुणदोषतः।
परीक्ष्याभिमतं क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत्पुनः। ना०स्मृ० ९/४

३. कौ०अ०, ३/१५/७-९

४. कौ०अ०, ३/१५/१२-१३

५. अन्यहस्ते च विक्रीय दुष्टं वाऽदुष्टवद्यदि।
विक्रीणीते दमस्तत्र मूल्यात्तु द्विगुणो भवेत्।। याज्ञ०स्मृ० २/२५७
निर्दोषं दर्शयित्वा तु सदोषं यः प्रयच्छति।
मूल्यं तु द्विगुणं दाप्यो विनयं तावदेव च। ना०स्मृ०, विक्रीपासंप्रदान, ७

६. उपहन्येत् वा द्रव्यं दह्येतापह्रियते वा।
विक्रेतुरेव सोऽनर्थो विक्रीयासम्प्रयच्छतः।। याज्ञ०स्मृ०, २/२५६

७. दीयमानं न गृहणाति क्रीतं पण्यं च यः क्रयी।
विक्रीणानस्तदन्यत्र विक्रेता नापराध्नुयात्।।

८. कात्यायन ६९२ (काणे अनुवाद)

खरीदते समय इसी हालत में होता था तो दोषयुक्त होता हुआ भी क्रेता का ही होता था उसे वापिस नहीं लौटाया जा सकता था।[१]

धातु की वस्तुओं में मिलावट की जाँच आग पर तपाकर की जाती थी। यांज्ञवल्क्य के अनुसार आग पर तपाने से सोना कम नहीं होता है, चाँदी सौ में से दो पल कम हो जाती है, पीतल और शीशा सौ में आठ पल, ताँबा पाँच पल और लोहा दस पल घट जाता है।[२] नारद का लोहे के विषय में भिन्न मत है।[३] कहने (उपर्युक्त मत) का तात्पर्य यह है कि इन विभिन्न वस्तुओं को बनाते समय यदि बनाने वाला उपर्युक्त नियम का पालन नहीं करता था तो वह दण्ड का भागी बनता था। इसी प्रकार अन्य वस्तुओं के क्षय के विषय में भी विस्तार से नियम बनाये गये हैं।[४]

एक ही स्थान पर रहनेवाले व्यक्तियों के लिए नियम था कि यदि किसी वस्तु के मूल्य में गिरावट आ जाती थी तो उसके क्रेता को वह वस्तु व मूल्य का अन्तर दोनों मिल जाते थे। जो दूसरे देश में यात्रा कर व्यापार करने का आदी होता था, वह यात्रा में अन्य स्थान पर मिलने वाला लाभ भी प्राप्त करने का अधिकारी था।[५]

उपर्युक्त नियमों का उल्लंघन होने पर इन विषयों को क्रयविक्रयसम्बन्धी व्यवहार पद के अन्तर्गत रखा जाता था।

अस्वामिविक्रय

"अस्वामिविक्रय" का अर्थ है बिना स्वामित्व के किसी वस्तु का विक्रय करना। नारद एवं बृहस्पति ने इसकी बहुत स्पष्ट परिभाषा की है– खुली धरोहर, मुहरबंद धरोहर, चोरी की सम्पत्ति, गिरवी रखी हुई वस्तु, किसी की छूटी हुई वस्तु, आदि को जब परोक्ष रूप से (गुप्त रूप से) बेची जाती है तो वह अस्वामिविक्रय विवाद का कारण है।[६] दूसरे के धन को गुप्त रूप में दान देना भी इसी प्रकार का

---

१. परिभुक्तं च यद्वासः क्लिष्टरूपं मलीमसम्।
सदोषमपि तत्क्रीतं विक्रेतुर्न भवेत् पुनः। ना०स्मृ०, क्रीत्वानुशय ६ अस्वामिविक्रयः

२. अग्नौ सुवर्णमक्षीणं रजते द्विपलं शते।
अष्टौ त्रपुणि सीसे च ताम्रे पञ्च दशायसि। याज्ञ०स्मृ०, २/१७८

३. ना०स्मृ०, ९/१२, जॉली अनुवाद

४. याज्ञ०स्मृ०, २/१७९ - १८०

५. गृहीतमूल्यं यः पण्यं क्रेतुर्नैव प्रयच्छति।
सोदयं तस्य दाप्योऽसौ दिग्लाभं वा दिगागते।।
याज्ञ०स्मृ० २/२५४, ना०स्मृ०, क्रीत्वानुशयः /८ जॉली अनुवाद

६. निक्षिप्तं वा परद्रव्यं नष्टं लब्ध्वापहृत्य वा।
विक्रीयतेऽसमक्षं यद् विज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः।। ना०स्मृ०, अस्वामिविक्रयः/१
याचितान्वाहिन्यासं हृत्वाचान्यस्ययद्धनम्।
विक्रीयतेस्वाम्यभावे स ज्ञेयोऽस्वामिविक्रयः।। व्यास, उद्धृत व्य०प्र०, पृ० २९०, बृहस्पति १२/२ (आयंगर द्वारा सम्पादित)

अपराध माना जाता था।[१] बृहस्पति का कहना है कि यदि वस्तु बेचनेवाला उपस्थित कर दिया जाय तो न्यायाधीश को चाहिए कि वह उससे वस्तु का मूल्य तथा क्रेता व राजा के लिए दण्ड स्वरूप धन दिलवाए। साथ ही उक्त वस्तु को उसके वास्तविक स्वामि को वापिस दिलवाये।[२]

याज्ञवल्क्य के अनुसार चोरी छिपे, कम मूल्य के लालच में-एकान्त में व अयुक्त समय (रात्रि में) पर यदि कोई व्यक्ति अस्वामि से वस्तु खरीदता है तो वह क्रेता भी चोर सदृश होता है। नारद उक्त बातों के अतिरिक्त दास से व दुश्चरित्र व्यक्तियों से क्रय करने पर भी क्रेता को दोषी मानते हैं।[३] नारद के अनुसार क्रेता को क्रय करने की प्रक्रिया को गुप्त नहीं रखना चाहिए। यदि क्रेता वस्तु को खरीदने की सम्पूर्ण स्थिति को सत्य बयान कर देता है तो वह दण्ड का भागी नहीं होता है अन्यथा वह भी विक्रेता सदृश दोषका भागी होकर चोर सदृश दण्ड का भागी होता है।[४] मनु के अनुसार वस्तु को उपरोक्त प्रकार से बेचने वाला यदि वस्तुस्वामी का वंशज हो तो उसे ६०० पण का अर्थदण्ड देना चाहिए, किन्तु वंशज से भिन्न व्यक्ति होने पर चोर के समान दण्डित किया जाना चाहिए।[५] याज्ञवल्क्य के अनुसार

---

१. अस्वामिना कृतो यस्तु दायो विक्रय एव वा।
अकृतः स तु विज्ञेयो व्यवहारे यथा स्थितिः।। मनु० ८/१९९
द्रव्यमस्वामिविक्रीतं प्राप्यस्वामी समाप्नुयात्।
प्रकाशविक्रये शुद्धिः क्रेतुः स्तेयं रहः क्रयात्।। ना०स्मृ०, अस्वामिविक्रयः /२ अपिच, याज्ञ०स्मृ०, २/१६८

२. विक्रेता स्वामिनेऽर्थे स्वं क्रेत्रे मूल्यं च तत्समम्।
दद्याद्दण्डं तथा राज्ञे विधिरस्वामिविक्रये।। ना०स्मृ०, अस्वामिविक्रयः /५
बृहस्पति, १३/३, (जॉली अनुवाद)

३. स्वं लभेतान्यविक्रीतं क्रेतुर्दोषोऽप्रकाशिते।
हीनाद्रहो हीनमूल्ये वेलाहीने च तस्करः। याज्ञः, २/१६८
अस्वाम्यनुमताद्दासादसतश्च जनाद्रहः।
हीनमूल्यमवेलायां क्रीणंस्तद्दोषभाग भवेत्।। ना०स्मृ०, अस्वामिविक्रयः/३, मनु०स्मृ०, ८/२०२

४. न गृहीतागमं क्रेता शुद्धिस्तस्य तदागमात्।
विपर्यये तुल्यदोषः स्तेयदण्डं च सोऽर्हति।। वही /४
अथ मूलमनाहार्यं प्रकाशक्रयशोधितः।
अदण्डयो मुच्यते राज्ञा नाष्टिको लभते धनम्।। मनु०स्मृ० ८/२०२

५. अवहार्यो भवेच्चैव सान्वयः षट्शतं दमम्।
निरन्वयोऽनपसरः प्राप्तः स्याच्चौरकिल्विषम्।। मनु० ८/१९८

वस्तु का स्वामी किसी के पास अपनी वस्तु देखे तो उसे राजकर्मचारियों के पास ले जाये।[1] लेकिन वस्तु के वास्तविक स्वामी को अपना स्वत्व प्रमाणित करने के लिए लेख व उपभोग आदि प्रमाणों को प्रस्तुत करना पड़ता था।[2] कात्यायन के अनुसार वस्तु पर अपना स्वामित्व सिद्ध न करने वाले व्यक्ति को चोर के समान कहा जाता था।[3]

चोरी की गयी वस्तु को उसका वास्तविक स्वामी राजा या न्यायाधिकरण की अनुमति से ही अस्वामि से प्राप्त कर सकता था। राजा की अनुमति के बिना वस्तु को प्राप्त करने पर वस्तु स्वामी ९६ पणों के दण्ड का भागी होता था।[4]

दत्तानपाकर्म या दत्तस्यानपाकर्म

मनुष्य जब किसी द्रव्य या किसी वस्तु को विधिपूर्वक देकर उसे पुनः वापिस लेना चाहता था अथवा उसे लेने की इच्छा करता था तो इस प्रकार के विवाद को "दत्ताप्रदानिक" (दत्तस्यानपाकर्म) नामक विवादपद के अन्तर्गत रखा जाता था[5] क्योंकि किसी वस्तु को देकर न देना, नियम का अतिक्रमण होने के कारण अनुचित था। नारद ने दान की स्थिति को चार प्रकार का बताया है १. क्या नहीं देना चाहिए, २. क्या देना चाहिए, ३. जिसे देना न्यायानुकूल हो व ४. जिसे देना न्यायानुकूल न हो। नारद ने न देने योग्य वस्तुओं के आठ प्रकार, देने योग्य वस्तु के एक प्रकार, वैधदान के सात प्रकार व अवैधदान के १६ प्रकारों का भी उल्लेख किया है।[6] याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यक्ति को दान उतना ही देना चाहिए जिससे स्वकुटुम्ब के भरण पोषण में कोई कठिनाई न हो। उन्होंने पुत्र-पौत्रों से

---

१. नष्टापहृतमासाद्य हर्तारं ग्राहयेन्नरम्।
देशकालातिपत्तौ च गृहीत्वा स्वयमर्पयेत्।। याज्ञ०स्मृ० २/१६९

२. आगमेनोपभोगेन नष्टं भाव्यमतोऽन्यथा।
पञ्चबन्धो दमस्तस्य राज्ञे तेनाविभाविते।। वही, २/१७१

३. कात्या० ६२० (काणे अनुवाद)

४. हृतं प्रनष्टं यो द्रव्यं परहस्तादवाप्नुयात्।
अनिवेद्य नृपे दण्डयः स तु षण्णवतिं पणान्।। वही, २/१७२

५. दत्त्वा द्रव्यमसम्यग् यः पुनरादातुमिच्छति।
दत्ताप्रदानिकं नाम तद्विवादपदं स्मृतम्।। ना०स्मृ० ४/ दत्ताप्रदानिकम् /१

६. अदेयमथ देयं च दत्तं चादत्तमेव च।
व्यवहारेषु विज्ञेयो दानमार्गश्चतुर्विधः।।
तत्रेह्यष्टावदेयानि देयमेकविधं स्मृतम्।
दत्तं सप्तविधं श्रेयमदत्तं षोडशात्मकम्।। ना०स्मृ०, वही २-३।

युक्त परिवार में सर्वस्व दान एवं पुत्र व स्त्री का दान करना भी वर्जित माना है।[1] नारद भी उपर्युक्त मत का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार "अन्वाहित", धरोहर, "याचित", "निक्षेप", साझे की सम्पत्ति एवं जमानत की वस्तु का दान करना भी वर्जित माना गया है।[2]

किन्हीं विशेष परिस्थितियों में दान के धन को वापिस लिया जा सकता है। यथा मनु के अनुसार असाधु को दिये गये दान के धन को वापिस लिया जा सकता है।[3]

कात्यायन ने इस व्यवहारपद में घूस (उत्कोच) का भी उल्लेख किया है। किसी व्यक्ति को चोर या आततायी कहकर या किसी को व्यभिचारी कहकर या बदमाशों की ओर संकेत कर अथवा किसी के विषय में भ्रामक अफवाह उड़ाकर बदले में जो धन लिया जाये वह उत्कोच होता है घूस देने वाले को दण्डित नहीं करना चाहिए बल्कि मध्यस्थ को दण्डित करना चाहिए। घूस देने वाला यदि राजा का कर्मचारी होता था तो उसे घूस लौटानी पड़ती थी और उसका ग्यारह गुना अर्थ दण्ड देना पड़ता था। यदि कोई राजकर्मचारी न होते हुए धन लेता था तो उसे दण्डित नहीं किया जाता था। उस धन को पुरस्कार या कृतज्ञता प्रकाशन के रूप में समझा जाता था।[4]

क्षेत्रज या सीमाविवाद

क्षेत्र या भूमि की सीमा के अधिकार को लेकर सेतु-बाँध-खेत-ग्राम-मेड़ के मध्य सीमा के घटने व बढ़ने से सम्बन्धित विवाद क्षेत्रज या सीमा विवाद कहलाता था।[5] सीमा से प्रयोजन दो नगर, दो ग्राम, दो खेतों के मध्य पड़ने वाली उस रेखा, चिह्न स्थान या वस्तु से था जहाँ एक का अधिकार समाप्त होता था तथा दूसरे का अधिकार प्रारम्भ होता था। इसकी अनिश्चितता ही सीमाविवाद का कारण होती थी।

---

१. स्वं कुटुम्बाविरोधेन देयं दारसुतादृते।
नान्वये सति सर्वस्वं यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/१७५, ना०स्मृ०, ४/ दत्ताप्रदानिकम् ४-५

२. अन्वाहितं याचितकर्माधिः साधारणं च यत्।
निक्षेपः पुत्रदारं च सर्वस्वं चान्वये सति। ...
तद्देयमपहृत्यान्यत् कुटुम्बी दोषमाप्नुयात्।। ना०स्मृ०, दत्ताप्रदानिकम् /४-६

३. धर्मार्थं येन दत्तं स्यात्कस्मैचिद्याचते धनम्।
पश्चाच्च न तथा तत्स्यान्न देयं तस्य तद्भवेत्।। मनु०, स्मृ०, ८/२/२

४. कात्या०, ६५०-६५३ (काणे अनुवाद)

५. सीमां प्रति समुत्पन्ने विवादे ग्रामयोर्द्वयोः।
ज्येष्ठे मासि नयेत्सीमांसुप्रकाशेषु सेतुषु।। मनु०,स्मृ०, ८/२४५
सेतुकेदारमर्यादाविकृष्टाकृष्टनिश्चये।
क्षेत्राधिकारो यस्तु स्याद्विवादः क्षेत्रजस्तु स०। ना०स्मृ०, सीमाविवाद,।

नारद ने सीमाएँ पाँच प्रकार की बताई हैं–
१. "ध्वजिनी (डण्डों के समान वृक्षों वाली)
२. मत्स्यिनी (तालाबों व जलाशयों के घेरेवाली)
३. नैघानी (गुप्तचिह्न अर्थात भूसा, ईटों, हड्डियों आदि से भरे मृद् भाण्डों वाली)
४. भयवर्जिता (जो दो दलों द्वारा निर्णीत हो।)
५. राजशासननीता (राजा द्वारा निर्णीत)[१]

मनु व बृहस्पति के अनुसार बड़, पीपल, ढ़ाक, सेमल, शाल, दूधवाले वृक्ष, बांस व झाड़ियों आदि वृक्षों को सीमानिर्धारण के लिए लगा देना चाहिए। नदी के अविरल प्रवाह तालाब झील एवं ऊँचे टीले आदि से प्राकृतिक सीमाओं का निर्माण होता था। मिट्टी के बर्तनों में भूसा, कोयला, ईंटें, पत्थर, हड्डियाँ आदि रखकर भूमि के अन्दर गाड दिया जाता था। ऐसी वस्तुओं से बनायी गई सीमा को "नैघानी" या "उपच्छन्न" सीमा कहा जाता था। कोयला, धान की भूसी, पर्वत एवं नदी, वाल्मीकि, खाई, पत्थर एवं मन्दिर तथा बावड़ी भी सीमा निर्धारण के स्थायी चिह्न व प्रतीक माने जाते थे। ये चिह्न दीर्घकाल तक स्थिर रह सकते थे। सीमा पर तालाब, कुआँ, बावडी, झरना एवं देवस्थानों का निर्माण किया जाता था। जिससे सीमा नष्ट न हो सके तथा परम्परा के रूप में स्मरण रह सके। पत्थर, हड्डी, गाय के बाल, पक्की ईंट के कंकड, छोटी पत्थरी कोयला व रेत का उपयोग भी सीमा निर्धारण में किया जाता था। अभिलेखों के द्वारा भी सीमा को सुरक्षित रखा जाता था।[२]

बृहस्पति का कहना है कि ग्राम स्थापना के समय प्रकाश (स्पष्ट रूप से लक्षित) व उपांशु (गुप्त या छिपे हुए उपच्छन्न) लक्षणों से युक्त सीमाएँ निर्धारित करनी चाहिए।[३] संकेतों व लक्षणों से बनाई गई सीमाएँ बच्चों को भी दिखा देनी चाहिए एवं पीढ़ी दर पीढ़ी इसी क्रम से दिखाते रहना चाहिए। इस प्रकार निर्धारित सीमा की परम्परा बंध जाएगी।[४] इसी कथन को मनु ने विवाद के सम्बन्ध में व्यक्त

---

१. ध्वजिनी मत्स्यिनी चैव निधानी भयवर्जिता।
राजशासननीता च सीमा पञ्चविधा स्मृता।। नारद, या०स्मृ०, मिताक्षरा में उद्धृत।

२. मनु०स्मृ०, ८/२४६-२५१,
सीम्नो विवादे क्षेत्रस्य सामन्ताः स्थविरादयाः
गोपाः सीमाकृषाणा ये सर्वे च वनगोचराः।।
नयेयुरेते सीमानं स्थलाङ्गारतुषद्रुमैः।
सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/१५०-१५१

३. निवेशकाले कर्तव्यः सीमाबन्धविनिश्चयः।
प्रकाशोपांशुचिन्हैश्च लक्षितः संशयापहः।। बृहस्पति, १९/७

४. बृह० १९/६-७ (जॉली अनुवाद)

किया है कि प्रकाश एवं गुप्त सीमाओं की परम्परागत जानकारी ही विवाद की स्थिति में साक्षी का काम करती है।[१]

सीमाविवाद का निर्धारण समीपस्थ, ग्राम, नगर या क्षेत्र के चार से दस व्यक्ति लाल वस्त्र पहन कर करते थे। दो ग्रामों के मध्य उत्पन्न सीमाविवाद को निकटवर्ती पाँच ग्रामी या दस ग्रामी व्यवहारभिज्ञ जन पर्वत अथवा नदी आदि के द्वारा सीमा विवाद का निर्धारण करते थे। निकटवर्ती ग्रामवासियों के अभाव में वृद्ध पुरुषों, चरवाहों, खेतीहरों, शिकारियों, व्याधों, मछली मारनेवालों, शाकुनियों (पक्षी मारनेवालों) वन में रहकर मूलादि खाने वालों आदि से सीमा की साक्षी ली जानी चाहिए क्योंकि सदा ऐसे स्थानों पर विचरते रहने से उनको सीमा का सही ज्ञान रहता है।[२] नारद ने मनु के मत का समर्थन किया है।[३] सीमा के विवादों में एकल साक्षी पर्याप्त नहीं माना जाता था। नारद के मतानुसार सीमा विवाद इतना महत्त्वपूर्ण विषय था कि एक व्यक्ति की साक्षी पर निर्भर नहीं रहा जा सकता था भले ही वह विश्वास योग्य क्यों न हो। विवशतावश यदि एक व्यक्ति की साक्षी लेनी भी पड़े तो वह उपवास रखकर स्थिर बुद्धि से, लालपुष्पों की माला धारण कर व लालवस्त्र धारण कर सिर पर मिट्टी का ढेला रखकर शपथ लेकर कहता था कि अगर वह झूठ बोले तो उसके समस्त पुण्यों का फल नष्ट हो जाये। मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति आदि ने भी उक्त मत ही स्वीकार किया है।[४]

चिह्न एवं हर प्रकार की साक्षी के अभाव में सीमा का निर्धारण स्वयं राजा करता था। सीमा निर्धारण का लेख लिखा जाता था, जिस पर साक्षियों के हस्ताक्षर भी होते थे। राजा नवीन चिह्नों की नई सीमाएँ अंकित करता था। अथवा आधी-आधी भूमि दोनों विवाद करने वालों में बाँट सकता था।[५]

---

१. यदि संशय एव स्याल्लिङ्गानामपि दर्शने।
साक्षिप्रत्यय एव स्यात्सीमावादविनिर्णयः।। मनु०स्मृ०, ८/२५३

२. साक्ष्यभावे तु चत्वारो ग्रामाः सामन्तवासिनः।
सीमाविनिर्णयं कुर्युः प्रयता राजसन्निधौ। मनु०, ८/२५८ व २५९-२६०

३. क्षेत्रसीमाविवादेषु सामन्तेभ्यो विनिश्चयः।
नगरग्रामगणिनो ये च बृद्धतमा नराः।
ग्रामसीमासु च बहिर्ये स्युस्तत्कृषिजीविनः।
गोपशाकुनिकव्याधा ये चान्ये वनजीविनः।। ना०स्मृ०, सीमाविवाद, २-३

४. शिरोभिस्ते गृहीत्वोर्वी स्त्रग्विणो रक्तवाससः।
सुकृतैः शापिताः स्वैः स्वैर्नयेयुस्ते समञ्जसम्। मनु०स्मृ०, ८/२५६, याज्ञ०स्मृ०, २/१५२,
नैकः समुभयेत् सीमां नरः प्रत्ययवानपि। गुरुत्वादस्य कायस्य क्रियैषा बहुषु स्थिता। एकश्चेदुभयेत् सीमां सोपवासः समाहितः। रक्तमाल्याम्बरधरः क्षितिमारोप्य मूर्धनि। ना०स्मृ०, सीमाविवाद ९-८

५. सीमायामविषह्यायां स्वयं राजैव धर्मवित्।
प्रदिशेद्भूमिमेतेषामुपकारादिति स्थितिः।। मनु०स्मृ०, ८/२६५ याज्ञ०स्मृ०, २/१५३, यदिच न स्युर्ज्ञातारः सीमायाश्च न लक्षणम्। तदा राजा द्वयोः सीमामुभयेदिष्टतः स्वयम्।। ना०स्मृ०, सीमाविवाद/११

सीमा निर्धारण के अवसर पर झूठ बोलनेवाले के लिए दण्ड की व्यवस्था थी। साभन्तादि के असत्य कहने पर उन्हें मध्यम साहस का दण्ड दिया जाता था।[१] जो व्यक्ति मित्रतावश, लोभवश अथवा भयवश सत्य बात नहीं कहता था उसे दण्ड देना पड़ता था।[२] विष्णु के अनुसार असत्य बोलनेवाले कूट साक्षियों को उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति से वंचित कर देना चाहिए।[३] कौटिल्य के अनुसार सीमा के चिह्नों को न देखनेवाले, सीमा की भूमि का अपहरण क.रनेवाले व चिह्नों को नष्ट कर देने वाले व्यक्ति को दण्ड दिया जाता था।[४]

किसी व्यक्ति द्वारा किसी के गृह, तड़ाग या खेत को भय दिखाकर छीन लेने पर ५०० पण का दण्ड व अज्ञानवश ले लेने पर २०० पण दण्ड दिया जाता था।[५] खेतों के मध्य बनी हुई मेंड तोड़ने , अधिक जोतने के लिए सीमा पार करने व धमकी देकर खेत छीन लेने पर क्रमशः अधम, उत्तम और मध्यम साहस का दण्ड देने का विधान था।[६] नारद के अनुसार दो खेतों की सीमा के मध्य उगे फल-फूल दोनों की सम्पत्ति माने जाते थे, लेकिन एक के खेत के उगे पेड़ की डालियाँ यदि दूसरे के खेत पर फैल जाती थीं तो उसके फल-फूल का स्वामी वही होता था जिसका वृक्ष होता था।[७] सीमाविवाद के प्रसंग में ही "सेतु" सम्बन्धी नियम भी वर्णित किये गये हैं।[८] बादकी स्मृति . में जलप्रणालियों व मलमूत्र विसर्जन प्रणालियों की सीमाओं से सम्बन्धित नियम दिये गये हैं। बृहस्पति के अनुसार घर के वातायनों, जलनिकासों, सड़कों के किनारे बने उच्च स्थलों, घरों या कुटीरों के आंगन से वर्षा के जल को निकालनेवाली नालियों को, जो वर्षा से बनी हुई हैं, नहीं हटाना चाहिए। भले ही उनसे पड़ोस के मकानों को कठिनाई होती हो,

---

१. सामन्ताश्चेन्मृषा ब्रूयुः सेतौ विवदतां नृणाम्।
सर्वे पृथक्पृथग्दण्डया राज्ञा मध्यमसाहसम्।। मनु०स्मृ०, ८/२६३ याज्ञ० २/१५३, ना०स्मृ०, सीमाविवाद /७

२. कात्या० ७५० (काणे अनुवाद)

३. विष्णु, उद०स्मृ०च०

४. उद्दिष्टानां सेतूनामदर्शने सहस्त्रंदण्डः। न देव बीते सीमापहारिणां सेतुच्छिां च कुर्यात्।। कौ०अ०, ३/९/१३-१४

५. गृहं तडागमारामं क्षेत्रं वा भीषया हरन्।
शतानि पञ्च दण्डयः स्यादज्ञानाद् द्विशतो दमः। मनु०स्मृ०, ८/२६४

६. मर्यादायाः प्रभेदे च सीमातिक्रमणे तथा।
क्षेत्रस्य हरणे दण्डा अधमोत्तममध्यमाः।। याज्ञ०स्मृ०, २/१५५

७. सीमामध्ये तु जातानां वृक्षाणां क्षेत्रयोर्द्वयोः।
फलपुष्पं च सामान्यं क्षेत्रस्वामिषु निर्दिशेत्।।
अन्य क्षेत्रोपजातानां शाखास्त्वन्यत्र संस्थिताः।
स्वामिनस्ता विजानीयादन्यक्षेत्रविनिर्गताः।। ना०स्मृ०, / सीमाविवाद / १३-१४

८. वही १७-२०

खिड़की, नाली, खूँटी, बरसाती पानी की नाली आदि को भी बन्द नहीं किया जाना चाहिए।[१] गुप्तस्थान, अग्निस्थान, गड्ढा, जूठा भोजन व अन्य कूड़ाकरकट रखने का स्थान किसी दूसरे के घर के समीप नहीं बनाना चाहिए।[२]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में जनमार्ग पर धूल फेंकनेवाले, धार्मिक स्थानों पर व जल में मलमूत्र विसर्जन करनेवालों के लिए दण्ड की व्यवस्था दी है। मार्गों के अवरोध के संदर्भ में वे कहते हैं– छोटे पशुओं व मनुष्यों के मार्ग अवरुद्ध करने पर, बड़े पशुओं के मार्ग को, हस्ति व खेतों के, सेतु और वन के श्मशान व गांव के, द्रोणमुख के एवं स्थानीय राष्ट्र व चारागाह के मार्गों को रोकनेवालों को दण्ड देना पड़ता था। जो व्यक्ति इन मार्गों को खोदने या जोतने के अतिरिक्त कोई अन्य प्रकार की हानि पहुँचाता था तो उसे उपर्युक्त दण्ड का चौथाई दण्ड देना पड़ता था।[३] साधारण कार्य और जल के उचित रास्तों को रोकनेवाले को प्रथम साहस का दण्ड देना पड़ता था। मनु व याज्ञवल्क्य ने भी इस प्रकार के नियम निर्धारित किये हैं लेकिन इन्हें आचार के नियमों के अन्तर्गत रखा है।[४]

स्त्रीपुंधर्म

(पति-पत्नी का धर्म)

"स्त्रीपुंधर्म" व्यवहारपद के अन्तर्गत नारद ने "पति-पत्नीधर्म", नपुंसकता, विवाह, नियोग व तलाक आदि विषयों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। पति-पत्नी धर्म की परिभाषा देते हुए वे कहते हैं कि स्त्री-पुरुष के विवाह सम्बन्धी व अन्य पारस्परिक सम्बन्धों के वैधानिक नियम ही पति-पत्नी धर्म के अन्तर्गत आते हैं।[५] कन्या की स्पष्ट एवं स्वतन्त्र स्वीकृति के पश्चात् ही वे विवाह की मान्यता देते हैं। आगे वे सवर्णी विवाह की श्रेष्ठता बताते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को क्रमशः अपने से निम्न वर्णी की कन्या से भी विवाह करने की अनुमति दे देते हैं।[६] लेकिन सवर्णाभार्या ही सहचारिणी व ज्येष्ठ समझी जाती थी।[७] मातृगोत्र पाँच पीढ़ी तक

---

१. बृह० १९/४५-४७ (आयंगर द्वारा सम्पादित)

२. वही, १९/२६ (जॉली अनुवाद)

३. कौ०अ०, ३/१०/६-१४

४. मनु०,स्मृ०, अध्याय २, याज्ञ०स्मृ०, अध्याय-१

५. विवाहादिविधिः स्त्रीणां यत्र पुंसां च कीर्त्यते।
स्त्रीपुंसयोगनामैतद्विवादपदमुच्यते। ना०स्मृ०, स्त्रीपुंसयोग /१

६. ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परिग्रहे।
सजातिः श्रेयसी भार्या सजातिश्च पतिः स्त्रियाः।। वही, /४

७. असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने।। मनु०स्मृ०, ३/५, गौ०ध०सू०, ४/१

व पिता का गोत्र सात पीढ़ी तक सपिण्ड प्रभावी माना जाता था।[१] याज्ञवल्क्य विवाह से पूर्व पुरुषत्व परीक्षा को मान्यता देते हैं।[२] नारद के अनुसार विवाह से पूर्व पुरूष के पुरुषत्व की जाँच अनिवार्य है, क्योंकि नपुंसक को विवाह का अधिकार नहीं था।[३]

मनु ने तीस वर्ष की आयु वाले के साथ १२ वर्ष की कन्या का विवाह प्रामाणिक कहा है। गृहस्थधर्म के संकटापन्न होने पर चौबीस वर्ष वाले को ८ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करने का भी उल्लेख किया है।[४] परन्तु आगे चलकर यह नियम शिथिल सा पड़ गया था। सोलह वर्ष का वर व १२ वर्ष की कन्या को व्यस्क मानकर विवाह का प्रचलन प्रारम्भ होता गया।[५] व्यथित, पीड़ित, उन्मत्त, कुष्ठ रोगवाली एवं क्षतयोनि कन्या का विवाह अमान्य था लेकिन दोषरहित कन्या को दोष लगाना भी दण्डनीय था।[६] याज्ञवल्क्य के अनुसार वर्ण क्रमानुसार ब्राह्मण की तीन पत्नियाँ, क्षत्रिय की दो पत्नियाँ व वैश्य तथा शूद्र की एक-एक पत्नी हो सकती थी।[७] उन्हें उच्चवर्ण के शूद्रवर्ण से स्त्री के विवाह की बात अमान्य है।[८] लेकिन बौधायन ने शूद्र कन्या को पत्नी रूप में स्वीकार किया है। उनके अनुसार ब्राह्मण की चार, क्षत्रिय की तीन वैश्य की दो व शुद्र की एक पत्नी होती है।[९]

धर्मशास्त्रों में दूसरे विवाह सम्बन्धी नियम भी मिलते हैं। आपस्तम्ब ने धर्मज्ञ पुत्रवती स्त्री के रहते दूसरे विवाह को अमान्य माना है।[१०] स्त्री के पुत्र न होने पर,

---

१. पञ्चमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा। याज्ञ०स्मृ०, १/५३
आ सप्तमात् पञ्चमाद्वा बन्धुभ्यः पितृमातृतः।
अविवाह्याः सगोत्राः स्युः समानप्रवरास्तथा।। ना०स्मृ०, ४/१२/७, सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत, आ०ध०सू०, २/११/१५

२. एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः।
यत्नात्परीक्षितः पुंस्त्वे युवा धीमाञ्जनप्रियः।। याज्ञ० १/५५

३. परीक्ष्य पुरुषः पुंस्त्वे निर्जैरैवाङ्गलक्षणैः।
पुमांश्चेदविकल्पेन स कन्यां लब्धुमर्हति।। ना०स्मृ०, स्त्रीपुंसयोग /८

४. त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः।। मनु०स्मृ०, ९/९४

५. द्वादशवर्षा स्त्रीप्राप्तव्यवहार भवति। षोडशवर्षः पुमान्। कौ०अ०, ३/३

६. नोन्मत्तायां न कुष्ठिन्या न च या स्पष्टमैथुना।
पूर्वं दोषानभिरव्याप्य प्रदाता दण्डमर्हति।। मनु०स्मृ०, ८/२०५, याज्ञ०, १/५२

७. तिस्रो वर्णानुपूर्व्येण द्वे तथैका यथाक्रमम्।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां भार्या स्वा शूद्रजन्मनः।। याज्ञ०, १/५७

८. यदुच्चते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयम्। याज्ञ०, १/५६

९. बौ०ध०सू०, १८/१६/२-५

१०. धर्मप्रजासम्पन्नेदारेनाऽन्यां कुर्वीत। आ०ध०सू०, २/११/१२

वन्ध्या होने पर आठ वर्ष की प्रतीक्षा के उपरान्त दूसरा विवाह किया जा सकता था। यदि स्त्री मृत सन्तान को जन्म दे तो १० वर्ष की प्रतीक्षा के पश्चात्, कन्या को ही उत्पन्न करने वाली स्त्री होने पर ग्यारह वर्ष के पश्चात् व अप्रियवादिनी स्त्री की तत्काल उपेक्षा करके दूसरा विवाह करने का विधान था।[१] परन्तु प्रथम स्त्री को पुरुष द्वारा क्षतिपूर्ति करनी पड़ती थी। पत्नी की मृत्यु होने पर भी दूसरा विवाह करने का प्रचलन रहा था।[२] अतिनीच, पतितचरित्रवाले, विदेश में निवास करनेवाले, राजद्रोह या महापाप के अभियुक्त, प्राणघाती, जाति और धर्म से पतित, व नपुंसक पति का पत्नी अविलम्ब त्याग करके दूसरा विवाह कर सकती थी। दूसरा विवाह करने वाली स्त्री को स्त्रीधन लौटाना पड़ता था। व पति के दायभाग से भी वंचित कर दी जाती थी।[३]

स्मृतियों में नियोगप्रथा के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं मिलता है। मनु ने जहाँ इसका वर्णन करते हुए इसकी निन्दा की है वहीं नारद ने इसे वैधानिक मान्यता प्रदान की है। पुत्रहीन विधवा अपने देवर या पति के सपिण्ड से पुत्र उत्पन्न कर सकती थी किन्तु इसके लिए गुरुओं व सम्बन्धिजनों की अनुमति लेना आवश्यक था। ऐसे नियुक्त व्यक्ति को अंधेरे में बिना रतिक्रीडा किए अपने शरीर पर घृत का लेप कर केवल तब तक संसर्ग करना होता था जब तक स्त्री एक पुत्र की प्राप्ति न कर ले। पुत्र प्राप्ति के पश्चात् स्त्री से पुरुष को संसर्ग का अधिकार वर्जित था।[४] अन्य किसी भी परिस्थिति में वियोग मान्य नहीं था। ऐसा करने वाले व्यक्ति को राजा कठोर दण्ड देता था।[५]

आरम्भिक ग्रन्थों में हमें तलाक सम्बन्धी स्पष्ट नियम नहीं मिलते हैं। धर्मशास्त्रकारों के अनुसार होम एवं सप्तपदी के पश्चात् विवाह सम्बन्ध अटूट हो जाता है केवल विशेष परिस्थितियों में पति द्वारा पत्नी के व पत्नी द्वारा पति के परित्याग को मान्यता दी गई है लेकिन वह भी विवाह विच्छेद के रुप में नहीं। मनु के अनुसार पति-पत्नी की पारस्परिक निष्ठा आमरण होनी चाहिए यही परम धर्म

---

१. वन्ध्याष्टमेऽधिवेधाब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी।। मनु०, स्मृ०, ९/८१, याज्ञ० १/७३

२. दाहयित्वाग्निहोत्रेण स्त्रियं वृत्तवती पतिः।
आहरेद्विधिवद्दारानग्नींश्चैवाविलम्बयन्।। याज्ञ०, १/८९

३. नीचत्वं परदेशं वा प्रस्थितोराजकिल्विषी।
प्राणाभिहन्तापतितस्त्याज्यः क्लीबोऽपि वा। कौ०अ०, ३/२

४. विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
एकमुत्पादयेत्पुत्रं न द्वितीयं कथञ्चन ।। मनु०स्मृ०, ९/६०, ना. स्मृ०, स्त्रीपुंसयोग/८०

५. अतोऽन्यथा वर्तमानः पुमान् स्त्री वापिकामतः।
विनेयौ सभृशं राज्ञा विप्लवः स्यादतोऽन्यथा।। ना०स्मृ०, वही ८८

है। पत्नी का विक्रय किये जाने से या पति को छोड़कर भाग जाने से पत्नी को पति से छुटकारा नहीं मिल सकता था।[१] पति या पत्नी के पतित होने पर भी विवाह संस्कार की समाप्ति नहीं हो सकती है। आपसी नापसंद के कारण पति-पत्नी का एक दूसरे को त्याग देना पाप था, लेकिन यत्नपूर्वक सुरक्षित स्त्री के व्यभिचारिणी होने पर त्याग हो सकता था।[२] ऐसा करनेवाली पत्नी का सिर मुँडवाकर, अच्छे भोजन, वस्त्र व शैया से वंचित कर घर की सफाई देने का दण्ड दिया जाता था।[३] स्त्रीधन के धोखे में पति की सम्पत्ति का नाश करनेवाली, गर्भपात कराने वाली अथवा स्वामी की वध चिन्ता करने वाली स्त्री को नगरनिर्वासन का दण्ड दिया जाता था। कटु बोलने वाली पति से पहले भोजन करने वाली व पति से घृणा दर्शाने वाली स्त्री को घर से निर्वासित कर देना चाहिए।[४] गुणवती व पुत्रवती, अनुकूला व साध्वी पत्नी का त्याग करने वाले को राजा द्वारा दण्डित किया जाता था।[५] नारद ने पत्नी द्वारा पति से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने के पाँच कारणों को वैधानिक माना है– १. जिसका पति खो गया है। २. जिसका पति दिवगंत हो गया है, ३. भिक्षु बन गया हो, ४. नपुंसक हो एवं जाति से च्युत हो।[६] नारद ने पति-पत्नी के सम्बन्ध विच्छेद के काल का भी उल्लेख किया है। निर्धारित काल तक प्रतीक्षा के उपरान्त दूसरा पति ग्रहण करने का विधान किया है।[७] नारद ने विवाहविच्छेद के रूप में स्वीकृत किन्हीं नियमों को भी दिया है जो नियम दोषपूर्ण स्थितियों में पति या पत्नी को एक दूसरे का त्याग करने की अनुमति देते हैं।

कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में कुछ नये नियम दिये हैं। उनके अनुसार परस्पर द्वेष होने पर ही परित्याग हो सकता था। परित्याग होने पर स्त्री से प्राप्त स्त्रीधन पुरुष को लौटाना पड़ता था किन्तु पुरुष के उपकार के कारण उसका त्याग करनेवाली पत्नी को अपनी ओर से दिया गया धन लेने का अधिकार नहीं था।[८]

---

१. न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते।
एवं धर्मं विजानीमः प्राक्प्रजापतिनिर्मित्तम।। मनु०स्मृ०, ९/४६

२. अन्योन्यं त्यजतोरागः स्यादन्योन्यविरुद्धयोः।
स्त्रीपुंसयोर्निगूढाया व्यभिचारादृते स्त्रियाः। ना०स्मृ०, स्त्रीपुंसयोग /९०

३. वही, ९१

४. वही, ९२-९३

५. अनुकूलामवाग्दुष्टां दक्षां साध्वीं प्रजावतीम्।
त्यजन् भार्यामवस्थाप्यो राज्ञा दण्डेन भूयसा।। वही, ९५

६. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापतसु नारीणां पतिरन्यो विधीयते।। वही, ९७

७. अष्टौ वर्षाण्युदीक्षेत ब्राह्मणी प्रोषितं पतिम्।
अप्रसूता तु चत्वारि परतोऽन्यं समाश्रये। वही, ९८-१०१

८. कौ०अ० ३/३/१७-२१

कौटिल्य ने विवाह के प्रथम चार प्रकारों में परित्याग का स्पष्ट रूप से निषेध किया है जबकि बाद के प्रकारों में विद्वेष उत्पन्न होने पर एक दूसरे से छुटकारा पाया जा सकता था।[१]

दायभाग

"दाय" शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में मिलता है। यथा कहीं भाग अर्थ में, कहीं पुरस्कार, कहीं "पैतृकसम्पति", कहीं सम्पत्ति व कहीं "धन" के अर्थ में मिलता है। "रिक्थ" भी "दाय" का समानार्थी है। कहीं-कहीं केवल "विभाग" शब्द से भी कहा गया है।[२] "दाय" की परिभाषा करते हुए मिताक्षराकार का कहना है कि "दाय" वह धन है जो स्वामी के सम्बन्ध से अन्य का धन हो जाता है।[३] नारद के अनुसार जहाँ पर पिता की सम्पत्ति का विभाग पुत्रों द्वारा किया जाता है उसे "दायभाग" नामक व्यवहारपद कहा जाता है।[४] बृहस्पति के अनुसार पिता द्वारा अपना धन पुत्रों को देना ही "दाय" कहा जाता है।[५] दायभाग को दो भागों में विभाजित किया गया है।[६] अप्रतिबन्ध (जिसको कोई रोक न सके) सप्रतिबन्ध (जिसका कोई प्रतिबन्धक हो) "अप्रतिबन्ध" दाय वह है जिसमें पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र अपने सम्बन्ध से ही पिता, पितामह द्वारा आगत वंश परम्परा के कारण धन को प्राप्त करते हैं 'सप्रतिबंध' दाय वह है जो चाचा और भाई आदि को पुत्र और स्वामी के अभाव में धन पर अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रकार पुत्र का होना और स्वामी का होना उसके स्वत्व में प्रतिबन्धक है।[७] "दाय" पर स्वत्व (स्वामित्व) कब होता है, किसका होता है व किन परिस्थितियों में होता है यह जानना आवश्यक है। "दाय" का अर्थ है सम्पत्ति का विभाजन अर्थात् सम्पूर्ण सम्पत्ति के

---

१. अमोक्षो धर्मविवाहानामिति- कौ० अ०, ३/३/२२

२. विस्तार के लिए, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग– २ पृ० ८३७-८३९

३. तत्र "दायं" शब्देन यद्धनं स्वामिसम्बन्धादेव
निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते।। याज्ञ०स्मृ०,
दायभागप्रकरण पर मिताक्षरा।

४. विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्पयते।।
दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः।। ना०स्मृ०, दायभाग/१

५. ददाति दीयते पित्रा पुत्रेभ्यः स्वस्य यद्धनम्।।
तदायं... बृहस्पति। बृहस्पति, २६/१

६. अग्निपुराण, अध्याय, २५६

७. पितृत्वभ्रात्रादीनां तु पुत्राभावे स्वाम्यभावे च स्वं भवतीति सप्रतिबन्धो दायः। याज्ञ०, दायभाग, मिताक्षरा।

निश्चित भागों की व्यवस्था करना। सम्पत्ति विभाजन के दो काल मान्य माने गये थे– पिता के जीवनकाल में पिता की इच्छा से व दूसरा पिता की मृत्यु के उपरान्त।[१] नारद इसका अपवाद नियम देते हुए कहते हैं कि ऐसे पिता की इच्छा के विरुद्ध भी सम्पत्ति का विभाजन किया जा सकता था जो संभोग से दूर हो गया हो व उसकी पत्नी (माता) सन्तानोत्पत्ति के योग्य न रह गई हो, एवं जिस पिता की समस्त भौतिक इच्छांए समाप्त हो गई हो तथा बहनों का विवाह हो चुका हो।[२]

पिता अपने जीवनकाल में अपनी सम्पदा को, अपने पुत्रों में विभाजित करते समय, अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुछ अधिक तथा अन्य पुत्रों को समान रूप में विभाजन करता था। मनु ने तो ज्येष्ठ पुत्र को सम्पूर्ण पैतृकसम्पत्ति के प्राप्त होने का विधान किया है व ऐसी स्थिति में छोटे पुत्रों को ज्येष्ठ भाई पर पिता समान ही निर्भर रहना पड़ता था।[३] कात्यायन व कौटिल्य ने सभी पुत्रों में समान विभाजन को मान्यता दी है।[४] किसी को कम व अधिक नहीं। एक पिता अकारण अपने पुत्रों व पुत्र को सम्पत्ति से वंचित नहीं कर सकता था। पिता द्वारा धर्मानुसार किया गया विभाजन अपरिवर्तनीय होता था परन्तु यह विभाजन पिता के रहते हुए पिता की अनुमति पर ही होता था।[५]

नपुंसक, पातकी, पागल, उन्मत्त, जड व असाध्य रोग से पीड़ित, पातकी एवं दुर्गुणों के कारण व्यक्ति दायभाग का अधिकारी नहीं होता था अपितु उसका भरण

---

१ विभाग चेत्पिता कुर्यादिच्छया विभजेत्सुतान्।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन सर्वे वा स्युः समांशिनः। याज्ञ०स्मृ०, २/११४,
पितर्यूर्ध्वं गते पुत्रा विभजेरन्धनं क्रमात्।
मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः।।
पितैव वा स्वयं पुत्रान्विभजेद्वयसि स्थितः।
ज्येष्ठं वा श्रेष्ठभागेन यथा वास्य मतिर्भवेत्।।
ना०स्मृ०, दायभाग /२, ४, मनु०स्मृ०, ९/१०४, गौ०ध०सू० ३/१०/११

२. मातुर्निवृत्ते रजसि प्रत्तासु भगिनीषु च।
निवृत्ते वापि रमणे पितर्युपरतस्पृहे।। ना०स्मृ०, दायभाग ३,
निवृत्ते रजसि मातुर्जीवतिचेच्छति। गौ०ध०सू०, ३/१०/२

३. ज्येष्ठं एव तु गृहणीयात्पित्र्यं धनमशेषतः।
शेषास्तमुपजीवेयुर्यथैवपितरं तथा।। मनु०स्मृ०, ९/१०५,
सर्वं वा पूर्वजः स्वेतरान्विभृयात्पितृवत्। गौ०ध०सू०, ३/१०/३

४. कात्या० ८३८ (काणे अनुवाद)

५. याज्ञ०स्मृ०, २/११४-११६, एकधनेन ज्येष्ठं तोषयित्वा। आ०ध०सू०, २/१३/१२

पोषण किया जाता था। परन्तु इनके औरस पुत्र दायभाग के अधिकारी होते थे।[१]

माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र पिता के समस्त धन को बराबर-बराबर बांट लेते थे। लड़कियों को पिता की सम्पत्ति से कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। परन्तु मनु के अनुसार प्रत्येक भाई अपने भाग का १/४ भाग अपनी बहन को देता था। पुत्र न होने की स्थिति में पुत्री पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी मानी जाती थी और उसका स्थान वैद्य पुत्र के समकक्ष माना जाता था क्योंकि पुत्र के अभाव में पुत्री का पुत्र ही पिण्ड दानकर नाना को स्वर्ग की प्राप्ति करा सकता था ऐसी धारणा थी।[२] पिता द्वारा लिया गया ऋण भी बराबर बटता था। मातृऋण को चुकता करके सभी पुत्रियां मातृ धन को समान बांट लेती थी। बहनों के अभाव में स्त्रीधन को पुत्र बराबर-बराबर बाँट लेते थे। परन्तु स्वयं उपार्जित धन व विवाह में मिले धन पर अन्य भाईयों का अधिकार नहीं होता था। सम्पत्ति विभाजन के समय अविवाहित भाईयों व कन्याओं के विवाह के लिए पर्याप्त धन अलग से दिया जाता था।[३]

संयुक्त परिवार में पुत्र व पौत्रों में सम्पत्ति का विभाजन पिता के भाग पर निर्भर करता था अर्थात् पितामह की सम्पत्ति में अपने-अपने पिता का भाग लगाकर और फिर अपने पिता के भाग में अपने अंश का भाग लगाने पर ही पौत्र का भाग आता है[४] परिवार के कुल सदस्यों की गणना के आधार पर विभाजन नहीं होता था। कौटिल्य ने भी विभाजन का यही नियम दिया है।

दायभाग पाने में चार पीढ़ी तक के व्यक्ति (पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र) ही सक्षम थे, पाँचवी पीढ़ी के नहीं, क्योंकि चार पीढ़ी तक ही पिण्ड विच्छिन्न नहीं होता था। प्रपितामह, पितामह, पितास्वयं एक माता-पिता से उत्पन्न अपने भाई, सवर्णपत्नी से उत्पन्न पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र सपिण्ड कहे जाते थे।[५] लेकिन प्रपौत्र का पुत्र सपिण्ड

---

१. जडक्लीबौ भर्तव्यौ। अपत्यं जडस्य भागार्हम्।।
गौध०सू०, ३/१०/४१-४२, जीवन् पुत्रेभ्यो दायं विभजेत् समं क्लीबमुन्मत्त पतितं च परिहाप्य।
आ०ध०सू०, २/६/१४/१ याज्ञ०स्मृ० २/१४०-१४१, मनु०स्मृ०, ९/२०१

२. बृहस्पति, २५/३५-३७ (जॉली अनु०)

३. मनु०स्मृ०, ९/११८, १३१, २०६, २१८, १९२, १९३, याज्ञ० २/१। १७, ११८, ११९, १२४ स्त्रीधनं दुहितृणामप्रत्तानामप्रतिष्ठितानां च। गौ०ध०सू०, ३/१०/२२

४. सामान्यार्थसमुत्थाने विभागस्तु समः स्मृतः।
अनेकपितृकाणां तु पितृतो भागकल्पना।।
भूर्या पितामहोपात्ता निबन्धो द्रव्यमेव वा।
तत्र स्यात्सदृशं स्वाम्यं पितुः पुत्रस्य चैव हि। याज्ञ०स्मृ०, २/१२०-१२१, कौ०अ०, ३/५

५. बौधायनधर्मसूत्र, १.५.११.७

नहीं होता था।[१] सम्पत्ति विभाजन के नाते सपिण्ड का अपना महत्व होता था।

मनु के अनुसार (औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम, गूढोत्पन्न अपविद्ध, कानीन, सहोढ, क्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त व शौद्र) १२ प्रकार के पुत्रों में से प्रथम छः प्रकार के पुत्र पितृधन के भागी व पिण्डदान करने वाले होते हैं जबकि अन्तिम छः धन के भागी न होकर केवल मात्र तिलोदक आदि देने के अधिकारी होते हैं।[२] वानप्रस्थी, सन्यासी, और नैष्ठिक ब्रह्मचारी के धन को आश्रमवासी प्राप्त करते थे, पुत्र के अभाव में कन्या, कन्या के अभाव में पिता, पिता के अभाव में सहोदर, सहोदर के अभाव में भ्रातृपुत्र को सम्पत्ति मिलती थी। जिस सम्पत्ति का कोई अंशधारी नहीं होता था, सम्पत्ति राज्य नियन्त्रण में चली जाती थी।[३] अनुचित्तरीति से उत्पन्न पुत्र सम्पत्ति अधिकार से वंचित रहता था। जबकि नियोग द्वारा उत्पन्न पुत्र सम्पत्ति प्राप्त करता था।[४]

पुत्रों व पुत्रियों के दायभाग के पश्चात् पत्नी के अधिकार का प्रश्न आता है। पत्नी को विभाजन की मांग का कोई अधिकार नहीं था। वह पति की इच्छा से ही कुल की सम्पत्ति में भाग पा सकती थी। लेकिन ऐसी धारणा कि पत्नी पति की सम्पत्ति से पूर्ण वंचित थी, ठीक नहीं है कुछ परिस्थितियों में उसे अधिकार प्राप्त थे। सकुल्यों अथवा पति के माता-पिता अथवा एकोदर भाईयों के रहते भी अर्धांगिनी होने के नाते पत्नी पुत्रहीन पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी।[५] यदि पिता अपनी इच्छा से सभी पुत्रों को समान अंश देता था तो उसे उन पत्नियों को भी समान भाग देना पड़ता था जिन्हें अपने पति या श्वसुर से स्त्रीधन नहीं मिला हो।[६] एक स्त्री के रहते दूसरा विवाह करने पर पहली स्त्री को दूसरे विवाह में व्यय किए गए धन के बराबर धन प्राप्त करने का अधिकार था, किन्तु यदि उसे स्त्रीधन भी मिला हो तो उस व्यय का आधा धन ही वह प्राप्त कर सकती थी।[७]

---

१. पिण्डगोत्रर्षिसंबन्धा रिक्थं भजेरन्स्त्री वाऽनपत्यस्य। गौ०ध०सू०, ३/१०/१९
पुत्राभावे यः प्रत्यासन्नः सपिण्डः।
तदभाव आचार्य आचार्याभावेऽन्तेवासी हृत्वा तदर्थेषु धर्मकृत्येषु वोपयोजयेत्।
आ०ध०सू०, २/१४/२-३

२. मनु०स्मृ०, ९/१५९-१६०, पुत्रा औरसक्षेत्रजदत्तकृत्रिमगूढोत्पन्नापविद्धारिक्थभाजः।
कानीनसहोढपौनर्भवपुत्रिकापुत्रस्वयंदत्तक्रीता गोत्रभाजः। आ०ध०सू०, २/६/३०-३१

३. राजेतरेषाम।। गौ०ध०सू०, ३/१०/४०

४. मनु०स्मृ०, ९/१४४-१४६

५. बृहस्पति, २५/४७-४८ (जॉली अनुवाद)

६. यदि कुर्यात्समानंशान् पत्न्यः कार्या समांशिकाः।
न दत्तं स्त्रीधनं यासां भर्त्रा वा श्वशुरेण वा।। याज्ञ०स्मृ०, २/११५

७. अधिविन्नस्त्रियै दद्यादाधिवेदनिकं समम्।
न दत्तं स्त्रीधनं यस्यै दत्ते त्वर्धं प्रकल्पयेत्।। वही, २/१४८

पिता की मृत्यु के उपरांत दाय के विभाजन में उस माता को भी पुत्रों के समान बराबर भाग प्राप्त करने का अधिकार था जिसे स्त्रीधन न मिला हो।[१] सम्पत्ति विभाजन के समय छिपाकर रखे गये धन को, ज्ञात होने पर सभी भाई परस्पर मिलकर विभाजित कर लेते थे।[२]

सम्पत्ति विभाजन को अस्वीकार करने पर विभाग का निर्णय जाति के लोगों, बन्धुओं, साक्षियों व लेख्यप्रमाणों के द्वारा होता था।[३]

द्यूत व समाह्वय

धर्मशास्त्रों में द्यूत[४] (जुआ) को चर्मखण्ड़ों, हस्तिदन्तखण्डों व पासे से खेले जानेवाला खेल कहा गया है। जिसमें धन या अन्य वस्तु की बाजी लगी रहती है।[५] प्राचीन दुर्गुणों में "द्यूत" भी एक दुर्गुण है। इसका प्रचलन वैदिककाल से ही रहा है।[६] महाभारत में (सभापर्व ५८/३१६) युधिष्ठिर के द्यूतक्रिया से विमुख न होने के प्रसंग से यह प्रकट होता है कि अच्छे व्यक्ति भी द्यूत खेलने से पथभ्रष्ट हो सकते हैं और उनमें मानसिक उद्वेग उत्पन्न हो सकता है, उनकी नैतिकता, कर्त्तव्यशीलता, प्रेम, श्रद्धा आदि अच्छी वृत्तियाँ नष्ट हो सकती हैं।[७] द्यूत की तुलना किसी भी अन्य पाप से नहीं की जा सकती है। अत्यन्त समझदार व्यक्ति की भी मति का नाश इससे हो जाता है, अच्छा व्यक्ति भी बुरा हो जाता है व अनेक प्रकार

---

१. पितुरुर्ध्वं विभजतां माताऽप्यंशं समं हरेत्।। वही, २/१२३

२. ऋणे धने च सर्वस्मिन्प्रविभक्ते यथाविधि।
पश्चाद् दश्येत यत्किचिंत्तत्सर्वं समतां नयेत्। मनु०स्मृ०, ९/२१८, याज्ञ० २,१२६

३. विभागनिह्नवे ज्ञातिबन्धुसाक्ष्यभिलेखितैः।
विभागभावना ज्ञेया गृहक्षेत्रैश्च यौतकैः।। याज्ञ०, २/१४९

४. गौतमधर्मसूत्र की मिताक्षरा टीका में द्यूत के दो प्रकार कहे गये हैं– (द्विविधां द्यूतम्) प्राण्यप्राणिभेदात्। प्राणिद्यूतं मेषयुद्धाद्यप्राणिद्यूतमक्षक्रीडादि।

५. अप्राणिभिर्यत्क्रियते तल्लोके द्यूतमुच्यते।
प्राणिभिः क्रियते यस्तु स विज्ञेयः समाह्वयः।। मनु०स्मृ०, ९/२२३
द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्।। याज्ञ०स्मृ०, २/२०३
अक्षबध्रशलाकाद्यैर्देवनं जिह्मकारितम्। नारदस्मृति, धूतसमाह्वय, १
सभाया मध्येऽधिदेवनमुद्धत्याऽवोक्ष्याऽक्षान्निवपेद्युग्मान् वैभीतकान् यथार्थान्।
२/२५/१२ कौ०अ०, ३/२०

६. ऋग्, १०/३४/१०-११, १/४। / ९, ७/८६/६ अथर्व० ४/१६/५, ४/३८

७. आहूतोऽयं न निवर्ते कदाचिन्तदाहितं शाश्वतं वैव्रतं मे। सभापर्व, ५८/१६

के व्यसन उत्पन्न हो जाते हैं।[१] मनु ने द्यूत को निन्दनीय व पतित कर्म माना है।[२] उन्होंने इसे राजा द्वारा वर्जित करने को कहा है, क्योंकि इससे राज्य का नाश होता है। उन्होंने इसे चोरी की संज्ञा दी है तथा जुआरी के लिए सर्वनाश का दण्ड व राज्य निष्कासन के दण्ड की व्यवस्था की है।[३] मनु के अनुसार द्यूत से वैमनस्य उत्पन्न होता है अतः कभी आनन्द के लिए भी जुआ नहीं खेलना चाहिए।[४] याज्ञवल्क्य एवं कौटिल्य के अनुसार राज्य के संरक्षण में किसी सुनिश्चित स्थल या केन्द्र स्थान में द्यूत खेलने की राजकीय छूट थी क्योंकि इससे चोर और कंटकों का भी पता लग जाता है।[५] कात्यायन ने मनु के वचनों को मानकर जुए को वर्जित किया है। तथापि वे राज्य संरक्षण में इसके खेले जाने का उल्लेख भी करते है। (कात्यायन, ९३४ काणे अनु०)

द्यूत क्रीड़ा में द्यूत खिलानेवाले को "सभिक" तथा बाजी के धन को पण या ग्लह कहा जाता है।[६] कौटिल्य ने "सभिक" के स्थान पर द्यूताध्यक्ष धन के लिए "द्रव्य" शब्द का प्रयोग किया है। (कौ०अ०, ३/२० वार्ता १ व १३) लेकिन नारद के अनुसार सभिक द्वारा न खिलाये जाने पर यदि खेलनेवाला बाजी का भाग राजा को देकर कहीं अन्य स्थान पर भी द्यूत खेलता है तब भी उसे दण्ड नहीं मिलता है।[७] जुए के खेल में सभिक को विजयी से ५ प्रतिशत तथा हारनेवाले से १० प्रतिशत मिलता था।[८] लेकिन नारद ने सभिक के लिए १० प्रतिशत निर्धारित

---

१. अक्षद्यूतं महाप्राज्ञ सत्तां मतिविनाशनम्।
असतां तत्र जायन्ते भेदाश्च व्यसनानि च। उद्योगपर्व, १२८/६।
द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम्। बृहस्पति, उद्धृत स्मृ०, चन्द्रिका २,३३१

२. द्यूतं समाह्वयं चैव राजा राष्ट्रान्निवारयेत्।
राजान्तकरणावेतौ द्वौ दोषौ पृथिवीक्षिताम्।। मनु०, ९/२२१
तयोनित्यं प्रतीघाते नृपतिर्यत्नवान्भवेत्। वहि, २२२ द्रष्टव्य, द्यूतं वर्जयेत् (गौ०ध०सू० १/२/२३ पर मिताक्षरा)

३. द्यूतं समाह्वयं चैव यः कुर्यात्कारयेत वा
तान्सर्वान्घातयेद्राजा शूद्रांश्च द्विजलिङ्गिनः।। वही० २२४ व २२५

४. द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं महत्।
यस्माद्दयूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान्, वही, २२७

५. द्यूतमेकमुखं कार्यं तस्करज्ञानकारणात्। याज्ञ०स्मृ०, २/२०३ कौ०अ०, ३/२०

६. ग्लहे शतिकवृद्धेस्तु सभिकः पञ्चकं शतम्।
गृह्णीयाद् धूर्तकितवादितराद्दशकं शतम्।। याज्ञ० स्मृ०, २/१९९

७. (अथवा कितवा राज्ञे दत्तवा भागं यथोदितम्।
प्रकाश देवनं कुर्युरेवं दोषो न विद्यते।। ना०स्मृ० धूतसमाह्वय /८

८. याज्ञ० स्मृ०, २/१९९

किया है।[१] कौटिल्य ने विजयी से पाँच प्रतिशत के अतिरिक्त कौड़ी, पासे, अरल (चौकडी जिस पर पांसे खेले जाते हैं), शलाका, जल, भूमि आदि का किराया व सरकारी कर अलग से वसूलने का प्राविधान दिया है। उन्होंने इस बात की भी अनुमति प्रदान की है कि यदि जुआरी धन न दे सके तो वह अपनी वस्तुएँ बेच सकता है या गिरवी रख सकता है।[२] याज्ञवल्क्य व बृहस्पति के अनुसार सभिक को वसूले हुए धन में से ही राजा का हिस्सा देना चाहिए। उसके लिए ईमानदारी व संयम की आवश्यकता थी।[३] यदि हारने वाला विजयी को धन न दे तो सभिक की उपस्थिती में राजा को विजयी को उसका धन दिलाना चाहिए।[४]

द्यूत सम्बन्धी व्यवहारपदों में धर्मशास्त्रों ने अधिकतर अर्थदण्ड की व्यवस्था दी गयी है। धोखे व बेईमानी से जुआ खेलने पर दण्ड कुछ कठोर थे। ऐसे व्यक्ति के मस्तक पर कुत्ते के पंजे का चिह्न दाग कर राज्य निष्कासन का दण्ड दिया जाता था।[५] निश्चित स्थान से हटकर द्यूतक्रीड़ा करने पर १२ पण का दण्ड दिया जाता था। पासे व रेखा संबन्धी गड़बड़ी करने पर १२ पण का दण्ड दिया जाता था। द्यूतक्रीड़ा में छल करने पर प्रथम साहस का दण्ड दिया जाता था।[६] कपटी जुआरी के समस्त धन को छीनकर उसे चोरों के समान दण्डित किया जाता था।[७]

जुए के विवादों में एक मुख्य बात यह है कि इन विवादों में अन्य जुआरी ही साक्षी माने जाते थे।[८] बृहस्पति के अनुसार यदि विवाद के दोनों पक्ष एक दूसरे के शत्रु है तो उसका निर्णय राजा को करना चाहिए।[९]

समाह्वय

मनु के अनुसार प्राणियों (मुर्गा, तीतर, बटेर आदि पक्षियों एवं भेड़ा आदि

---

१. सभिकः कारयेद् द्यूतं देयं दद्याच्च तत दृतम्।
दशकं च शतं वृद्धिस्तस्य स्याद् द्यूतकारिणः ना०स्मृ०, द्यूतसमाहूय /२

२. जितद्रव्यादध्यक्षः पञ्चकं शतमाददीत, काकण्यक्षारलाशलाकावक्रयमुदकभूमिकर्मक्रयं च द्रव्याणामाधानं विक्रयं च कुर्यात्। कौ०अ०, ३/२०

३. स सम्यक्पालितो दद्याद्राज्ञे भागं यथाकृतम्।
जितमुद्ग्राहयेज्जेत्रे दद्यात्सत्यं वचः क्षमी। याज्ञ०स्मृ० २/२००

४. याज्ञ०स्मृ०, २/२०१

५. राज्ञा सचिह्नं निर्वास्याः कूटाक्षोपधिदेवनः। वही, २०२

६. द्यूतमेकमुरवं कार्यं तस्कराज्ञानकारणात्। याज्ञ०स्मृ० २/२०३
द्यूताध्यक्षो द्यूतमेकमुखं कारयेत्। अन्यत्र दीव्यतो द्वादशपणो दण्डः, गूढाजीविज्ञापनार्थम्। काकण्यक्षाणामन्योपधाने द्वादशपणो दण्डः। कूटकर्मणि पूर्वः साहसदण्डः जितप्रत्यादानम्। कौ० अ०, ३ /२०

७. वही

८. कितवेष्वेव तिष्ठेरन् कितवाः संशयं प्रति।।
त एव तस्य द्रष्टारस्त एव स्युस्तु साक्षिणः। ना०स्मृ०, द्यूतसमाहूय /४

९. बृहस्पति, २६/६ (जॉली अनुवाद)

को लड़ाकर, कुत्ता, घोड़ा आदि दौड़ाकर) के द्वारा बाजी लगाकर खेलना "समाह्वय" कहा गया है।[१] याज्ञवल्क्य ने इसे "प्राणिद्यूत" भी कहा है उनके अनुसार "समाह्वय" में "द्यूत" के ही सभी नियम रहते हैं।[२] इस संदर्भ में नवीन मत प्रस्तुत करते हुए कौटिल्य का कहना है कि विद्या एवं शिल्प की स्पर्धा में द्यूत एवं समाह्वय के नियम नहीं लगते।[३]

---

१. प्राणिभिः क्रियते यस्तु से विज्ञेयः समाह्वयः। मनु०स्मृ०, ९/२०३

२. एष एव विधिर्ज्ञेयः प्राणिद्यूते समाह्वये। याज्ञ०स्मृ०, २/२०३

३. तेन समाह्वयो व्याख्यातः अन्यत्र विद्याशिल्पसमाह्वयादिति। कौ०अ०, ३/२०

षष्ठ परिच्छेद

न्याय (व्यवहार) की प्रक्रिया

पिछले अध्याय में १८ प्रकार के अर्थमूल एवं हिंसामूल झगड़ों (विवादों) के विषय में चर्चा की गयी है। लेकिन इन झगड़ों को मिटाने के नियमादि एक ही प्रकार के थे। सभी प्रकार के मुकद्दमों को एक ही प्रकार की कचहरियों में सुना जाता था। आधुनिक काल की भाँति दो प्रकार की कचहरियाँ नहीं थीं। न्यायकार्य में राजा को बहुत अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता थी क्योंकि न्यायकार्य बहुत अधिक गहन होता था। बृहस्पति के अनुसार झगड़ों का निर्णय केवल शास्त्रवर्णित नियमों के आधार पर ही नहीं होना चाहिए अपितु तर्क एवं विवेक का भी स्थान होना चाहिए। व्यवहार की प्रक्रिया में व्यवहार के भिन्न-भिन्न पाद माने गये हैं क्योंकि व्यवहार द्विपाद है अथवा चतुष्पाद इस विषय में पृथक्-पृथक् मत मिलते हैं। याज्ञवल्क्य,[१] नारद[२] व बृहस्पति[३] ने व्यवहार के चार पाद अथवा चार अवस्थायें मानी हैं। किसी भी मुकद्दमें का प्रारम्भ होने पर निम्नलिखित प्रक्रिया अपनायी जाती है। सर्वप्रथम, वादी, अर्थी या अभियोक्ता अपना आवेदन प्रस्तुत करता है इसको "भाषापाद" कहा जाता है। तत्पश्चात् न्यायाधीश व प्रतिवादी के समक्ष उसका आवेदन (कथन) लिखा जाता है। इसी को "प्रतिज्ञा" भी कहा जाता है। "उत्तरपाद" नामक दूसरे पाद में प्रतिवादी, प्रत्यर्थी या अभियुक्त "प्रत्युत्तर" देता है। तृतीयपाद है– क्रियापाद। इसमें साक्षी आदि की प्रक्रिया आती है। स्वमत सिद्ध करने के लिए साक्षी या प्रमाण उपस्थित करना पड़ता है। "सिद्धिपाद" अथवा "निर्णयपाद" में न्यायाधिकारी बोलता है। इन्हीं को व्यवहार के चार पाद कहा जाता है।[४]

---

१. चतुष्पाद्व्यवहारोऽयं विवादेषूपदर्शितः। याज्ञ०, २/८

२. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्।
चतुष्पाद् व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः।। ना०स्मृ०, १/१०

३. भाषापादोत्तरपादौ क्रियापादस्तथैव च।
प्रत्याकलितपादश्च व्यवहारश्चतुष्पादः। वीरमित्रोदय व्य०प्र० में उद्धृत पृ०, ४४

४. आगमः प्रथमं कार्यो व्यवहारपदं ततः।
चिकित्सा निर्णयश्चैव दर्शनं स्याच्चतुर्विधम्। ना०स्मृ०, १/३६

भाषापाद (पूर्वपक्ष)[१]–

इस पाद में राजा धर्मासन पर स्थित होकर व लोकपालों को प्रणाम करने के पश्चात् कार्यदर्शन (व्यवहार दर्शन) प्रारम्भ करता था।[२] वाद प्रस्तुत करने से पूर्व वादी द्वारा उपस्थित होकर प्रणाम किये जाने के पश्चात् राजा या न्यायाधीश उससे पूछता था "क्या शिकायत है ? तुम्हें किसने किस प्रकार पीड़ित किया है, बिना भय के अपनी पूरी बात कहो। राजा या न्यायालय द्वारा किए गये उक्त प्रश्नों के उत्तर में वादी लिखित रूप में अपनी व्यथा प्रस्तुत करता था व विवाद के रहस्य का उद्घाटन कर सत्य की आकांक्षा करना अपना धर्म समझता था।[३] वादी द्वारा आवेदित अर्थ को धर्माधिकरण में यथावत् लकड़ी के बोर्ड आदि पर पहले लिखा जाता था और यदि उस लेख में कोई त्रुटि रह जाती थी तो उसका संशोधन कर कागज पर पक्का लेख लिखा जाता था।[४] तत्पश्चात् न्यायाधीश सभ्यों व ब्राह्मणों से विचार करता है और यदि वह न्याय के भीतर रखे जाने के योग्य समझा जाता था तभी न्यायाधीश द्वारा वाद को ग्रहण किया जाता था[५] व प्रतिवादी के आह्वान के लिए भेजा जाता था। बृहस्पति के अनुसार वाद को वर्णक्रम से देखना चाहिए।[६] नारद के अनुसार निम्नोक्त व्यक्तियों का न्यायालय में राजा को आह्वान नहीं करना चाहिए- रोग से पीड़ित, यज्ञ करने के इच्छुक, विपत्तिग्रस्त, राजकार्य में निरत, गोसेवा में नियुक्त गोपाल, किसान, शिल्पी, युद्धकार्य में संलग्न सैनिक, नाबालिग व दान करने के लिए उद्यत वृत्ती आदि।[७] जब प्रतिवादी बुला लिया जाता था तो वादी के साथ उसे न्यायाधीश के समक्ष खड़ा कर दिया जाता था तब दोनों की ओर से जमानतें होती थीं और यदि प्रत्यर्थी लगाये गये अभियोग को छिपाता था तो उसे वाद के मूल्य के समान धन राजा को देना पड़ता था और अर्थदण्ड न देकर भाग जाने की स्थिति में प्रतिवादी के जमानतदार को प्रतिवादी पर लगा अर्थदण्ड देना

---

१. राज्ञे कुर्य्यात् पूर्वमावेदनं यस्तस्य ज्ञेयः पूर्ववादो विधिज्ञैः।
वीरमित्रोदय व्य०प्र० में उद्धृत, पृ० ४५

२. धर्मासनमधिष्ठाय संवीताङ्गः समाहितः।
प्रणम्य लोकपालेभ्यः कार्यदर्शनमारभेत्।। मनु० ८/२३

३. मनु० ८/४३, ३१२, गौ०ध०सू०, २/४/२७

४. रागादीनां यदेकेन कोपितः करणं वदेत्।
तदादौ तु लिखेत् सर्वं वादिनः फलकादिषु।। ना०स्मृ०, २/१८

५. बृहस्पतिस्मृति, १/१४५-१४६ (आयंगर द्वारा सम्पादित)

६. अहं पूर्विकयायातावर्थिप्रत्यर्थिनौ तया।
वादो वर्णानुपूर्व्येण ग्राह्यः पीडामवेक्ष्य च।। बृहस्पति, वीरमित्रोदय० व्य०प्र० में उद्धृत, पृ० ४५

७. ना०स्मृ०, १/५२-५४

पड़ता था।[१] धर्मशास्त्रों में स्वामी, शत्रु, बन्दी, दण्डित व अपराधीमित्र, ब्रह्मचारी, सन्यासी, राजकीय कर्मचारी आदि को जमानतदार (प्रतिभू) बनाने का निषेध किया है।[२] वादी के द्वारा किये गये दावे के झूठा सिद्ध हो जाने पर उसे जमानतदार को झगड़े की सम्पत्ति का दूना अर्थदण्ड देना पड़ता था।[३] जमानतदार न मिलने की स्थिति में वादी या प्रतिवादी को न्यायालय के साध्यपाल की हिरासत में रहना पड़ता था और उसे साध्यपाल को उसकी प्रतिदिन की वेतन रकम देनी पड़ती थी।[४]

याज्ञवल्क्य के अनुसार प्रतिवादी के न्यायालय में उपस्थित होनेपर वादी के द्वारा दी गयी सूचना को प्रतिवादी की उपस्थिति में वर्ष, मास, पक्ष, दिन, नाम व जाति आदि के साथ लिखी जाती थी।[५] अभियोग का परीक्षण प्रारम्भ करने से पूर्व यह स्पष्ट किया जाता था कि अभियुक्त पर कोई अन्यत्र अभियोग तो नहीं चल रहा है। यदि अभियोग चल रहा होता था तो दूसरा अभियोग प्रतिवादी पर तब तक नहीं चल सकता था जब तक प्रथम अभियोग निर्णीत न हो जाय। परन्तु हिंसा कलह-साहस-व्यापार संबंधी मामलों में अभियोग चल सकता था।[६] वादी के प्रथम बार कचहरी में आनेपर केवलमात्र विवाद का विषय लिखा जाता था। प्रत्यर्थी अथवा प्रतिवादी के आने पर सभी बातें विस्तार से लिखी जाती थी।[७] इसी को पक्ष, भाषा आदि के नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। नारद ने पक्ष के स्थान पर "पूर्वपक्ष" शब्द का प्रयोग किया है।[८]

---

१. निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम्।
मिथ्याभियोगी द्विगुणमभियोगाद्धनं वहेत्।। याज्ञ०स्मृ०, २/११

२. याज्ञ०स्मृ०, २/५२-५३ से ५७, आप०ध०सू०, २/१४ गौ०ध०सू०, १२/३८

३. अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि- वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ।। ना०स्मृ०, २/२२

४. अथ चेत्प्रतिभूर्नास्ति कार्ययोग्यस्तुवाहिनः।
स रक्षितो दिनस्यान्ते दद्याद्भृत्याय वेतनम्।।
कात्यायन, याज्ञ०स्मृ०, २/१० पर मिताक्षरा में उद्धृत।

५. प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/६ वर्तमान सिविल प्रक्रिया संहिता (१९०८) का आदेश ७, नियम १ तुलना योग्य है।

६. अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्.......।
कुर्यात्प्रत्यभियोगं च कलहे साहसेषु च। याज्ञ० २/९-१०

७. आवेदनसमयोकार्यमात्रं लिखितं प्रत्यर्थिनोऽग्रतः समामासादि विशिष्टं लिख्यत इति विशेषः। भाषा "प्रतिज्ञा" पक्ष इति नार्थान्तरम्। याज्ञ०, २/६ पर मिताक्षरा

८. सुनिश्चितबलाधानस्त्वर्थी स्वार्थप्रचोदितः।
लेख्येत् पूर्वपक्षं तु कृतकार्यविनिश्चयः।। ना०स्मृ०, २/१

भाषा के दोष–

नारद ने भाषा के सात दोष बतलायें हैं– अन्यार्थ, अर्थहीन, प्रमाण-आगम से रहित, हीन, अधिक व भ्रष्ट[१] व उनकी (दोषों की) व्याख्या भी की है।[२] बृहस्पति के अनुसार गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी व स्वामी-सेवक के बीच मुकद्दमें नहीं हो सकते अर्थात् इनमें होने वाले मुकद्दमों को टाल देना चाहिए।[३] इस प्रकार के मुकद्दमों को निन्दायोग्य कहा गया है। वादी के आवेदन करने के उपरान्त यदि ऐसी संभावना हो कि प्रतिवादी कहीं भाग जायेगा तो वादी उसके (प्रतिवादी) अवरोध के लिए भी आज्ञा प्राप्त करके राजपुरुषों की सहायता से प्रतिवादी का आसेध करा सकता था। राजाज्ञा या न्यायालय द्वारा लगाये गये अवरोध को आसेध कहा जाता है।[४] नारद ने आसेध के चार प्रकार बताये हैं।[५]

स्थानासेध– निश्चित स्थान को छोड़कर अन्यत्र जाने का प्रतिरोध स्थानकृत आसेध कहलाता है। इस आसेध के कारण प्रतिवादी अपने गृह अथवा पूजामंदिर के अतिरिक्त अन्यत्र गमन नहीं कर सकता था।

प्रवासासेध– इस आसेध में प्रतिवादी पर देशान्तर जाने पर रोक लगा दी जाती थी जिससे प्रतिवादी भ्रमण के बहाने अन्यत्र भागने में सफल न हो सके।

कालकृत आसेध– निश्चित समय तक कहीं जाने का निषेध कालकृत आसेध कहलाता है।

कर्म आसेध– विशेष प्रकार के कर्मों को करने का निषेध। इस प्रकार के आसेध में प्रतिवादी को सम्पत्ति विक्रय करने अथवा भूमि जोतने से रोक दिया जाता था।

इस प्रकार आसेधों का उल्लंघन करनेवाले व्यक्ति को दण्डित किया जाता था। नारद ने आसेध करनेवाले राजपुरुष के मर्यादा का उल्लंघन करने पर उसे भी दंडनीय माना है। उन्होंने आसेध से रहित अवसरों का भी वर्णन किया है।[७] उनके अनुसार आसेध से रहित अवसरों का उल्लंघन कर्ता दण्ड का भागी होता है। नदी, संतार, जंगल, श्मशान आदि, जहाँ उपद्रव हो रहा हो, यदि विवाह करने जा रहा

---

१. अन्यार्थमर्थहीनं च प्रमाणागमवर्जितम्।
लेख्यं हीनाधिकं भ्रष्टं भाषादोषास्तूदाहृताः। वही, २/८

२. वही, २/९-१४

३. बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका २ पृ० ३७ पर उद्धृत।

४. आसेधो राजाज्ञयाऽवरोधः। याज्ञ०, २/५ पर मिताक्षरा

५. स्थानासेधः कालकृतः प्रवासात्कर्मणस्तथा।
चतुर्विधः स्यादासेधो नासिद्धस्तं विलङ्घयेत्।। ना०स्मृ०, १/४८

६. आसेधकाल आसिद्ध आसेधं यो व्यतिक्रमेत्।
स विनेयोऽन्यथा कुर्वन्नासेधा दण्डभाग् भवेत्।। वही, १/५१

हो, रोगार्त्त, यज्ञकर्म करने का उपक्रम करनेवाला, व्यसनयुक्त, मुकद्दमे में संलग्न, अथवा राजकार्य में संलग्न आदि आसेध से रहित अवसर कहे गये हैं।[१]

इस प्रकार आवेदन की सामान्य रूप से परीक्षा करने के पश्चात् प्रतिवादी को बुलाया जाता था। प्रतिवादी के उपस्थित होने पर उसके समक्ष वादी फिर से अपने आवेदन के अनुसार अभियोग लिखवाता है। यहाँ वादी अपने विवाद के विषय में पूर्व सामग्री प्रस्तुत करता है। नाम, जाति तथा समय आदि सब विस्तार से लिखे जाते हैं। घटना का पूर्ण विवरण आवेदन के अनुसार ही होना चाहिए। अर्थी अपने लेख में उत्तरपाद के प्रारम्भ होने के पूर्व तक परिवर्तन करवा सकता है।[२]

उत्तरपाद–

न्यायप्रक्रिया का दूसरा पाद है– उत्तरपाद। जब भाषापाद अन्तिम रूप पकड़ लेता है तब प्रतिवादी वादी की उपस्थिति में लिखित रूप से उत्तर देता है।[३] प्रतिवादी यदि अपनी शालीनता के कारण अथवा भय आदि के कारण उत्तर देने की अवधि माँगता है तो उसे एक दिन, तीन दिन, पाँच दिन, एक सप्ताह, पंद्रह दिन, चारमास अथवा एक वर्ष तक का समय प्रदान किया जा सकता है।[४] समय देना साधारण नियम के अन्तर्गत नहीं आता था। विवाद के विषय के गहन होने पर व ऋण आदि से सम्बन्धित होने पर ही समय दिया जाता था।[५] लेकिन साहस आदि से सम्बन्धित विवाद में तुरन्त कार्य प्रारम्भ किया जाता था।[६]

उत्तर या प्रतिपक्ष के चारपाद होते हैं– प्रथम सम्प्रतिपत्ति (भाषापाद को स्वीकार कर लेना), मिथ्या (भाषापाद को स्वीकार न करना, प्रत्यवस्कंदन (सकारण उत्तर देना), प्राङ्न्याय (पूर्वनिर्णय उपस्थित करना।) संप्रतिपत्ति में प्रतिवादी के द्वारा वादी के अभियोग को सर्वथा मान लेने पर क्रियापाद निरर्थक हो जाता है। मिथ्यानामक दूसरे प.द में प्रतिवादी अभियोग को सर्वथा अस्वीकार करता है, यहाँ

---

१. नदीसन्तारकान्तारदुर्देशोपप्लवादिषु।
आसिद्धस्तं परासेधमुत्क्रामन्नापराध्नुयात्।। ना०स्मृ०, १/४९

२. शोधयेत् पूर्ववादं तु यावन्नोत्तरदर्शनम्।
अवष्टब्धस्योत्तरेण निवृत्तं शोधनम् भवेत्।। वही,

३. श्रुतार्थस्योत्तरं लेख्यं पूर्वावेदकसंनिधौ।
ततोऽर्थी लेखयेत् सद्यः प्रतिज्ञातार्थसाधनम्।। याज्ञ०, २/७

४. संवत्सरप्रतीक्षेताप्रतिभायाम्। गौ०ध०सू०, २.४.२८।

५. गहनत्वाद् विवादानामसामर्थ्यात् स्मृतेरपि।
ऋणादिषु हरेत् कालं कामं तत्त्वबुभुत्सया।। ना०स्मृ०, १/४४

६. साहसस्तेयपारुष्यगोभिशापात्यये स्त्रियाम्।
विवादयेत्सद्य एव कालोऽन्यत्रेच्छया स्मृतः।। याज्ञ०, २/१२

प्रमाण देने का भार अर्थी पर रहता है। अर्थी को ही प्रतिवादी के उत्तर को मिथ्या सिद्ध करना पड़ता है। "प्रत्यवस्कंदन" नामक तृतीय प्रकार में प्रतिवादी यह मानता है कि उसने ऋण लिया है परन्तु उसे वापिस कर दिया है। यहाँ प्रमाण देने का भार प्रतिवादी पर रहता है। उसने ऋण किस प्रकार अदा कर दिया है। उसे यह सिद्ध करना पड़ेगा। "प्राङ्न्याय" नामक चतुर्थ पाद में प्रतिवादी यह उत्तर देता है कि वादी इसी न्यायालय में हार चुका है। यहाँ भी प्रतिवादी को ही प्रमाण देना पड़ता है, व अपने कथन की पुष्टि में जयपत्र उपस्थित करना पड़ता है।

उपर्युक्त चार पादों में प्रथम पाद (संप्रतिपत्ति) में तत्काल निर्णय हो जाने से अन्यपाद स्थगित हो जाते हैं। उत्तर के अन्य तीन पाद विधि की दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। इन्हीं के आधार पर व्यवहार के क्रिया पाद की क्रियायें प्रारम्भ होती है। भारतीय न्यायपद्धति में प्रायः प्रमाण देने का भार एक ही पक्ष पर रहता था तथा उसका निर्णय उत्तर के विभिन्न पदों से ही किया जाता था। परन्तु कुछ ऐसी भी अवस्थायें थीं जिनमें वादी तथा प्रतिवादी दोनों पर समान रूप से प्रमाण देने का भार रहता था। उदाहरणार्थ प्रतिवादी अनाज आदि ऋण लेना तो स्वीकार करता है परन्तु दस मन के स्थान पर पाँच मन कहता है इस स्थिति में वादी तथा प्रतिवादी दोनों को ही अपने-अपने पक्ष में प्रमाण देना पड़ता था।

बृहस्पति के अनुसार असंतुलित मस्तिष्कवाले, नशे में पड़े व्यक्ति, संबन्धियों या मित्रों द्वारा त्यागे हुए, भारी अपराध से आरोपित, मूर्ख, समाजच्युत, अवयस्क आदि प्रतिवादियों को उत्तर देने योग्य नहीं समझा जाता था।[१] प्रतिवादी के मूल विषय से भिन्न अति संक्षिप्त अथवा अतिविस्तृत, वाद-पत्र की बातों से भिन्न, ऊटपटांग या अर्थहीन उत्तर को नहीं लिखा जाता था।[२] प्रतिवादी द्वारा दावे को स्वीकार कर लेना भी लिखा जाता था। यदि प्रतिवादी दावे को इंकार करता था तो उसे उसका कारण भी बताना पड़ता था। जिसको लिपिबद्ध कर लिया जाता था। दण्ड के भय से किया गया इंकार स्वीकार्य नहीं था व झूठा उत्तर प्रतिवादी की हार का कारण होता था।[३]

कौटिल्य के अनुसार वादी व प्रतिवादी के लघु व दीर्घ प्रश्न व उत्तर को कागज पर लिखा जाता था। दोनों के कथनों को मिलाकर उनका न्यायिक परीक्षण किया जाता था। यदि वादी-प्रतिवादी में से किसी एक की उक्ति-प्रत्युक्ति में विरोध

---

१. उन्मत्तमत्तनिरधूता महापातकदूषिताः
जढापविधबालाः क विध्नेयास् ते निरूत्तराः। बृहस्पति, ४/७-८ जॉली अनुवाद

२. प्रस्तुतान्यं क मध्यस्थम् न्यूनाधिकम् असंगतम्।
अव्याप्यसारम् संदिग्धम् प्रतिपक्षम् न लेख्येत्। वही, ४/८

३. बृहस्पति, ४/९-११ (जॉली अनुवाद)

दिखाई देता था या दोषारोपण का कारण उपस्थित हो जाय, या दोनों में से कोई एक राजकीय अधिकारी के हाथ से छूट कर भाग जाता था तो न्यायाधीश न्याय की एक तरफा घोषणा कर देता था। भागनेवाले को गुप्तचर खोजा करते थे।[१] मिथ्या कथन करनेवाले, न्यायाधीश के प्रश्न का उत्तर न देने, साक्षियों से पृथक्-पृथक् एकान्त में बात करने, अपने कथन पर स्थिर न रहनेवाले, न्यायाधीश द्वारा आदेश देने पर भी न बोलने, साक्षी न प्रस्तुत करने, प्रतिवादी के सम्मुख न बोलने के कारण वादी व प्रतिवादी को स्वयं पराजित मान लिया जाता था।[२]

याज्ञवल्क्य के अनुसार अर्थी द्वारा लगाये गये अभियोग को छिपाने पर या अस्वीकार करने पर प्रत्यर्थी को उस वाद के मूल्य के समान धन राजा को दण्ड स्वरूप देना पड़ता था और झूठा अभियोग चलाने पर अभियोग के मूल्य का दुगुना धन अपराधी को देना पड़ता था।[३]

क्रियापाद (प्रमाणों से वाद की परिसिद्धि)

न्यायप्रक्रिया का अत्यन्तमहत्त्वपूर्ण पाद है– क्रियापाद। इसी पाद पर न्यायकार्य आधारित रहता है। वादी के द्वारा प्रतिज्ञात व प्रतिवादी के द्वारा प्रत्याख्यात विषय (विवाद के विषय) की सत्यता का निश्चय प्रमाणों के आधार पर ही होता है। दोनों ही अपने-अपने मत की पुष्टि में प्रमाण उपस्थित करते हैं क्योंकि न्याय प्रमाणों के आधार पर ही चलता था। धर्मशास्त्रों में प्रमाणों का विशेष वर्णन व नियम प्राप्त होते हैं। मिताक्षरा में सर्वप्रथम प्रमाण दो प्रकार के माने गये हैं– मानुषी व दैविक। इनमें से मानुषी प्रमाण को तीन प्रकार का कहा गया है– (१) लिखित प्रमाण (२) भुक्ति तथा (३) साक्षी।[४] इन तीन प्रमाणों से न्यायकार्य न हो पाने की स्थिति में ही दिव्यप्रमाण का आधार लिया जाता था[५]। कात्यायन के अनुसार मानुषी प्रमाणों को ही ग्रहण किया जाना चाहिए।[६] प्रमाणों में मौखिक प्रमाण अल्पकालीन,

---

१. पूर्वोत्तरार्ध व्याघातेसाक्षिवक्त व्यकारणे। चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः। अर्थ०शा०, ३/१/१०

२. मनु०, ८/५३-५८

३. निह्नवे भावितो दद्याद्धनं राज्ञे च तत्समम्।
मिथ्याभियोगी द्विगुणमाभियोगाद्धनं वहेत्।। याज्ञ०, २/११

४. तच्च द्विविधं-मानुषं दैविकं चेति। तत्र मानुषं प्रमाणं त्रिविधं लिखितं, भुक्तिः साक्षिणश्चेति। याज्ञ०, २/२२पर मिताक्षरा।

५. प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते। याज्ञ०, २/२२, अपिच,
लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।। ना०स्मृ० ४/६९

६. यद्येको मानुषीं ब्रूयादन्यो ब्रूयास्तु दैविकीम्। मानुषीं तत्र गृहणीयात् न तु दैवीं क्रियां नृपः।

भ्रान्तिपूर्ण एवं अनिश्चित होते हैं अतएव स्मृतिकारों ने सुदृढ़ न्याय के लिए लिखित प्रमाणों को ही सबल, स्थिर एवं तथ्यपूर्ण स्वीकार किया है।

लिखित प्रमाण– वाद की परिसिद्धि में लिखित प्रमाण को सबसे महत्त्व का माना गया है। शुक्र के अनुसार "क्योंकि बहुत समय बीतने पर मनुष्यों के लिए विस्मृति या भ्रम हो जाना स्वाभाविक है। लेख से बढ़कर कोई दूसरा स्मरणसूचक चिह्न न होने के कारण बुद्धिमान व्यक्ति को सदैव लेख द्वारा ही व्यवहार (किसी प्रकार का लेन-देन) करना चाहिए।[१] नारद के अनुसार चक्षुस्वरूप लिखित प्रमाण के न होने पर संसार की शुभ गति नहीं होती।[२] लेख प्रत्येक स्थिति में प्रमाणित होता था व बलवान था क्योंकि साक्ष्य की प्रामाणिकता साक्षी के जीवित रहने तक ही सीमित थी व भुक्ति के लिए विधिक प्रमाण आवश्यक था।[३] अतएव धर्मशास्त्रों में सुदृढ़ न्याय के लिए लिखित प्रमाणों को ही सबल, स्थिर एवं तथ्यपूर्ण स्वीकार किया था।

नारद व याज्ञवल्क्य ने लिखित प्रमाण को दो प्रकार का माना है।[४] ऋणी तथा ऋणदाता द्वारा अपने हाथ से लिखित लेख व द्वितीय किसी लेखक (अन्य) के द्वारा लिखित लेख। प्रथम प्रकार के लेख (स्वहस्तलिखित) प्रमाणों में साक्षी की आवश्यकता नहीं होती थी। परन्तु परहस्तलिखित प्रमाणों में साक्षी की आवश्यकता रहती थी। बृहस्पति के अनुसार लिखित प्रमाण तीन प्रकार के होते हैं– प्रथम राजकीय लेखप्रमाण (राजा के द्वारा लिखा गया) द्वितीय- स्थानकृत लेख प्रमाण (किसी विशेष स्थान पर लिखा गया) तथा तृतीय स्वहस्त लिखित प्रमाण (व्यक्ति द्वारा स्वयं लिखा गया)[५] उपर्युक्त भेदों के भी अनेक उपभेद देखने को मिलते हैं। मिताक्षरा ने याज्ञवल्क्य के आधार पर लेख प्रमाण को शासन (राजकीय लेख) व चिरक (जनपदीय लेख) दो भागों में रख कर परीक्षण किया है।[६] "शासन"

---

१. शुक्रनीति, २/२९८ व ३/१८९-१९०

२. नाकरिष्यद्यदा स्रष्टा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः। ना०स्मृ०, ४/७०

३. लिखितं बलवन्नित्यं जीवन्तश्चैव साक्षिणः।
कालातिहरणाद्भुक्तिरिति शास्त्रविनिश्चयः। वही, ७५

४. लेख्यं तु द्विविधं ज्ञेयं स्वहस्तान्यकृतं तथा।
असाक्षिमत्साक्षिमच्च सिद्धिर्देशस्थितेस्तयोः।। ना०स्मृ०, ४/१३५
तत्रलेख्यं द्विविधं शासनम् जानपदम् चेति --- याज्ञ०, २/८४ पर मिताक्षरा।

५. राजलेख्यं स्थानकृतंस्वहस्तलिखितं तथा।
लेख्यं तु त्रिविधं प्रोक्तं भिन्नं तद् बहुधा पुनः।
बृहस्पतिस्मृति, वीर० मित्रोदय, व्य०प्र०पृ०, १४१ पर उद्धृत

६. याज्ञ०, २/५४ पर मिताक्षरा।

याज्ञवल्क्य (१/३१८- ३२०) द्वारा वर्णित राजकीय ही है तथा "चिरक" जानपद के समान है। विष्णु स्मृति में भी लेख तीन प्रकार के बताये गये हैं– १) राजा द्वारा प्रमाणित, साक्षी द्वारा प्रमाणित व अप्रमाणित। "राजा द्वारा प्रमाणित" का तात्पर्य था कि राजा की आज्ञा से राजकीय लिपिक द्वारा लिखा गया व मुख्य न्यायाधीश द्वारा स्वयं हस्ताक्षर किया गया। "अप्रमाणित लेख" से तात्पर्य था पक्षकार द्वारा स्वयं लिखा गया परन्तु जिस पर किसी साक्षी के हस्ताक्षर न हो[१] राजकीय लेख प्रमाणों के मुख्यतः तीन प्रकार माने गये थे–

१. शासन- राजकीय भूमि से सम्बन्धित लेखप्रमाण

२. जयपत्र- (किसी मुकद्दमें की जीत का फैसला

३. प्रसाद पत्र (वीरता, स्वामीभक्ति व श्रेष्ठकृत्यों पर राजा द्वारा प्राप्त पुरस्कारपत्र का लेख प्रमाण। वसिष्ठ ने राजकीय लेख प्रमाणों को चार भागों में विभाजित किया है– १. शासन २. जयपत्र ३. आज्ञापत्र (सामन्तों तथा अन्य कर्मचारियों को दी गयी आज्ञाएँ) तथा प्रज्ञापनापत्र (धार्मिक कृत्यों के लिए पुरोहित, गुरु, वेदज्ञों, ब्राह्मणों तथा अन्य श्रद्धास्पद व्यक्तियों के लिए लिखे प्रार्थनापत्र।)[२] कौटिल्य अर्थशास्त्र में कई प्रकार की राजाज्ञाओं का उल्लेख मिलता हैं यथा- प्रज्ञापना, आज्ञा, परिदान, परीहार, विसृष्टि, प्रावृत्तिक, प्रतिलेख व सर्वत्रग[३]।

निजी तौर से लिखा गया प्रमाणपत्र जानपद लेख होता है। इसको प्राइवेट लेख कहा जा सकता है। व्यवहारमयूख (पृ० २४) के मत से लौकिक एवं जानपद पर्यायवाची हैं। मिताक्षरा के अनुसार (जानपद) साधारण जनता द्वारा प्रस्तुत लेखप्रमाण जनभाषा या स्थानीय भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है।[४] जानपदलेख कई प्रकार के होते हैं। बृहस्पति के अनुसार[५] सात व व्यास[६] के अनुसार आठ प्रकार माने गये हैं। स्मृतिचन्द्रिका के अनुसार इसके अन्यभेद भी संभव हैं। संक्षिप्त विवरण निम्नोक्त प्रकार से है–

---

१. अथ लेख्यं त्रिविधम् राजसाक्षिकं ससाक्षिकमसाक्षिकं च ..... स्वहस्तलिखितमसाक्षिकम्।
विष्णु स्मृति ७/१-५

२. शासनं प्रथमं ज्ञेयं जयपत्रं तथाऽपरम्।
आज्ञाप्रज्ञापनापत्रं राजकीयं चतुर्विधम्।। वसि०स्मृ०च०, पृ०१२५ पर उद्धृत

३. प्रज्ञापनाज्ञापरिदानलेखास्तथा परीहारनिसृष्टिलेखौ।
प्रावृतिकश्च प्रति लेख एव सर्वत्रगश्चेति हि शासनानि। कौ०अ०, २/४

४. याज्ञ०, २, लेख्यप्रकरण

५. भागदानक्रयाधानसंविद्दासऋणादिभिः।
सप्तधा लौकिकं लेख्यं त्रिविधं राजशासनम्।। बृहस्पति, स्मृ०च०, पृ० १३६ में उद्धृत।

६. चिरकं च स्वहस्तं च तथोपगतसंज्ञितम्।
आधिपत्रं चतुर्थं च पंचमं क्रयपत्रकं।।
षष्ठंतु स्थितिपत्राख्यं सप्तमं संधिपत्रकम्।। विशुद्धिपत्रकं चैवमष्टधालौकिकं स्मृतम्।।
व्यास, स्मृ०च०पृ०, १३५ पर उद्धृत

१.	भाग या विभागपत्र	(बँटवारे का लेखप्रमाण)
२.	दानपत्र	(दान की सम्पत्ति का पत्र)
३.	क्रयपत्र	(सम्पत्ति क्रय करने का पत्र)
४.	आधानपत्र	(बंधक पत्र)
५.	स्थितिपत्र या संवित्पत्र	(किसी ग्राम आदि के सदस्यों द्वारा निर्णीत परम्पराओं का लेखप्रमाण)
६.	दासपत्र	(भोजन-वस्त्र के अभाव से गुलाम करने का लेखप्रमाण)
७.	ऋणलेख	(ऋण लौटा देने सम्बन्धी लेखपत्र)
८.	सीमापत्र	(सीमा निर्धारण सम्बन्धी लेखपत्र)
९.	विशुद्धिपत्र	(शुद्धि उपरान्त साक्षियों के साथ लिखा गया पत्र)
१०.	सन्धिपत्र	(वादी-प्रतिवादी के मध्य परस्पर समझौते का लेख)
११.	उपगतपत्र[१]	(ऋण दे देने पर मिली रसीद)
१२.	अन्वाधिपत्र	(बंधक रखने वाले की ओर से लिखा पत्र)

जानपद लेख दो प्रकार का था- १. चिरक २. चिरकहीन।

चिरकाल तक चलने के कारण इसे चिरक कहा जाता था। यह वह प्रमाणपत्र है जो परम्परागत लिपिकों के द्वारा लिखे जाते थे। ये लिपिक राजधानी में रहते थे। दोनों पक्षों, उनकी साक्षियों व उनके पिताओं के हस्ताक्षर इस पर होते थे।[२] "चिरकीहीन" प्रमाण वो प्रमाणपत्र थे जो परम्परागत लिपिकों के द्वारा नहीं लिखे जाते थे।

याज्ञवल्क्य ने लेख को छल, लोभ व बल के बिना लिखे जाने का विधान किया है। उनके अनुसार यदि लेख व्यक्ति ने स्वयं लिखा हो तो वह लेख साक्षियों के हस्ताक्षर के बिना भी प्रामाणिक माना जाता था।[३] किन्तु नारद के अनुसार मद्यपान-कर्ता, अपराधी, स्त्री व बालक, रुग्ण व पागल के द्वारा लिखा तथा बलपूर्वक

---

१. लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्वा दत्वर्णिको धनम्।
धनी वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम्।। याज्ञ०, २/९३

२. चिरकं नाम लिखितं पुराणैः पौरलेखकैः।
अर्थिप्रत्यर्थिनिर्दिष्टैः यथासंभवसंस्तुतैः।।
स्वकीयैः पितृनामाद्यैरर्थिप्रत्यर्थिसाक्षिणाम्।
प्रतिनामभिराक्रान्तमर्थिसाक्षिस्वहस्तवत्।
स्पष्टावगमसंयुक्तं यथास्मृत्युक्तलक्षणम्। संङग्रकार, स्मृ० च० २, पृ० १३५ पर उद्धृत

३. विनापि साक्षिभिर्लेख्यं स्वहस्तलिखितं तु यत्।
तत्प्रणामं स्मृतं सर्वं बलोपाधिकृतादृते।। याज्ञ०, २/८९

धोखे से लिखवाया गया लेख प्रामाणिक नहीं माना जाता था।[१] बृहस्पति ने उपर्युक्त मत का अपवाद प्रस्तुत किया है कि उन्मत्त, जड़, बालक व प्रवासी आदि का लेख हानि को प्राप्त नहीं होता है।[२] अपिच, कभी देखा या न सुना गया लेख यदि प्रस्तुत किया जाता था तो उसे साक्षियों की उपस्थिति में भी मान्य नहीं माना जाता था।[३] लेख के उपस्थित होने पर अन्य साक्ष्यों को गौण माना जाता था लेकिन यदि किसी कारणवश लेख खो जाता था तब निर्णय के लिए अन्य प्रमाणों को आधार बनाया जाता था।[४] ऋणादि के ग्रहण करते समय लेख के पूर्ण हो जाने पर साक्षी, ऋणदाता तथा लेखक अपने हस्ताक्षर करते हैं। हस्ताक्षर के साथ वे उसमें इतना वृत्तान्त लिखते हैं जिससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाए कि कौन कौन है तथा किस-किस दिन क्या हुआ ? अर्थात् अपने वंश, गोत्र तथा स्थान के नाम के अतिरिक्त कार्य किये जाने की तिथि, मास, वर्ष आदि का स्पष्ट उल्लेख किया जाता था।[५] लेखक को भी इसी प्रकार से अपना वृत्तान्त लिखना पड़ता था। पूर्ण लेख को अन्य प्रमाण (शपथ, साक्षी, दिव्य) अप्रमाणिक सिद्ध नहीं कर सकते थे। लेकिन यदि इस प्रकार लिखा हुआ लेख किसी कारण से नष्ट हो जाता है अथवा खो जाता है तो दूसरा लेख लिखना चाहिए।[६] ऋण आदि के चुका दिए जाने पर उक्त लेख के ही पृष्ठ पर लिखना चाहिए कि ऋण चुका दिया गया है।[७] लेख के नष्ट हो जाने की स्थिति में ऐसे व्यक्तियों के साक्ष्य पर निर्णय दे दिए जाने का नियम था

---

१. मत्ताभियुक्तस्त्रीबालबलात्कारकृतं च यत्।
तदप्रमाणं लिखितं भयोपधिकृतं तथा। ना०स्मृ०, ४/१३७

२. उन्मत्तजडबलानां राजभीतिप्रवासिनाम्।
अप्रगल्भभयार्त्तानां न लेख्यं हानिमाप्नुयात्।। बृहस्पति, स्मृ०चं० २, १५२ व वीर, मि०, व्य०प्र०पृ० १४८ में उद्धृत

३. अदृष्टार्थमश्रुतार्थं व्यवहारार्थमागतम्।
न लेख्यं सिद्धिमाप्नोति जीवत्स्वपि हि साक्षिषु। ना०स्मृ०, ४/१४१

४. कात्यायन, २२४ (काणे

५. देशाचाराविरुद्धं यद् व्यक्तावधिविलक्षणम्।
तत्प्रमाणं स्मृतं लेख्यमविलुप्तं क्रमाक्षरम्।। ना०स्मृ० ४, १३६
देशाचारविरुद्धव्यक्ताधिलक्षणमनलुप्तक्रमाक्षरं प्रमाणम्। वि०ध०सू०, ७/११ अपिच, ना०स्मृ०, ४/१४५

६. देशान्तरस्थे दुर्लेख्ये नष्टोन्मृष्टे हृते तथा।
भिन्ने दग्धेऽथवा छिन्ने लेख्यमन्यत्तु कारयेत्।। याज्ञ०, २/९१
अपिच, छिन्नभिन्नहृतोन्मृष्टनष्टदुर्लिखितेषु च।
कर्त्तव्यमन्यल्लेख्यं स्यादेष लेख्यविधिः स्मृतः। ना०स्मृ० ४/१४६

७. लेख्यस्य पृष्ठेऽभिलिखेद्दत्त्वा दत्त्वर्णिको धनम्।
धनी वोपगतं दद्यात्स्वहस्तपरिचिह्नितम्।। याज्ञ०स्मृ०, २/९३

जिन्होंने उस लेख को स्वयं देखा हो। नारद व विष्णु ने संदेहास्पद लेख की, हस्तलिपि के भली प्रकार अध्ययन द्वारा व पारिस्थितिक साक्ष्यों द्वारा अथवा विवाद की अन्य संभावनाओं द्वारा, जाँच को आवश्यक बताया है।[१] जाली दस्तावेज प्रस्तुत करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था थी।[२] लेख की प्रामाणिकता के विषय में धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि देशाचार के विरुद्ध न होने वाला, नियमानुकूल लिखित, संदेहहीन व अर्थयुक्त शब्दों से पूर्ण लेख ही प्रमाण होता है। स्मृतिचन्द्रिका[३] के अनुसार लेख को पंचारूढ़ होना चाहिए अर्थात् उस पर ऋणी, ऋणदाता, दो साक्षियों एवं लिपिक के हस्ताक्षर हों। सामान्यतः दो साक्षियों का होना आवश्यक माना गया है परन्तु अतिमहत्त्वपूर्ण लेखप्रमाणों पर दो से अधिक साक्षियों के हस्ताक्षर होने चाहिए।

साक्षी—

धर्मशास्त्रों में न्याय की सिद्धी में साक्षी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है। साक्षी उसी को कहा जाता है— जिसने साक्षात् देखा है अर्थात् इंद्रियों- आँख, कान आदि से उस विषय का अनुभव किया है (साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्। पाणिनि, ५/२/९१) यथा ऋणादान प्रकरण में जिसने नेत्रों से ऋण लेने व देने के व्यवहार को देखा है अथवा वाक्पारुष्य के प्रकरण में अपने कानों से प्रतिवादी को गाली-गलौच करते हुए सुना है। जिसने स्वयं अनुभव नहीं किया है उसका कथन न तो पूरा प्रमाण ही माना जायेगा और न ही यथार्थ में वह साक्षी ही कहला सकता है। सुनने वाले की अपेक्षा देखने वालों को ही प्रमाण माना जाता है। इसका महत्त्व वैदिक काल से चला आ रहा है। शतपथ ब्राह्मण में सत्य को ही नेत्र कहा गया है।[४] चक्षुसत्य है इसलिए यदि दो व्यक्ति किसी बात के सत्य-असत्य पर विवाद करते हुए आते हैं और एक ने देखा हो व एक ने सुना हो तो देखनेवाले की बात पर ही विश्वास किया जाता है।[५] विवाद की स्थिति में संदेह एवं विरोध उत्पन्न होने

---

१. याज्ञ०स्मृ०, २/९२, ना०स्मृ०, ४/१४३, विष्णु, ७/१२

२. याज्ञ० २/२९

३. एवंचान्यकृतलेख्यस्योत्तमर्णाधमर्णसाक्षिद्वयलेखकरूपपञ्चपुरुषारूढत्वात् पञ्चारूढं पत्रमिति लोके व्यवहारः। स्मृ०च०, २, पृ० १३४

४. सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुस्तस्माद् यदिदानीं
यो विवदमानावेदयताम्-अहमदर्शम् अहमश्रौषम्।
य एव ब्रूयाद अहम् अदर्शम् इति, तूष्णीम् एवं श्रद्धध्याम। इति।
प्रख्यातकुलशीलाश्च लोभमोहविवर्जिताः।
आप्ताः शुद्धाः विशिष्टा ये तेषां साक्ष्यमसंशयम्। का०स्मृ० सारोद्धार, ३४७

५. आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत्। मनु०स्मृ०, ८/६३

पर सत्य का पता साक्षी द्वारा ही संभव होता है।[१] अतः स्पष्ट है कि साक्षी वही हो सकता था जिसने स्वयं देखा या सुना हो एवं जो किसी अन्य से सुनकर साक्ष्य न दे।[२] कहीं कहीं पर यह अपवाद भी मिलता है कि साक्षी की मृत्यु हो जाने पर, विदेश गमन करने पर अथवा असाध्य रूप से रोगी होने पर वह व्याक्ति साक्षी बन सकता था जिसने उक्त साक्षियों से विवाद के सम्बन्ध में सुना हो, लेकिन उसके साक्षी देते समय तीन वेदज्ञ ब्राह्मणों का उपस्थित रहना अनिवार्य होता था।[३]

साक्षी के अभाव में न्यायपरीक्षण की प्रक्रिया तब तक के लिए रोक दी जाती थी जब तक योग्य साक्षी नहीं मिलता था। साक्षी के न्यायालय में उपस्थित होनेपर उसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में परीक्षण होता था। परीक्षण के पश्चात् साक्षी के सम्बन्ध में सभ्यों द्वारा आश्वस्त हो जाने पर साक्षी के कथनों को सुनकर निर्णय किया जाता था। साक्षियों से प्रश्न पूछे जाते थे व उनसे तर्क-वितर्क किया जाता था।[४] साक्षी के अभाव में अभियोग की वास्तविकता का अनुसंधान गुप्तचर विभाग द्वारा कराया जाता था।[५]

साक्षी के गुण– साक्षी के सम्बन्ध में साधारण नियम इस प्रकार मिलते हैं गृहस्थ, पुत्रवान, कुलपरम्परा से वहाँ निवास करने वाले, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र साक्षी हो सकते हैं।[६] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इस श्लोक में ब्राह्मण को साक्षी नहीं माना गया है लेकिन इसका कारण यह नहीं है कि ब्राह्मण में साक्षी होने की योग्यता का अभाव समझा गया था। ब्राह्मण का व्यवसाय उस समय अत्यन्त महत्त्व का माना जाता था। अतः साक्ष्य के लिए राजा की न्यायसभा में जाने से उसके मुख्य तथा आवश्यक कार्यों में बाधा उपस्थित होने के कारण ही उसका परिगणन नहीं किया गया है। यह साधारण नियम है। इसके अगले ही श्लोक में यह निर्देश दिया गया है कि सब वर्णों में आप्तों (रागद्वेष से रहित होकर निष्पक्ष बोलनेवाले) को, सब धर्मों के ज्ञाता, निर्लोभी को सब कार्यों में साक्षी बनाना चाहिए, इसके

---

१. समक्षदर्शनात्साक्ष्यं श्रवणाच्चैव सिद्धयति
तत्र सत्यं ब्रुवन्साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते। मनु० स्मृ०, ८७४ ना०स्मृ०, ४/१४७, १४८,
एवं वृतो राजोभौ लोकावभिजयति।। आ०ध०स०, २/११/३,
विप्रतिपत्तौसाक्षिनिमितासत्य व्यवस्था, गौ०ध०सू०, २/४/१

२. मनु० ८/७४-७६, तुलना कीजिए– भारतीय साक्ष्य अधिनियम (१८७२) की धारा।

३. अशक्यआगमो यत्र विदेशप्रतिवासिनाम्।
त्रैविद्यप्रहितं तत्र लेख्यं साक्ष्यं प्रवादयेत्। का०स्मृ०सारोद्धार, ३५२ पृ० ४६, वि०ध०सू०, ८/२

४. सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यते। आ०ध०सू०, २/११/३,
सर्वेधर्मेभ्योगरीयः प्राडविवाकेसत्यवचनं सत्यवचनम्। गौ०ध०सू०, २/४/३१

५. महा० शान्तिपर्व, ८५/१९

६. गृहिणः पुत्रिणो मौलाः क्षत्रविट्शूद्रयोनयः।
अर्थ्युक्ताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि।। मनु०, ८/६२

प्रतिकूल (रागद्वैष पूर्वक पक्षपात से बोलनेवाले) धर्मज्ञानशून्य व लोभी) को छोड़ देना चाहिए।[१] यहाँ सब वर्णों में ब्राह्मण भी आ जाता है। इसके अतिरिक्त नारद चारों वर्णों में अनिंदित, योग्य व शुद्धबुद्धि को साक्षी बनाने का उल्लेख करते हैं।[२] साक्षी की योग्यता के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य का भी प्रायः यही मत है। उन्होंने ब्राह्मणादि वर्ण एवं मूर्धाभिषिक्त आदि जातियों के अनुसार सबका सबके लिए साक्षी बनना स्वीकार किया है।[३] मनु एवं याज्ञवल्क्य की अपेक्षा नारद में इस विषय में अधिक विस्तार मिलता है। उनके अनुसार श्रेणी (व्यापारीवर्ग) आदि के विवाद में श्रेणी पुरुषों को तथा विशेष विवाद में उसी वर्ग का साक्षी होना चाहिए, बाहर रहनेवालों के विवाद में बाहर रहनेवालों को ही साक्षी समझना चाहिए, इसी प्रकार स्त्रियों में स्त्रियों को ही साक्षी समझना चाहिए।[४] लेकिन यदि साक्षियों की उक्त सूची से साक्षी उपलब्ध नहीं हो सकते हों तो ऐसे व्यक्ति भी साक्षी बनाये जा सकते हैं जो कि साक्षी पद के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिये गये हैं।

साक्षी पद के लिए कुछ अयोग्यताएँ भी निश्चित की गई थीं जिनमें निम्नलिखित अयोग्यतायें विद्यमान रहती थीं वे साक्षी पद के लिए योग्य नहीं समझे जाते थे। परस्पर लेन-देन का संबन्ध रखनेवाले इस पद के लिए अयोग्य थे जो अनाप्त हो, मित्र या शत्रु हों, जिनमें कोई दोष देखा गया हो, जो व्याधिपीड़ित हो अथवा जो महापातक आदि दोषों से दूषित हों वे भी साक्षी नहीं हो सकते थे। तात्पर्य यही है कि इन में असत्य भाषण आदि की प्रवृत्ति स्वभावतः हो सकती है। राजा को साक्षी नहीं बनाना चाहिए। यह उसके पद की प्रतिष्ठा है। साक्षी होकर उसका न्यायालय में उपस्थित होना अनुचित समझा जायेगा। वैदिक कर्म करने में

---

१. आप्ताः सर्वेषु वर्णेषु कार्याः कार्येषु साक्षिणः।
सर्वधर्मविदोऽलुब्धा विपरीतांस्तु वर्जयेत्।। वही, ६३,
बहवः स्युरनिन्दिताः स्वकर्मसु प्रात्ययिका राज्ञां निष्प्रीत्यनभितापाश्चान्यतरस्मिन्। गौ०ध०सू०, २/४/२, बृहस्पति, स्मृ०च०, पृ० २, ७६

२. कुलीना ऋजवः शुद्धा जन्मतः कर्मतोऽर्थतः।
त्र्यवराः साक्षिणोऽनिन्द्याः शुचयः शुद्धबुद्धयः।। ना०स्मृ० ४/१५३

३. तपस्विनो दानशीलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
धर्मप्रधाना ऋजवः पुत्रवन्तो धनान्विताः।।
त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः।
यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः। या०स्मृ०, २/६८-६९
वसिष्ठ- १६/२९, गौ०ध०मू०, २, २, ३

४. श्रेणीषु श्रेणीपुरुषाः स्वेषु वर्गेषु वर्गिणः।
बहिर्वासिषु बाह्याः स्युः स्त्रियः स्त्रीषु च साक्षिणः। ना०स्मृ०, ४/१५५ गौ०ध०सू०, ११/२१
स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः।
शूद्रश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः।। का०स्मृ०सारेद्वार ३५।

बाधा उपस्थित होने के कारण श्रोत्रिय को भी साक्षी नहीं बनाना चाहिए ब्रह्मचारी तथा सन्यासी को भी साक्षी बनाने से मुक्त किया गया है। कारीगर, नट, गायक आदि का भी परिहार किया गया है।[१] इनके अतिरिक्त निम्नलिखित व्यक्ति निषिद्ध साक्षी माने जाते हैं।[२] दुःखित व्यक्ति, समुद्र यात्रा करनेवाला व्यापारी, आलोचक, सेवक, लम्बीयात्रा करनेवाला, रूग्ण, नपुंसक, नास्तिक, व्रात्य (जिसका उपनयन संस्कार न हुआ हो), स्त्री परित्यागी, गुप्तचर, विषविक्रेता, सर्प पकड़नेवाला, आग लगानेवाला, चाण्डाल, निर्धन, शूद्रापुत्र (उच्च जाति के व्यक्ति द्वारा उत्पन्न) पातकी, साहसिक, भूख-प्यास से पीड़ित, वीतरागी, एकाकी, नृपद्वारा निन्दित या घृणित, (ज्योतिषी), तस्कर, जड़मूलविक्रेता, ऋतुसम्बन्धी (भविष्यवाणी करनेवाला ज्योतिष, छोटे अंगों वाला अथवा कम अंगों वाला, अपनी स्त्री से अनाचार कराने वाला, स्त्रियों को नचानेवाला, बालक, उन्मत्त, मित्रद्रोही, आसव विक्रेता, मदारी, लोभी, क्रोधी, आतुर, कसाई व खाल विक्रेता, कूट व्यवहारकर्ता, लेखप्रमाण, मुद्रा या नापतोल सम्बन्धी अपंग (लूला-लंगड़ा), ब्रह्म हत्यारा, संन्यास आश्रम से च्युत, प्रवंचक, राजभृत्य, मनुष्य, पशु-मांस-अस्थि, दुग्ध जल-सूत आदि का विक्रेता, वेदविक्रयी, व्याज लेने वाला द्विज, पिताद्रोही आदि को साक्षी के अयोग्य बताया है।

बालक, अपरिपक्व बुद्धि, वृद्ध अधिक वय के कारण अस्थिर बुद्धि, उन्मत्त विवेकहीन, आतुर बिमारी के कारण अस्थिर बुद्धि होता है। फलतः यथार्थस्थिति का उल्लेख करने में असमर्थ होने के कारण विवाद को और अधिक सन्देहयुक्त बना सकते हैं।[३]

आर्थिक एवं सम्पत्ति सम्बन्धि विवादों में साक्षी का प्रतिबन्ध सार्थक समझा जाता था। तथा उसे उपयोगी व प्रामाणिक मानकर कठोरता के साथ उसका अनुपालन किया जाता था। प्रामाणिक साक्षी के अभाव में सम्बन्धित आर्थिक व सम्पत्ति विवाद को रोक दिया जाता था। लेकिन हिंसक विवादों में धर्मशास्त्रकारों ने साक्षी प्रतिबन्ध को लचीला एवं प्रतिबंध रहित कर हिंसकत्व को भरपूर रूप में नियन्त्रित किया था। साहस में (डाका, बलात्कार आदि के अभियोग), चोरी में,

---

१. मनु०, ८/६२-६८

२. स्त्रीबालवृद्धकितवमत्तोन्मत्ताभिशस्तकाः।
रङ्गावतारिपारवण्डिकूटकृद्विकलेन्द्रियाः।
पतितासार्थसंबन्धिसहायरिपुतस्कराः।
साहसी दृष्टदोषश्च निर्धूताद्यास्त्वसाक्षिणः।। याज्ञ०स्मृ० २/७०-७१ तुलनीय-भारतीय साक्ष्य अधिनियम (१८७२) की धारा ११८।

३. बालवृद्धातुराणां च साक्ष्येषु वदतां मृषा।
जानीयादस्थिरां वाचमुत्सिक्तमनसा तथा।। मनु० ८/७१

स्त्रीसंग्रहण, गाली-गलौच में अथवा मारपीट में साक्षियों की परीक्षा (गुण-दोष विचार) नहीं करनी चाहिए। इन मामलों में कोई भी साक्षी हो सकता था। घर के अन्दर या रात्रि में हुए हमले या गाँव के बाहर हुए हमले में भी साक्षी की योग्यता पर विचार नहीं किया जाता था।[१] इन परिस्थितियों में कोई भी उसका अनुभवी हो, देखनेवाला हो, वह गवाह हो सकता था। अन्य साक्षियों के सम्भव न होने पर स्त्री, बाल, वृद्ध, शिष्य, बंधु, दास या काम करने वाला इन में से कोई भी साक्षी माना जा सकता है।[२] परन्तु वंचक, शत्रुसंबंधी किसी भी दशा में साक्षी नहीं हो सकते थे, क्योंकि ये लोग परस्पर सम्बन्धों के कारण स्वाभाविक रूप से असत्य का अवलम्बन ले लेते हैं। जिसके कारण सत्य निर्धारण, सन्देह निवारण व अभियोग परीक्षण में व्यवधान उत्पन्न होता था।[३]

साक्षियों की संख्या के विषय में धर्मशास्त्रों में पृथक्-पृथक् मत मिलते हैं। यह संख्या दो-तीन-चार, पाँच, सात व नौ तक स्वीकार की गयी है।[४] गौतम,[५] मनु[६], याज्ञवल्क्य[७] व नारद[८] आदि के मत से किसी भी मुकद्दमें में कम से कम तीन साक्षी होने चाहिए। बृहस्पति ने एक साक्षी को अस्वीकार किया है लेकिन याज्ञवल्क्य, नारद, मनु व कात्यायन आदि ने विशेष परिस्थितियों में एक व्यक्ति के साक्ष्य को भी स्वीकार किया है यदि वह व्यक्ति नियमित रूप से धार्मिक कृत्य करता रहा हो और दोनों पक्षों को स्वीकार हो।[९] अपने में शुचि व सत्यवादी रहा

---

१. स्गहसेषु च सर्वेषु स्तेयसंग्रहणेषु च।
वाग्दण्डयोश्च पारूष्ये न परीक्षेत साक्षिणः।। मनु०, ८/७२
सर्वः साक्षी संग्रहणे चौर्यपारूष्यसाहसे। याज्ञ० २/७२ ना०स्मृ०, ४/१८८, १८९,
न पीडाकृते निबन्धः। गौ०ध०सू०, २/४/९, शुक्र, ४/५/१८८

२. स्त्रियाऽप्यसम्भवे कार्यं बालेन स्थविरेण वा।
शिष्येण बन्धुना वाऽपि दासेन भृतकेन वा। मनु०, ८/७०

३. बालोऽज्ञानादसत्यात्स्त्री पापाभ्यासाच्च कूटकृत्।
विब्रुयात्बान्धवः स्नेहाद्वैरनिर्यातनादरिः।। ना०स्मृ०, ४/१९१

४. नव सप्त पञ्च वा स्युश्चत्वारस्त्रय एव वा।
उभौ वा श्रोत्रियौ ख्यातौ नैकं पृच्छेत्कदाचन।। बृहस्पति, उद्धृत वी०मि० व्य०प्र०, पृ० ११२

५. बहवः स्युरनिन्दिताः स्वकर्मसु प्रात्ययिकाराज्ञाम्। गौ०ध०सू० १३/४/२

६. त्र्यवरैः साक्षिभिर्भाव्यो नृपब्राह्मणसंनिधौ। मनु० ८/६०

७. त्र्यवराः साक्षिणोऽनिन्द्याः शुचयः शुद्धबुद्धयः।। ना०स्मृ० ४/१५३

८. त्र्यवराः साक्षिणो ज्ञेयाः श्रौतस्मार्तक्रियापराः। याज्ञ०स्मृ० २/६९

९. एकोऽलुब्धः साक्षी स्याद् बहवयः शुच्योऽपि न स्त्रियः। मनु स्मृ० ८/७७
उभयानुमतः साक्षी भवत्येकोऽपि। धर्मवित्। याज्ञ०स्मृ० २/७२
ना०स्मृ० ४/१९२ अभ्यन्तरस्तु निक्षेपे साक्ष्यमेकोऽपि वाच्यते।
अर्थिना प्रहितः साक्षी भवत्येकोऽपि दूतकः। कात्यायनस्मृति, ३५३-३५५

हो इसके अतिरिक्त धरोहर रखते समय, दूत (जो आभूषण उधार लेने भेजा गया हो), आभूषण आदि बनानेवाला एवं विवाद की खोज के बाद लिपिक, न्यायाधीश, सभ्य आदि भी एकल साक्षी स्वीकार कर लिये जाते थे।[१]

साक्षियों के प्रकार-

धर्मशास्त्रों में साक्षियों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है। १. कृतसाक्षी (पक्ष द्वारा नियुक्त) तथा २. अकृत (पक्ष द्वारा अनियुक्त)[२]

कृत साक्षी–

किसी एक पक्ष द्वारा नियुक्त प्रामाणिक साक्षी कृतसाक्षी कहलाता था। नारद ने इसके पाँच प्रकार बताये हैं।

लिखित– (जो अपना नाम व विवरण स्वयं लिखता है।

स्मारित साक्षी– जिसे बार-बार घटनाक्रम व स्थिति का ज्ञान कराया जाये।

यदृच्छाभिज्ञ (सकारण साक्षी) जो लेन देन के समय अचानक उपस्थित हो जाय तथा उसे साक्षी बना लिया जाय।

गुप्तसाक्षी– जो पर्दे, दीवार या गुप्त रूप से छिपकर लेन-देन की बातें सुने या घटनाक्रम देखे।

उत्तरसाक्षी– लेन-देन की बात या घटनाक्रम को ऐसे व्यक्ति से सुने जो या तो मृत्युशय्या पर हो या दूर देश जा रहा हो।

अकृत साक्षी– वे होते हैं जिन्हें नियुक्त नहीं किया जाता लेकिन साक्ष्य की परिसीमा में प्रतिबन्धित साक्षी की भाँति प्रभावी व मान्य होते थे। किसी भी पक्ष के द्वारा नियुक्त न किये जाने पर भी उनके विचार साक्ष्य के रूप में निर्विवाद रूप में मान्य थे। इनके छः उपप्रकार थे।

सहग्रामवासी– सीमाविवाद के अभियोगों में एकही ग्राम के निवासी सहग्रामवासी साक्षी होते थे।

मुख्य न्यायाधीश– विवाद का निर्णय देने के पश्चात् प्रधान न्यायाधीश स्वयं में विवाद का सशक्त एवं प्रबल साक्षी होता था।

राजा– राजा के समक्ष अभियोग चलता है (जिसके समक्ष अभियोग चला हो)

कार्यमध्यगत– जो दोनों पक्षों के लेन-देन के मध्य उपस्थित रहा हो।

दूतक- जो लेन-देन तय करने अथवा आभूषण लाने भेजा गया हो।

परिवारजन या कूल्य– सम्पत्ति विभाजन-सम्बन्ध में परिवार के अन्य सदस्यगण[३]

---

१. बृहस्पति, उद्धृत स्मृ०च०, २ पृ० ७६ पर उद्धृत

२. शुक्र ४-५, १८४- शुक्र विद्योतिनी टीका में "कृत" का अर्थ है वादी द्वारा उपस्थित किया हुआ साक्षी व "अकृत" का अर्थ है राजा द्वारा उपस्थित किया हुआ।

३. ना०स्मृ० ४/१५१-१५२, शुक्र, ४.५ १८२

इसके अतिरिक्त लेन-देन के समय दूसरे साक्षियों की उपस्थिति में जिसका नाम व विवरण लिखा जाये उसे लेखित साक्षी कहते थे।

अवसर साक्षी– वे अनुमानित या तथ्यपूर्ण लक्षण जिनके द्वारा अनुमान को बल मिलता था तथा उनके द्वारा सत्य तक पहुँचा जा सकता था वे लक्षण या चिह्न जो अभियुक्त के अपराध या कृत्य की पुष्टि करते हैं, अवसर साक्षी कहा जाता था।[१] अनुमान, तर्क और हेतु के द्वारा अवसरसाक्षी की यथार्थता का प्रतिपादन होता था। युक्ति के आधार पर यह अपने में सबल व निर्विवादित प्रमाण समझा जाता था।

१. वसिष्ठ के अनुसार अस्त्र शस्त्र से सुसज्जित तथा घायल अवस्था में चोरी के सामान के साथ पकड़ा गया व्यक्ति स्तेय या साहस का अपराधी माना जाता था।[२]
२. किसी युवती या परस्त्री के बालों के साथ खेलता पकड़ा जाय या क्रीड़ा करना परस्त्रीगामी का प्रतीक होता था।
३. किसी के घर के समीप हाथ में जलती लकड़ी लिये खड़े रहने वाला व्यक्ति आग लगाने वाला, व मृत व्यक्ति के पास हथियार के साथ पकड़े जानेवाला हत्यारा समझा जाता था। अतः स्पष्ट होता है कि अस्त्रशस्त्र व घायल स्थिति, परस्त्री से क्रीडा या उपहास तथा हाथ में जलती शलाका का होना आदि चिह्न अवसर साक्षी समझे जाते थे।[३] तथा इस प्रकार की परिस्थितियों में दोषी (अभियुक्त) का दोष स्वयमेव ही प्रमाणित हो जाता था। लेकिन इसमें बहुत ही सतर्क रहने की आवश्यकता थी। क्योंकि कभी-कभी वैर वश एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को फँसाने के लिए कपटपूर्ण परिस्थितियों का जाल रच सकता था। जिस प्रकार से माण्डव्य ऋषि के चोर न होने पर भी, विपत्ति (मारपीट) से बचने के लिए मौन धारण कर लेने पर उन्हें चोर रूप दण्ड भुगतना पड़ा था।[४] अतः धर्मशास्त्रों ने इस बात का उल्लेख किया है कि केवल शास्त्र का आश्रय लेकर कभी भी निर्णय नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि युक्तिहीन निर्णय में धर्म की हानि होती है।[५] अतः भ्रामक निर्णयों के प्रति स्मृतिकार

---

१. नारद ४/२३५-२३८

२. शस्त्रधारी सहोढो ब्रणसंपन्नो व्यपदिष्टस्त्वेकेषाम्।
वासिष्ठ ध०सू०, १९/३९ मनु, ९/२७०

३. याज्ञ० २/२८३; पुमान्संग्रहणे ग्राहयः केशाकेशि परस्त्रिया।
सद्यो वा कामजैश्चिह्नैः प्रतिपत्तौ द्वयोस्तथा। कौ०अ०, २/२८३

४. यथा हि माण्डवः कर्मकलेशा भयादचोरश्चोरोऽस्मीतिब्रुवाणः।।
कौ०अ०, ४/८ अचोरश्चोरतां प्राप्तोमाण्डव्यो व्यवहारतः।
बृहस्पति, उद्, स्मृ०च०, २ पृ०, २५, ना०स्मृ०, १.४२।

५. केवलं शास्त्रमाश्रिय न कर्तव्यो हि निर्णयः।
युक्तिहीनविचारे ही धर्महानिः प्रजायते कौ०अ०, ४/८

परिचित व सतर्क थे; क्योंकि शिष्ट व सत्यनिष्ठ व्यक्ति भी अचानक या अज्ञानवश, चोरपथ से जा सकता था अथवा चोर शीघ्रतावश अपनी रक्षा के लिए चोरी के माल को सत्पुरूष या निर्दोषी के अधिकारक्षेत्र में छिपा सकता था। ऐसी परिस्थिति में यद्यपि अवसरसाक्षी विद्यमान रहती थी तथापि व्यक्ति निर्दोष ही समझा जाता था, चोर नहीं।

साक्षी अह्वान व परीक्षण– वादी व प्रतिवादी दोनों ही अपने-अपने साक्षियों की सूची न्यायालय में प्रस्तुत करते थे। राजा या न्यायाधीश को किसी भी झगड़े में साक्षियों से तुरन्त प्रश्न करने पड़ते थे क्योंकि विलम्ब करने से गम्भीर दोषों के उत्पन्न होने की संभावना रहती थी।[१] अतः न्यायाधीश साक्षियों को बुलाने हेतु लिखित आदेश प्रेषित करता था। यदि साक्षी बुलाने पर भी न्यायालय में साक्ष्य देने नहीं आता था तो उसपर २४ पण का दण्ड लगता था। (कौ०अ० ३/११) व साक्षियों को शपथ दिलायी जाती थी व राजा उनसे प्रश्न पूछता था[२] कि वे अर्थी व प्रत्यर्थी के विषय में जो कुछ जानते हैं उसे सत्य-सत्य कहें। (वेदज्ञ ब्राह्मण को न्यायालय में आने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था।)[३]

साक्षी जिस समय न्यायालय में अपना साक्ष्य प्रस्तुत करने के निमित्त उपस्थित होता था तो उसी समय विरोधी पक्ष को साक्षी के दोष व अयोग्यता को सिद्ध करने का अधिकार था। साक्षी के दोषों को पहले पत्र पर लिखा जाता था तदुपरान्त ही साक्षी से उत्तर माँगा जाता था। यदि साक्षी अपने ऊपर लगे दोषों को स्वीकार कर लेता था तो उसे साक्ष्य देने से वंचित (अयोग्य साक्षी) होना पड़ता था और यदि साक्षी अपने ऊपर लगे दोषों को अस्वीकार कर देता था तो वह साक्षी देने के योग्य था।[४] और विपक्षी द्वारा उसके दोष प्रमाणित करने के लिए प्रमाणों को प्रस्तुत करना पड़ता था व प्रमाणों के सत्य सिद्ध न होने पर विपक्षी दण्ड का

---

१. न कालहरणं कार्यं राज्ञा साक्षिप्रभाषणे।
महान्दोषो भवेत्कालाद्धर्मव्यावृत्तिलक्षणः।। कात्यायन, ३३९, पृ० ४४

२. यद् द्वयोरनयोर्वेत्थ कार्येऽस्मिंश्चेष्टितं मिथः।
तद् ब्रूत सर्वं सत्येन युष्माकं हयत्र साक्षिता। मनु० ८/८०

३. कौ०अ०, ३.१

४. प्रमाणस्य हि ये दोषावक्तव्योस्तेविवादिना।
गूढास्तुप्रकटाः काले शास्त्रप्रदर्शनात्।। कात्यायनमत संग्रह २७०,
साक्षिदोषाः प्रयोक्तव्याः संसदिप्रतिवादिना।
पत्रेभिलेख्यतान्सर्वान् वाक्याः प्रत्युत्तरं तु ते। व्यास, उद्० स्मृ०च०, २ पृ० ८३

भागी होता था।[१] साक्ष्य प्रारम्भ होने के पूर्व ही विरोधी पक्ष साक्षी की अयोग्यता सिद्ध कर सकता था। एक बार साक्ष्य प्रारम्भ हो जाने पर विपक्षी द्वारा उसकी अयोग्यता प्रदर्शित नहीं की जा सकती थी। ऐसा करने पर विपक्षी दण्ड का भागी होता था।

न्यायालय में आकर साक्ष्य देने से पूर्व प्रत्येक साक्षी जूते व पगड़ी उतारकर, दाहिना हाथ उठाकर हाथ में स्वर्ण, गोबर या कुश लेकर शपथ लेता था व न्यायालय में साक्षी को चेतावनी दी जाती थी कि झूठे साक्षी को वही दण्ड मिलता है जो महापातकियों, स्त्री व बालहत्या करनेवाले को व आग लगाने वालों को मिलता है।[२] सत्य बोलने पर स्वर्ग व असत्य बोलने पर नरक की प्राप्ति होती थी (स्वर्गः सत्यवादनेविपर्ययेनरकः।। गो०ध०सू०, २/४/७ मनु० ८/१०१

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण जल से भरा घड़ा अथवा अग्नि के पास साक्षी को ले जाकर शपथ दिलाता था। यदि साक्षी ब्राह्मण होता था तो उसे केवल यह कहा जाता था कि "सत्य" बोलो, क्योंकि यदि तुम असत्य कहोगे तो तुम्हारी सत्यता नष्ट हो जायेगी। अतएव सत्य के लिए सत्य बोलो। क्षत्रिय साक्षी से "तुम्हारे असत्य कथन से तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र एवं वाहन फलहीन हो जायेगे। तुम्हारा पौरुष भी नष्ट हो जायेगा अतएव अपने पौरुष व आयुधों तथा वाहन की शपथ लेकर कहो। वैश्य साक्षी से-यदि तुम असत्य बोलो तो तुम्हारा सम्पूर्ण धन, (पशु-अन्न-स्वर्ण) नष्ट हो जायेगें, तुम रंक हो जाओगे अतएव अपने सम्पूर्ण धन की शपथ लेकर कहो, असत्य भाषण पर उसके जन्म जन्मान्तर का पुण्य राजा को मिल जाने की बात कही जाती थी। शपथ का पूर्ण लक्ष्य साक्षी को सन्देह निवारणार्थ सत्य कहने हेतु प्रतिबन्धित करना होता था।[३] मनु व नारद ने ब्राह्मण साक्षी के लिए शपथ को अनिवार्य माना है लेकिन गौतम ने ब्राह्मण के लिए इसे अनिवार्य नहीं माना है।[४] धर्मशास्त्रों में ब्राह्मण को "कहो" कहने में ब्राह्मण के साथ पक्षपात नहीं किया गया

---

१. साक्षिदोषाः प्रवक्तव्याः संसदि प्रतिवादिना।
पत्रे विलिख्य तान्सर्वान् वाच्यः प्रत्युत्तरं ततः।।............
अभावयन्धनं दाप्यः प्रत्यर्थी साक्षिणः स्फुटम्।
भाविताः साक्षिणः सर्वे साक्षिधर्मनिराकृताः। कात्यायनस्मृतिसारोद्वार, ३८२, ३८४

२. याज्ञ० २/७३-७५

३. राजन्यं वैश्यं वा - मा तवेष्टापूर्तफलं, कपाल हस्तः शत्रुकुलं भिक्षार्थी गच्छेरिति। कौ०अ०, ३/११
सत्येन शापयेद्विप्रं क्षत्रियं वाहनायुधैः गोबीजकाञ्चनैर्वैश्यं शूद्रं सर्वेस्तु पातकैः।।
ना०स्मृ०, ४/१९९, पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धऽपामन्ते राजवत्युभयतः समारव्याप्य सर्वानुमते मुख्यं सत्यं प्रश्नं ब्रूयात्। आ०ध०सू०, २/११/१९६, याज्ञ, पर मिताक्षरा, २/१३, मनु०, ८/११३

४. मनु०, ८/१०७, याज्ञ०स्मृ० २/७७, गौ०ध०सू० २/१३/१२-१३

है। यह उनकी धर्मनिष्ठा व सदाचार का पक्षपात है, क्योंकि जो ब्राह्मण अपनी परम्परा प्राप्त मर्यादा को छोड़कर जघन्य वृत्ति का आश्रय लेता है उस ब्राह्मण साक्षी के साथ उसी प्रकार व्यवहार होगा जैसा शूद्र साक्षी के साथ। मनु स्पष्ट करते हैं कि गोरक्षण से जीविका चलाने वाले, वाणिज्य व्यवसाय वाले, कारीगर, गायक, दास वृत्ति करने वाले अथवा सूदखोर ब्राह्मणों के साथ शूद्र के समान आचरण करना चाहिए।[१] इसी नियम के फलस्वरूप इस व्यवसायवाले क्षत्रिय और वैश्य भी शूद्र के समान माने जायेगें।

असत्य कथन करनेवाले साक्षी को उपदेश देते हुए न्यायाधीश कहता है कि असत्यसाक्षी को उन लोकों की प्राप्ति होती है जो लोक पातकी, महापातकी, हिंसक व आग लगाने वालों को प्राप्त होते हैं। असत्य साक्षी नरक में जाता है। उसे एक सौ जन्म पर्यन्त वरुण देवता के समीप निष्ठुरता से बंधा रहना पड़ता है व नग्न, मूंडमुंडाये, भूख प्यास से पीड़ित, अंधा होकर वह शत्रुकुल में भिक्षा माँगता है। असत्य साक्ष्य के कारण अनेक पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं। विभिन्न प्रकार की हिंसाओं का पाप तथा विभिन्न प्रकार के नरकों की प्राप्ति होती है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त के पुण्य नष्ट हो जाते हैं।[२] इस विषय में मनुस्मृति[३] व गौतमधर्मसूत्र में विस्तार से विवेचन किया गया है। मनु के अनुसार सत्य भाषण करने वाले साक्षी को स्वयं को अकेला नहीं मानना चाहिए क्योंकि पाप व पुण्य कृत्यों का अवलोकन करनेवाला ईश्वर प्रत्येक साक्षी के हृदय में वर्तमान रहता है।[४]

इस उपदेश को देने के पश्चात् न्यायाधीश साक्षियों का साक्ष्य सुनता था। साक्षियों से प्रश्न प्रतिप्रश्न पूछे जाते थे। वादी व प्रतिवादी के साक्षियों के कथनों को लेखबद्ध कर लिया जाता था।[५]

---

१. गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रावदाचरेते मनु०, ८/१०२।

२. क्षुद्रपश्वनृते साक्षी दश हन्ति। गोऽरश्वपुरुषभूमिषु दशगुणोत्तरान्।
सर्वं वा भूमौ। हरणे नरकः। भूमिवदप्सु। मैथुनसंयोगे च।...............
मिथ्यावचने याप्यो दण्डयश्च साक्षी। गौ०ध०सू०, २/४/१४-२३,
नरकश्चाऽत्राधिकः साम्पराये। सत्ये स्वर्गः सर्वभूतप्रशंसा च। आ०ध०सू०, २/२९/९-१०

३. मनु० ८/७५, ८२, ८९, ९२, ९४, ९५, ९७-१०१, याज्ञ० स्मृ०, २/७३-७५

४. एकोऽहमस्मीत्यात्मानं यत्त्वं कल्याण मन्यसे।
नित्यं स्थितस्ते हृद्येष पुण्यपापेक्षिता मुनिः।। मनु०, ८/९१

५. स्वभावेनैव यद् ब्रूयुस्तद्ग्राह्यं व्यावहारिकम्।
अतो यदन्यद्विब्रूयुधर्मार्थं तदपार्थकम्। वही, ८/७८

असत्यसाक्षी का स्वरूप व दण्ड–

न्यायाधीश के लिए यह आवश्यक था कि वह साक्षी के बाह्य रुप की भली प्रकार जाँच करे। आँखें नीची करके बात करनेवाला, काँपते शरीरवाला, तेज साँस लेने वाला, सूखे होठों वाला, जिह्वा से ओष्ठों को काटनेवाला, पैर के नाखून से जमीन कुरेदने वाला, अस्थिर, इधर उधर झाँकनेवाला आदि चिह्नों वाला साक्षी को असत्यसाक्षी मान लिया जाता था।[१] साक्षियों के सत्य भाषण की परीक्षा उनके कथन, कांति परिवर्तन, नेत्रों के हाव-भाव आदि से की जाती थी।[२] बिना पूछी गयी बात कहने अथवा जो पूछा गया है उसका उत्तर न देने पर साक्षी को गलत मानकर उसे बन्दी बना लिया जाता था। बिना समन के आया हुआ साक्षी अथवा ऐसा साक्षी जो साक्षी रुप में स्वीकार नहीं किया गया है, दण्ड का भागी होता था।[३] साक्षी द्वारा झूठ बोले जाने पर विवाद की गम्भीरतानुसार उस पर मानव या पशु की हत्या अथवा स्वर्ग या भूमि की चोरी का अपराध लगता था[४] सत्य साक्ष्य एक सहस्त्र अश्वबलि व सौ पुत्रों के पुण्य से अधिक बड़ा माना गया है।[५] नारद ने जहाँ एक ओर सत्य साक्षी के विषय में विस्तार से लिखा है वहीं दूसरी ओर झूठे साक्षी के लिए नरक व यमद्वारा दिए गए दण्डों का वर्णन भी किया है।[६] याज्ञवल्क्य ने धन लेकर असत्यवादन करने वाले साक्षियों को भी दण्डित करने की व्यवस्था की थी।[७] साक्षी होना स्वीकार करके साक्षी न देने वाले को भी दण्ड देने का विधान था।[८] जानते हुए भी साक्ष्य न देने वाले को नीच सम्बोधित करते हुए उसे कूट साक्षियों के समान दण्डित करने का विधान था।[९] असत्य या कूट साक्षी को एक सौ पण से लेकर चार सौ पण तक दण्ड देने का प्रचलन था। सम्पूर्ण सम्पत्ति छीनकर देश निष्कासन

---

१. बाह्यैर्विभावयेल्लिङ्गैर्भावमन्तर्गतं नृणाम्।
स्वरवर्णेङ्गिताकारैश्चक्षुषा चेष्टितेन च।। मनु०, ८/२५

२. आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषितेन च।
नेत्रवक्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः। वही, ८/२६ ना०स्मृ० ४/१९३-१९६

३. अपृष्टः सर्ववचने पृष्टस्याकथने तथा।
साक्षिणः संनिरोद्धव्या गर्ह्या दण्डयाश्च धर्मतः। कात्या०, स्मृ०सारो० ४०२
यः साक्षी नैव निर्दिष्टो नाहूतो नापि दर्शितः।
ब्रूयान्मिथ्येति तथ्यं वा दण्डयः सोपि नराधमः। वही०४.३

४. नारद ४/२०७-२०९ जाँली अनुवाद

५. वही २१०-२११

६. वही, ४/२१६-२१९

७. याज्ञ०, २/८१, शुक्र ४/५/१६७-१६८

८. मनु०, ८/१०७, याज्ञ०, २/७६ व ८२

९. याज्ञ० स्मृ० २/७७

का दण्ड कूटसाक्षी में दिया जाता था लेकिन ब्राह्मण के कूटसाक्षी होने पर उसे बिना सम्पत्ति छीने अपने राज्य से निर्वासित करने का विधान था।[१] यदि साक्षी एक सप्ताह के भीतर सत्य का उद्घाटन न करे तो उसे १२ पण दण्ड, देश काल व कार्य के विपरीत बोलने पर क्रमशः प्रथम, मध्यम व उत्तम साहस का दण्ड व विवाद में गतिरोध व विसंगति पैदा करने पर विचित्र वध का दण्ड दिया जाता था।[२] "याज्ञवल्क्य के अनुसार धन लेकर असत्य कथन करने वाले साक्षियों के लिए भी दण्ड का विधान था।[३] साक्ष्य देना स्वीकार करके अनन्तर साक्ष्य न देना भी एक अपराध था[४] और जानते हुए भी साक्षी न देने वाले को कूट साक्षी के समान दण्डित किये जाने का विधान था।[५]

साक्ष्य की परितुलना–

साक्षियों के कथनों में परस्पर विरोध होने की स्थिति में बहुमत जो कुछ कहता था उसे प्रामाणिक मान लिया जाता था। साक्षियों के समान होने पर श्रेष्ठगुणवालों (चरित्रवान् व्यक्तियों के साक्ष्य को) को बलवान माना जाता था।[६] व साक्षियों में परस्पर विरोध होने पर यदि सब साक्षी समान योग्यता वाले हों तो जिस पक्ष में अधिक संख्या में साक्षी हों वह पक्ष मान्य होगा अथवा यदि दोनों की संख्या समान होगी तो उस दशा में जिस पक्ष वाले गुणों में उत्कृष्ट होंगे वह पक्ष ग्राह्य होगा। गुणियों में भी यदि समानता पाई जायेगी तो उनमें जो द्विजोत्तम होगेंवे

---

१. मनु० ८/१२०-१२३
पृथक्पृथग्दण्डनीयाः कूटकृत्साक्षिणस्तथा
विवादाद् द्विगुणं दण्डं विवास्यो ब्राह्मणः स्मृतः।। याज्ञ०स्मृ० २/८१

२. मिथ्यावचने याप्यो दण्ड्यश्च साक्षी।
कूटसाक्षिण इति प्रवास्येरन्। गौ०ध०सू० २/१३/२३, कौ०अ०, ३/११

३. अब्रुवन्हि नरः साक्ष्यमृणं सदशबन्धकम्।
राज्ञा सर्वं प्रदाप्यः स्यात्षट्चत्वांरिश्केऽहनि याज्ञ० २/७६

४. साक्षी साक्ष्यं न चेद्ब्रूयात्समदडं वहेदृणम्।
अतोऽन्येषु विवादेषु त्रिशतं दण्डमर्हति।। का०स्मृ०सा० ४०५
त्रिपक्षादब्रुवन्साक्ष्यमृणादिषु नरोऽगदः।
प्राप्नुयात्सर्वं दशबन्धं च सर्वतः। मनु० ८/१०७

५. न ददाति हि यः साक्ष्यं जानन्नपि नराधमः।
स कूटसाक्षिणां पापैस्तुल्यो दण्डेन चैव हि। याज्ञ० २/७७

६. बहुत्वं परिगृहणीयात्साक्षिद्वैधे नराधिपः।
समेषु च गुणोत्कृष्टान्गुणिद्वैधे द्विजोत्तमान्। मनु०स्मृ०, ८/७३,
द्वैधे बहूनां वचनं समेषु गुणिणां तथा।
गुणिद्वैधे तु वचनं ग्राह्यं ये गुणवत्तमाः। याज्ञ०, २/७८ ना०स्मृ०, ४/२९, कात्या० ४०८

प्रामाणिक माने जायेगें। समान योग्यता वाले ब्राह्मण साक्षियों में परस्पर विरोध हो तो उनमें श्रौत, स्मार्त्त क्रिया में जो श्रेष्ठ हो उसे प्रामाणिकता मिलेगी। कुल्लूक भट्ट ने इस विषय में बृहस्पति के वचन का उल्लेख किया है। "गुणद्वंधे क्रियायुक्ताः।" यदि दोनों ही समान रूप से गुणी हों तो उनमें से जो अधिक क्रियाशील होगा, अर्थात् यज्ञानुष्ठान आदि धार्मिक कार्यों में विशिष्ट होगा, वह प्रमाण माना जायेगा। याज्ञवल्क्य ने साक्षियों की संख्या पर कम व गुणों पर अधिक बल दिया है।[१]

सामान्य नियमानुसार जिस पक्ष की बात समस्त साक्षियों द्वारा प्रमाणित होती थी वह विजयी समझा जाता था तथा जो पक्ष साक्षियों द्वारा असत्य प्रमाणित किया जाता था वह पराजित होता था।[२] एक ओर जहाँ याज्ञवल्क्य किसी विवाद का साक्षी द्वारा एक अंश भी सत्य सिद्ध होने पर पूरे विवाद को सत्य मान लेते हैं।[३] उनके अनुसार वादी द्वारा प्रतिवादी पर उसके कई वस्तुएँ लेने का आरोप लगाने पर यदि वादी कुछ वस्तुओं का लिया जाना ही प्रमाणित कर पाये तो भी अन्यायी को सभी वस्तुएँ अथवा उनके स्थान पर हर्जाना देना चाहिए, वहीं दूसरी ओर कात्यायन विवाद के केवल उतने ही अंश को सत्य मानते हैं जितना सत्य सिद्ध हुआ है[४]। इस मतवैभिन्य से साक्ष्यप्रक्रिया का विकास सिद्ध होता है। लेकिन कात्यायन ने भी बलात्कार, साहस व चोरी के विवादों में एक अंश के भी सत्य सिद्ध होने पर सम्पूर्ण को सत्य मान लेना स्वीकार किया है। नारद ने वादी व प्रतिवादी को साक्षी से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखने की मनाही की है। रिश्वत या लालच देना अथवा उसके पास गुप्त रूप से जाना भी अपराध था। ऐसा अपराध करने पर दण्ड का विधान था और ऐसा करने वाले पक्ष को पराजित मान लिया जाता था।[५]

असत्य साक्ष्य में शिथिलता—

धर्मशास्त्रकारों का मुख्य उद्देश्य मानवरक्षा रहा था। उत्तमजनों की रक्षा के लिए ही विधिविधानों की उत्कृष्ट योजना को संजोया गया था। साक्षी के असत्यकथन को उस परिस्थिति में प्रामाणिक माना जाता था जहाँ चारों वर्णों में से किसी भी

---

१. याज्ञ०, २/७८

२. यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः। याज्ञ०, २/७९

३. निह्नुते लिखितं नैकमेकदेशे विभावितः।
दाप्यः सर्वं नृपेणार्थं न ग्राह्यस्त्वनिवेदितः। वही, २/२०

४. कात्या० ३९६, ३९७, ४७३

५. न परेण समुद्दिष्टमुपेयात् साक्षिणं रहः।
भेदयेत्तं न चान्येन हीयेतैव समाचरन्।। ना०स्मृ० ४/१६५

वर्ण के व्यक्ति के वध की सम्भावना उत्पन्न होती थी।[१] व असत्य वादन से वह मृत्युदण्ड से मुक्त हो सकता था। अधिक धन के नाश पर भी असत्य साक्षी प्रमाणित होती थी। असत्यवादन के अपराध से मुक्ति पाने के लिए अथवा शुद्धि के लिए द्विज द्वारा सरस्वती देवी के लिए चरु चढ़ाने का विधान प्रस्तुत किया गया है।[२]

धर्मशास्त्रकारों ने इस बात को स्वीकार किया था कि केवल साक्षी के कथन पर ही निर्णय देना अनुचित था, क्योंकि साक्षीगण लोभ, स्नेह, भय व क्रोधवश झूठी साक्षी दे सकते थे। अतः यथासम्भव सभी प्रमाणों (लेख, भुक्ति व साक्षी) पर विचार करने पर बल दिया गया है। किसी कारण वश उपर्युक्त प्रमाणों में से किसी एक की अनुपस्थिति (नष्ट हो जाने पर) पर ही विवश होकर शेष प्रमाणों पर विचार करने का विधान था।[३]

नारद के अनुसार उपर्युक्त तीनों प्रमाणों के अभाव में ही विवशतावश 'दिव्यप्रमाण' को स्वीकार करना चाहिए।[४] लेकिन बृहस्पति ने प्रथम तीन मानवी प्रमाणों के रहने पर भी "नकली रत्नों का व्यापारी, आधि रोकने वाला, बलात्कारी आदि बड़े अपराधों में साक्षियों के रहने पर भी दिव्य परीक्षा को आवश्यक बताया है।[५]

---

१. तद्वदन्धर्मतोऽर्थेषु जानन्नप्यन्यथा नरः।
न स्वर्गाच्च्यवते लोकाद् दैवीं वाचं वदन्ति ताम्।। मनु०, ८/१०३,
शूद्रविट्क्षत्रविप्राणां यत्रर्तोक्तौ भवेद्वधः।
तत्र वक्तव्यमनृतं तद्धि सत्याद्विशिष्यते। वही, ८/१०४
वर्णिनां हि वधो यत्रतत्रसादयनृतं वदेत्। याज्ञ०, २/६३
नानृतवचने दोषो जीवनं चेत्तदाधीनम्। गौ०ध०सू०, २/४/२४, २५,
उद्वाहकाले रति संप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेयुः पञ्चानृतान्याहुरपातकानि।। वाशिष्ट १६/३६

२. वर्णिनां हि वधो यत्र तत्र साक्ष्यनृतं वदेत्।
तत्पावनाय निर्वाप्यश्चरुः सारस्वतो द्विजैः। याज्ञ० स्मृ०, २/८३

३. शुक्र ४/५/२०९-२१३

४. साक्षिण एव ग्राहया न दिव्यं ... । याज्ञ०स्मृ० २/८०, पर मिताक्षरा।
युक्तिष्वप्य समर्थासु शपथैरेनमर्दयेत्।
देशकालबलापेक्षमग्न्यम्बुसुकृतादिभिः।।
यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम्।
तदा दिव्यैः परीक्ष्येत शपथैश्च पृथग्विधैः। ना०स्मृ०, ४/२३९, २४७

५. बृहस्पति, १०/१/२, १६/१७

भुक्ति–

प्रमाणों में लिखित तथा भुक्ति का विशेष महत्व है। साक्षी की अपेक्षा लिखित तथा भुक्ति अधिक प्रामाणिक मानी जाती है।[१] धर्मशास्त्रों के अनुसार ऋण आदि ग्रहण करने पर उसे लिपिबद्ध करना चाहिए। विवाद के किन्हीं विषयों में तो भुक्ति को लेख से भी अधिक प्रामाणिक माना जाता था।[२] अचल सम्पत्ति में लेख एवं साक्ष्य के रहते हुए भी भुक्ति सर्वोपरि थी। यहाँ तक की लेख (आगम) के बिना केवल "भुक्ति" और "साक्ष्य" ही निर्णयात्मक हो सकते थे। अर्थात् दूसरे शब्दों में आगम (लेख) साक्ष्य से भी ऊपर थे व सागम भुक्ति साक्ष्य, लेख व दिव्य सभी से ऊपर थी।[३] वस्तुतः ये तीनों (साक्ष्य, लेख व भुक्ति) एक दूसरे पर आधारित माने गये थे। बिना आगम के भुक्ति सिद्ध करनेवाला चोर के समकक्ष दण्डित होता था।[४]

वस्तु पर मनुष्य के अधिकार को भुक्ति या भोग कहा जाता था। व्यक्ति के द्वारा किसी वस्तु को अपने उपभोग के द्वारा कम अथवा अधिक समय तक अपने अधिकार (स्वामित्व) में रखना भुक्ति कहलाता था। यह भुक्ति दो प्रकार की थी १. सागम (साधिकार) एवं २. अनागम (अनाधिकार)। स्थूल रूप में आगम सहित (लिखित प्रमाणसहित) भुक्ति को ही प्रामाणिक माना जाता था।[५] किन्तु सभी परिस्थितियों में ऐसा नहीं होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि लगातार बीस वर्षों तक किसी भूमि के स्वामी के नेत्रों के समक्ष बिना स्वामी के विरोध के कोई भूमि

---

१. लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणत्रयमिष्यते।
प्रमाणेषु स्मृता भुक्तेस्सल्लेख्यसमता नृणाम्।। कात्यायन, उद्धृत स्मृ०च० २, पृ० १५३

२. रथ्यानिर्गमनद्वारजलवाहादिसंशये।
भुक्तिरेव तु गुर्वी स्यात् प्रमाणेष्विति निश्चयः।। वही०,
विद्यमानेऽपि लिखिते जीवत्स्वपि हि साक्षिषु।
विशेषतस्स्थावराणां यन्न भुक्तं न तत्दस्थिरम्। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् /७७

३. त्रिविधस्यास्य दृष्टस्य प्रमाणस्य यथाक्रमम्।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं भुक्तिस्तेभ्यो गरीयसी।। ना०स्मृ० ४/७६

४. भोगं केवलतो यस्य कीर्त्तयेन्नागम क्वचित्।
भोगच्छलापदेशेन स विज्ञेयस्तु तस्करः।। वही, ८६ व ८७

५. भुक्तिस्तुद्विविधा प्रोक्तासागमा नागमातथा।
त्रिपुरुषी या स्वतन्त्रा नागमाल्पातु सागमा।। कात्यायन मतसङ्ग्रह, २६९, २३४ २३५
संभोगो दृश्यते यत्र न दृश्येतागमः क्वचित्।
आगमः कारणं तत्र न संभोग इति स्थितिः।। मनु०, ८/२००
आगमोऽभ्यधिको भोगाद्विना पूर्वक्रमागतात्।
आगमेऽपि बलं नैव भुक्तिः स्तोकापि यत्र नो।। याज्ञ०स्मृ०, २/२७

का उपभोग करता है तो उस स्थिति में भूमि पर से उसका अधिकार छिन जाता है।[१] लेकिन चलसम्पत्ति (धन जैसी) का दस वर्षों तक दूसरे के द्वारा उपभोग करने पर स्वामी का अधिकार नष्ट हो जाता है।[२] जबकि गौतम के अनुसार गाय, बैल आदि पशु, उपवन, वाटिका आदि भूमि और स्त्रियों पर (दासियों) पर अल्पसमय (७ वर्षों से कम समय) तक भी उपभोग करने पर भोक्ता का स्वामित्व बन जाता है।[३] याज्ञवल्वय के अनुसार आधि (बंधक), सीमा, उपनिक्षेप, जड़ (मन्दबुद्धि), बालक का धन, उपनिधि, राजधन, स्त्रीधन, श्रोत्रिय का धन आदि दूसरे के द्वारा दस या बीस वर्षों तक भोगे जाने पर भी अपने स्वामी के अधिकार से वंचित (हीन) नहीं होते हैं।[४]

अचल सम्पत्ति के अन्तर्गत निम्नोक्त सम्पत्तियों को रखा गया है। यथा-विद्या, क्रय, बंधक, विजय, दहेज, वसीयत एवं सन्तानहीन सम्बन्धी की सम्पत्ति।[५] बंधक को छोड़कर शेष सभी प्रकारों की नारद ने पुष्टि की है।[६] गौतम तथा वसिष्ठ ने ब्राह्मणों द्वारा दान ग्रहण, वैश्यों के द्वारा व्यापार के रूप में प्राप्त, शूद्रों के द्वारा सेवा के पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त सम्पत्ति को भी अचल सम्पत्ति के अन्तर्गत माना है।[७] लेकिन विद्याध्ययन के हेतु गये हुए ब्रह्मचारी की ३६ वर्षों तक, शिल्प सीखने

---

१. पश्चतोऽब्रुवतो भूमेर्हानिर्विंशतिवार्षिकी।
परेणभुज्यमानाया धनस्य दशवार्षिकी।। याज्ञ०स्मृ०, २/२४ अपि च,
अजडश्चेदपौगण्डो विषये चास्य भुज्यते।
भग्नं तद्व्यवहारेण भोक्ता तद् द्रव्यमर्हति।। मनु०, ८/१४८

२. अजडापौगण्डधनं दशवर्षभुक्तं परैः संनिधौ भोक्तुः। गौ०ध०सू०, २/३/२४।
यत्किञ्चिद्दश वर्षाणि सन्निधौ प्रेक्षते धनी।
भुज्यमानं परैस्तूर्ष्णीं न स तल्लब्धुमर्हति।। मनु०, ८/१४७, ना०स्मृ०, ४/७९-८०

३. पशुभूमिस्त्रीणामनतिभोगः। गौ०ध०सू०, २/३/३६

४. आधिसीमोपनिक्षेपजडबालधनैर्बिना।
तथोपनिधिराजस्त्रीश्रोत्रियाणां धनैरपि।। याज्ञ०, २/२५ अपिच०,
आधिःसीमा बालधनो निक्षेपोपनिधिस्त्रियाः।
राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न संभोगेन हीयते।। वासिष्ठ ध०सू०, १६/१८,
न स्त्रीणामुपभोगस्स्याद्विना लेख्यं कथंचन।
राजश्रोत्रियवित्ते च जडबालधने न च।। बृहस्पति, उद्धृत स्मृ०च० २ पृ० १५९, ना०स्मृ०, ४/८३

५. बृहस्पति, ७/२४

६. आधिः सीमा बालधनं निक्षेपोपनिधीस्त्रियः।
राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न भोगेन प्रणश्यति।। ना०स्मृ०, ४/ऋणादानम् ८१

७. पैतृकं क्रीतमाधेयमन्वाधेयं प्रतिग्रहम्।
यज्ञादुपगमो वेणिस्तथा धूमशिखाष्टमीति।। वाशिष्ठ, १६/१६,
ब्राह्मणस्याधिकं लब्धम्। क्षत्रियस्य विजितम्। निविष्टं वैश्यशूद्रयोः। गौ०ध०सू०, २/१/४०-४२

हेतु गये हुए की कार्य सिद्धि पर्यन्त व धनोपार्जन हेतु गये हुए व्यक्तियों की सम्पत्ति २० वर्षों तक अन्यों के द्वारा भोगी जाने पर भी स्वामित्व को प्राप्त नहीं करती थी।[१] याज्ञवल्क्य व नारद के अनुसार यदि भोगकर्ता तीन पीढ़ियों से लगातार सम्पत्ति का भोग करता था तो भोगकर्ता का अधिकार मान लिया जाता था क्योंकि दीर्घकालीन भोग वैधानिक समझा जाता था।[२] लेकिन विवाद चलते हुए यदि बीच में ही अभियुक्त की मृत्यु हो जाती थी तो ऐसी स्थिति में उसके उत्तराधिकारी (पुत्र) को आगम (लेख) प्रस्तुत करना पड़ता था। उस स्थिति में केवल भोग प्रमाणित नहीं माना जाता था।[३]

भुक्ति के सम्बन्ध में स्मृतियों में स्मार्तकाल व अस्मार्तकाल का भी उल्लेख किया गया है। स्मार्तकाल का तात्पर्य है मानवस्मरण के अन्तर्गत का काल। मिताक्षरा में स्मार्तकाल को सौ वर्षों का माना गया है। सौ वर्षों तक साक्षियों के लिए भोग के विषय में बताना सम्भव था। अतः स्पष्ट है कि सौ वर्षों से कम भोग के उद्‌गम के लिए मौखिक साक्ष्य लिया जा सकता है। और भोगकर्ता को आगम सिद्ध करना पड़ता था। स्मृतिचन्द्रिका २/पृ० ७२ में १०० वर्ष के स्थान पर १०५ वर्ष को युक्तिसंगत माना है, क्योंकि तीन पीढ़ियों (नारद के अनुसार) तक के लिए प्रति पीढ़ी को ३५ वर्षों तक चलना चाहिए। स्मार्तकाल से ऊपर अस्मार्तकाल है। अस्मार्तकाल में तीन पीढ़ियों तक का भोग पर्याप्त होता था।[४]

दिव्य प्रमाण–

सत्य व अनृत का विवेक करने के लिए मानुषी व दैवी प्रमाणों की सहायता ली जाती थी। मानवी प्रमाणों से सत्यानृत का विवेक न होने की स्थिति में ही

---

१. स्वजातिभिर्वान्थवैश्च भुकृंयत् स्वजनैस्तथा।
भोगात्तत्रतः सिद्धिः स्यात् भोगमन्येषुकल्पयेत्।।
कात्यायनमतसङ् ग्रह, २४४, न श्रोत्रियप्रव्रजितराजपूरुषैः। गौ०ध०सू०, २/३/३५,
धर्मोऽक्षयः श्रोत्रिये स्याद् भयं स्याद्राजपुरुषे।
स्नेहः सुहृदवान्धवेषु भुक्तमेतैर्नहीयते।। बृहस्पति, स्मृ०, च० २, पृ० ६९

२. याज्ञ० स्मृ० १, २/२३
अन्यायेनापि यद्भुक्तं पितुः पूर्वस्तैरैस्त्रिभिः।।
न तच्छक्यमपाहर्तुं क्रमास्त्रिपुरुषागतम्।। ना०स्मृ०, ४/९१

३. योऽभियुक्तः परेतः स्यात्तस्य रिक्थी समुद्धरेत्।
न तत्र कारणं भुक्तिरागमेन विना कृता। याज्ञ०, २/२९
अपिच, तथारुढ़विवादस्य प्रेतस्य व्यवहारिणः।
पुत्रेण सोऽर्थः संशोध्यो न तं भोगपदं नयेत्।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् ९३

४. स्मार्तेकाले क्रियाभुक्तेः सागमाभुक्तिरिहयते।
अस्मार्ते लिखिताभावे क्रमात्त्रिपुरूषागतः।। वही /८९

दिव्यप्रमाण का आश्रय लिया जाता था।[१] सत्य की खोज में दिव्य अंतिम साधन कहा गया है।[२] जो अभियोग मानवप्रमाण से सिद्ध नहीं होते थे उनको दिव्यों के द्वारा तय किया जाता था। दिव्यों से विवाद का परीक्षण एवं निर्णय शीघ्रातिशीघ्र हो जाता था।

ऋग्वेद की वह उक्ति दिव्यों के प्रभाव को सिद्ध करती है जिसमें दीर्घतमा यह प्रार्थना करता है कि दशगुणी लकड़ियाँ या ईंधन की अग्नि उसे जला न सके, वे नदियाँ जिसमें उसके हाथ-पाँव बाँधकर उसको फैंक दिया गया है, उसे डुबो न सकें।[३] "वह कुल्हाडी गर्म कर रहा है।"[४] "गर्म कुल्हाडी का पकड़ना"[५] आदि प्रसंग दिव्यों की आदिकालीन प्रामाणिकता प्रदर्शित करते हैं।[६]

न्यायिक प्रक्रिया में दिव्यों का अपना विशिष्ट महत्व रहा था। सन्देह की निवृत्ति हेतु दिव्यों का प्रयोग अभियोग के अन्तिम चरण में किया जाता था। वादी व प्रतिवादी में से किसी एक की सहमति पर दिव्य मान्य होता था।[७] साहस, निक्षेप, मानहानि एवं शक्तिप्रयोग, स्त्री की पवित्रता परखने, स्थावर सम्पत्ति, गम्भीर या अधिक धनवान वाले विवादों में दिव्य का प्रयोग होता था। राजद्रोह या महापातकों में भी दिव्यों का सहारा लिया जाता था।[८]

---

१. पुण्याहे प्रातरग्नाविद्धेऽपामन्ते राजवत्युभयतस्समाख्याप्य सर्वानुमते मुख्यस्सत्त्यं प्रश्नं ब्रूयात्। आ०ध०सू०, २/२९/७

२. प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते। याज्ञ०, २/२२

३. मा मामेधोदशतयश्चितोधाक् प्रयद्धांबद्धस्तयनिखदतिक्षाम्।
न भागरन्नद्योमातृतयादासायदांसुसमब्धमवाधुः।। ऋग्०, १/१५८/४२५

४. परशुं चिद्वि तपति शिम्बलं चिद्वि वृश्चति।
उरवा चिदिन्द्र येषन्ती प्रयस्क्त फेनमस्यति। ऋग०, ३/५३/२२

५. छान्दोग्योपनिषद्, ६/१६/१/२

६. आदधामि ते पदं समिद्धेजातवेदसि।
अग्निः शरीरं वेवेष्ट्रासुंवागपिगच्छतु।। अथर्व, २/१२/८
सन्देहे लिङ्गतो देवेनेतिविचित्य। आ०ध०सू०, २/२९/६
सुविचितं विचित्या दैवप्रश्नेभ्यो राजा दण्डाय प्रतिपद्यत।। वही, २/११/३

७. अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक्।। मनु०, ८/११४
तुलाग्न्यापो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये।
महाभियोगेष्वे तानि शीर्षकस्थेऽभियोक्तरि।। याज्ञ० २/९५, ना०स्मृ० ४/२५१

८. याज्ञ०स्मृ०, २/९५; स्त्रीणांशीलाभियोगेषु स्तेयसाहसयोरपि एष एव विधिर्दृष्टः सर्वार्थापह्नेषु च। ना०स्मृ०, ४/२४५ यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु साक्षिणांनास्तिसम्भवः।
साहसेषु विशेषेण तत्र दिव्यानि दापयेत्। पितामह, उद्धृत स्मृ०च० २ पृ० ९५

दिव्यों की संख्या के विषय में धर्मशास्त्रों में पर्याप्त भिन्नता मिलती है। सर्वप्रथम, मनु ने केवल दो ही दिव्यों की सत्ता स्वीकार की है– १. अग्निपिंड को हाथ में ले जाना। २. जल में डुबाना (कूदना)[१] संभव है मनुस्मृति के कुछ अंश समय की गति में लुप्त हो गये हों। याज्ञवल्क्य ने दिव्यों की संख्या पाँच स्वीकार की है– तुला, विष तथा कोश को अग्नि व जल के साथ मिलाया गया है। नारद स्मृति में भी पाँच प्रकार के दिव्य मिलते हैं।[२] लेकिन मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति के ऊपर) में एक श्लोक उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार "तप्तमाष" (तप्तस्वर्णखंड कहीं इसे लौहखंड भी माना गया है) व तण्डुल (चावल) नामक दो अन्य दिव्यों को माना गया है।[३] बृहस्पति दिव्यों की संख्या में और आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने दिव्यों की संख्या नौ मानी है।[४] शुक्र ने दिव्यों के सात प्रकार माने हैं[५]

दिव्य परीक्षाओं की महत्ता इसी से स्पष्ट हो जाती है कि उसे न स्वीकार करनेवाले को "धर्म तस्कर"[६] कहा जाता था। दिव्य को स्वीकार न करने पर धर्म व अर्थ के नाश का भय दिखाया जाता था। ऐसा माना जाता था कि इसके स्वीकार कर्ता की कीर्ति दोनों लोकों में फैलती थी। दिव्य परीक्षाओं को वर्णानुसार निर्धारित किया गया था। जैसे-अग्नि का दिव्य क्षत्रिय के लिए, तुला ब्राह्मण के लिए, जल वैश्य के लिए एवं विष का दिव्य शूद्रों के लिए कहा गया है।[७] वैसे राजा को यह अधिकार था कि वह किसी भी वर्ण के लिए कोई भी दिव्य निर्धारित कर सकता था, परन्तु विष परीक्षा से ब्राह्मणों को मुक्त रखा गया था।[८]

---

१. अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
मनु०स्मृ०, ८/११४ परन्तु नारद ने ४/२५१ में मनु के द्वारा पाँच दिव्यों को स्वीकार करने का उल्लेख किया है।

२. घटोऽग्निरुदकं चैव विषं कोशश्च पञ्चमः।
उक्तान्येतानि दिव्यानि विशुद्ध्यर्थं महात्मनाम्।। ना०स्मृ०, ४ ऋणादानम् २५२

३. घटोऽग्निरुदकं ... तण्डुलाश्चैव दिव्यानि
सप्तमस्तप्तमाषकः इति पितामहस्मरणात्।।
याज्ञ०स्मृ०, २/९५ पर मिताक्षरा में उद्धृत।

४. बृहस्पति, १०/४-५

५. अग्निर्विषं घटस्तोयं धर्माधर्मौ च तण्डुलाः।
शपथाश्चैव निर्दिष्टा मुनिभिर्दिव्यनिर्णये।। शुक्र, ४/५/२३५

६. स्वमहत्त्वाच्च यो दिव्यं न कुर्याज्ज्ञानदर्पतः।
वसिष्ठाद्याश्रितं नित्यं स नरो धर्मतस्करः।। शुक्र, २/५/२३२-२३३

७. तुला स्त्रीबालवृद्धान्धपङ्गुब्राह्मणरोगिणाम्।
अग्निर्जलं वा शूद्रस्य यवाः सप्त विषस्य वा। याज्ञ०स्मृ०, २/९८, ना०स्मृ० ४/३३५

८. ग्रीष्मे तु सलितं प्रोक्तं विषं काले सुशीतले।
ब्राह्मणस्य घटो देयः क्षत्रियस्याग्निरूच्यते।।
वैश्ये तु सलिलं देयं विषं शूद्रे प्रदापयेत्।
न ब्राहमणे विषं दद्यान्न लोहं क्षत्रियो हरेत्।।

साक्षी, लेख व भोग प्रमाणों के अभाव में विवशतावश ही दिव्य प्रमाणों का प्रयोग किया जाता था।[१] पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष दोनों की सहमति के उपरान्त ही दिव्य प्रमाणों का प्रयोग किया जाता था। यदि एक पक्ष दिव्य प्रमाण को अस्वीकृत करता था तो उसका प्रयोग नहीं किया जाता था।[२] मानव प्रमाण के अभियोग के एक अंश को प्रमाणित करने पर भी प्राथमिकता (मानव प्रमाण व दिव्य प्रमाण में से) मानव प्रमाण को ही मिलती थी।[३] यह दिव्य स्थान, ऋतु व पक्षकार की शक्ति पर निर्भर करते थे।[४] जैसा कि पहले कहा जा चुका है दिव्यों का प्रयोग मानहानि, साहस आदि के अतिरिक्त राजद्रोह या महापातकों में भी किया जाता था।[५] बृहस्पति के अनुसार वाक्पारुष्य एवं भूमि सम्बन्धी विवादों में दिव्य प्रमाण निषिद्ध थे।[६] स्त्री की पवित्रता भङ्ग करने वाले के लिए दिव्य परीक्षा अधिक आवश्यक थी।[७] शुक्र ने धरोहर हड़पने के मामलों में व महापातकों में साक्षी के रहते हुए भी दिव्य प्रमाणों को अनिवार्य बताया है।[८]

धर्मशास्त्रों में कुछ विशेष लोगों को दिव्य परीक्षा से मुक्त रखा गया था। यथा व्रतधारी, विपत्तिग्रस्त लोग, तापस एवं स्त्रियाँ, अल्पव्यस्क एवं वृद्ध[९]। याज्ञवल्क्य

---

१. प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति कीर्तितम्।
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते।। याज्ञ० २/२२
प्रमाणहीने वादे तु निर्दोषा दैविकीक्रिया। बृह०स्मृ० उद्धृत स्मृ० च०-२ पृ० ५१

२. रुच्या वाऽन्यतरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः।
विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथपातके।। याज्ञ० २/९६,
इच्छया त्वितरः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः। शुक्र, ४/५/२४८

३. यस्मिन् यस्मिन् विवादे तु साक्षिणां नास्तिसम्भवः।
साहसेषु विशेषेण तत्र दिव्यानि दापयेत्।। पितामह, उद्०स्मृ०च० २, पृ० ९५
यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम्।
तदा दिव्यैः परीक्ष्येत शपथैश्च पृथग्विधैः ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् /२४७

४. ना०स्मृ०, ४/१/३३९

५. ना०स्मृ०, ४/२४२, याज्ञ० २/९५;
गूढ़साहसिकानां तु प्राप्तं दिव्यैः परीक्षणम्।
कात्यायनमतसङ्ग्रह, प्रकान्ते साहसे वा द्वेपारुष्ये दंडवाचिके।
बलोद्भूतेषुकार्येषु साक्षिणी दिव्यमेव वा। वही।

६. वाक्पारुष्ये महीवादे निषिद्धा दैविकी क्रिया– बृहस्पति, ४/१३। आयंगर द्वारा सम्पादित।

७. परदाराभिशापे च ह्यगम्यागमनेषु च
महापातकशस्ते च दिव्यमेव न चान्यथा।। शुक्र, ४/५/२५०

८. महापापाभिशापेषु निक्षेपहरणेषु च।
दिव्यैः कार्य परीक्षेत राजा सत्स्वपि साक्षिषु।। वही, २५७

९. न मज्जनीयं स्त्रीबालं धर्मशास्त्रविशारदैः।
रोगिणश्चपि वृद्धाश्च पुमाँसो ये च दुर्बलाः।। ना०स्मृ०, ४/१/३१३

इससे सहमत नहीं थे इसके अतिरिक्त लुहारों एवं कोढ़ियों को अग्नि के दिव्य,मल्लाहों व श्वास, खाँसी आदि के रोगी को जल के दिव्य तथा तान्त्रिक, मन्त्रप्रयोगकर्ता और योगी को विषदिव्य, मद्यप, जुआरिओं व नास्तिकों को कोष दिव्य वर्जित था।[१] माता-पिता, ब्राह्मण, गुरु, अवयस्क, स्त्री, राजा के हंता, पंचमहापातकी, विशिष्ट सम्प्रदाय, चिह्न रखनेवाले, महादुष्ट, झाड़फूंक करनेवाले, वर्णसंकर, योगिक क्रियाएं करनेवाले व बारम्बार पाप करनेवाले लोग स्वयं दिव्य ग्रहण नहीं कर सकते थे।[२]

दिव्यों के स्थान का भी उल्लेख किया गया है। गम्भीर पापों में मंदिर में, राजद्रोह में राजद्वार पर, वर्णसंकरता में चौराहे पर व अन्य सभी विवादों में न्यायालय में किये जाने का विधान था।[३] निर्जनस्थानों को दिव्य के लिए प्रभावहीन माना जाता था। तुला दिव्य का प्रयोग न्यायालय, राजद्वार, मन्दिर या चौराहे पर ही किया जाता था।[४] रविवार के दिन सूर्योदय या अपराह्न के समय मुख्य न्यायाधीश द्वारा सम्यों या ब्राह्मणों के सम्मुख दिव्य ग्रहण कराये जाते थे। जलदिव्य दोपहर के समय, विषदिव्य रात्रि के अन्तिमप्रहर में होता था। अग्निदिव्य वर्षाऋतु में, तुला शिशिर ऋतु में, जलदिव्य ग्रीष्म ऋतु में उपयुक्त समझा जाता था। जलदिव्य शीत ऋतु में, अग्नि ग्रीष्म में, विष वर्षा में, तुला तीक्ष्ण वायु में निषिद्ध रहती थी।[५] मुख्य न्यायाधीश तथा दिव्य ग्रहणकर्ता को पहले दिन उपवास करना पड़ता था। दोनों को प्रातःकाल स्नान करना आवश्यक था। शोध्य गीले वस्त्र पहने रहता था। न्यायाधीश देवी देवताओं व धर्म की उपासना पूर्वाभिमुख होकर करता था। फिर एक स्वच्छ पत्र पर दिव्य का उद्देश्य लिखकर शोध्य के सिर पर रखकर देवताओं से कहता था कि आप मानव के कार्य से परिचित हैं।[६] तत्पश्चात् दिव्य ग्रहण कराये जाते थे।

---

१. नार्तानां तोयशुद्धिः स्यान्न विषं पित्तरोगिणाम्।
शिवत्र्यन्धकुनरवानां च नाग्निशुद्धिर्विधीयते।।
ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् /२५५, कात्यायनमतसंग्रहः ३१३, ३१६, ३१९

२. कात्यायन, ४३४ - ४३७।

३. वही।

४. एवं विधानि काष्ठानि घटार्थे परिकल्पयेत्।
सभाराजकुलद्वारे सुरायतन चत्वरे।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् /२६५, कात्या० मत सं० ३२५, ३२६

५. सचैलं स्नातमाहूय सूर्योदय उपोषितम्।
कारयेत्सर्वदिव्यानि नृपब्राह्मणसंनिधौ। याज्ञ०, २/९७
वर्षासु वह्निरित्युक्तः शिशिरे तु घटः स्मृतः।
ग्रीष्मे सलिलमित्युक्तं विषं काले तु शीतले। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् /२५४

६. द्यौर्भूमिरापो हृदयं चन्द्रार्काग्नियमानिलाः।
रात्रिः संध्ये च धर्मश्च वृत्तज्ञाः सर्वदेहिनाम्।। मनु०स्मृ० ८/८६, याज्ञ० २/९७-९९

तुलादिव्य–

तुला दिव्य का दिव्यों में प्रथम स्थान है। व्यक्ति के बराबर मिट्टी, बालु, अनाज या कोई ऐसी ही वस्तु का नाप बनाकर दिव्य प्रारम्भ किया जाता था। नारद इस प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करते हैं। सर्वप्रथम, वे तुला की स्थापना, स्तम्भ किस लकड़ी से बनने चाहिए, खम्भों को गाढ़ने की विधि आदि के बारे में विस्तृत वर्णन करते हैं तुला का मजबूती से गाड़ा जाना आवश्यक था[१] वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ किसी पवित्र वृक्ष से दो स्तंभों को काट लिया जाता था। एक स्तम्भ को दो हाथ पृथ्वी में गाड़ दिया जाता था। फिर दूसरे स्तम्भ को पृथ्वी में गड़े स्तम्भ पर पूर्व एवं पश्चिम रख दिया जाता था। तत्पश्चात् दोनों ओर स्तम्भ पर एक-एक तुला पट को लटका दिया जाता था। शोध्य को तुला पर बैठा कर दूसरे पट को मिट्टी या प्रस्तर खण्ड रखकर बराबर भार कर दिया जाता था। फिर शोध्य को तराजू से नीचे उतारकर मंत्रोंच्चारण के साथ पुनः तुला पर चढ़ाया जाता था। इस परीक्षा के समय न वायु चलती हो न वर्षा होती हो इसका ध्यान रखना चाहिए।[२] अभियुक्त को तुला पर चढ़ाकर ब्राह्मण लोग न्याय हेतु देवता का आह्वान करते थे एवं शोध्य स्वयं सत्य बोलने की शपथ लेते हुए देवता की प्रार्थना करता था "तुले ! तुम सत्य का धाम हो, पूर्वकाल में देवताओं ने तुम्हारा निर्माण किया है। अतः कल्याणी ! तुम सत्य को प्रकट करो। मुझे संशय से मुक्त कर दो। मात ! यदि मैं पापी या अपराधी हूँ तो मेरा पलड़ा नीचे कर दो। और यदि मैं दोष रहित हूँ तो मुझे उपर उठा दो।[३]" तत्पश्चात् शोध्य तुला पर चढ़ता था। तुला में उपर उठा व्यक्ति निर्दोष व इसके विपरीत परिस्थिति में व्यक्ति दोषी मान लिया जाता था। नारद ने किसी कारणवश तुला टूटने की दशा में राजा द्वारा शोध्य को निर्दोष घोषित करने की व्यवस्था की है।[४] लेकिन नारद के विपरीत बृहस्पति ने तुला भंग होने की स्थिति में शोध्य को दोषी माना है।[५] लेकिन इन दोनों के विपरीत

---

१. ना०स्मृ० ४/१/२६०-२६६

२. समयैः परिगृह्याथ पुनरारोपयेन्नरम्।
निर्वाते वृष्टिरहिते शिरस्यारौप्य पत्रकम्।। ना०स्मृ० ४/ ऋणादानम् २७६

३. त्वं तुले सत्यधामासि पुरा देवैर्विनिर्मिता।
तत्सत्यं वद कल्याणि संशयान्मां विमोचय।
यद्यस्मि पापकृन्मातस्ततो मां त्वमधो नय
शुद्धश्चेद् गमयोर्ध्वं मां तुलामित्यभिमन्त्रयेत् याज्ञ०, २/१०१-१०२ ना०स्मृ०, ४/२८०-२८१

४. कक्षाछेदे तुलाभङ्गे घटकर्कटयोस्तथा
रज्जुच्छेदेऽक्षभङ्गे च मूर्तितः शुद्धिमादिशेत् ना०स्मृ० ४/ ऋणादानम् २८४, बृह० ८/४९-५२

५. कछच्छेदे तुलाभंगे घटकर्कटयोस्तथा।
रज्जुच्छेदे क्षभंगे वा तथैवाशुद्धिमाप्नुयात्।। वृहस्पति० ८/५२ आयंगर द्वारा सम्पादित,

कत्यायन ने ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण प्रक्रिया के दोहराने का विधान किया है।[१]

अग्नि दिव्य प्रमाण–

याज्ञवल्क्य के अनुसार अग्नि का दिव्य करने वाले के दोनों हाथों में धान मलवाकर हथेलियों पर बने हुए व्रणादि के स्थानों पर अलक्तक रस से रंग दिया जाता था। तत्पश्चात् न्यायाधीश शोध्य के हाथों पर पीपल के सात पत्ते एक साथ उपर नीचे करके रख देता था।[२] व उन पत्तों को सात श्वेत धागों से लपेट दिया जाता था। इसके पश्चात् दिव्य करनेवाला अग्नि से प्रार्थना करता था– "हे अग्निदेव। तुम सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हो। हे पवित्र करनेवाले क्रान्तदर्शी कवि, पुण्य और पाप के साक्षी होकर सत्य को प्रकाशित करिये।[३] तत्पश्चात् शोध्य के हाथों पर पचास पल[४] तौल का लोहे का पिण्ड अग्नि के समान लाल करके उसके हाथ पर रखे व शोध्य तप्त लोहपिण्ड को लेकर धीरे-धीरे सात मण्डल चले।[५] तत्पश्चात् लोहपिण्ड को गिराकर ब्रीहि (चावल) हाथों में मले, (यदि हाथ जलता नहीं है तो वह शुद्ध होता है। यदि जलने के सन्देह से लोह पिण्ड बीच ही में गिर जाये तो उसे पुनः चलना चाहिए[६]। नारद ने इस क्रिया का विस्तार से वर्णन किया है।

जल का दिव्य–

स्मृतिचन्द्रिका (२/पृ० ११६) में जल एवं विष के दिव्य को अपने समय में अप्रचलित कहकर छोड़ दिया है। इस विधि में न्यायाधीश सरोवर के किनारे पहुँचकर शोध्य के कान तक ऊँचा एक तोरण खड़ा करता था। व जल देवता की अर्चना चन्दन, धूप-दीप एवं पुष्प से करता था। तोरण से १५० हाथ (२२५ फीट) की दूरी पर एक लक्ष्य निर्धारित कर दिया जाता था। फिर किसी पवित्र वृक्ष का एक स्तम्भ लेकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य में से किसी एक वर्ण का व्यक्ति जो स्वयं

---

१. कात्यायन, ४४० (काणे अनुवाद)

२. करौविमृदितव्रीहेर्लक्षयित्वा ततो न्यसेत्।
सप्ताश्वथस्य पत्राणि तावत्सूत्रेण वेष्टयेत्। याज्ञ०स्मृ०, २/१०३, ना०स्मृ०, ४/२८७

३. तवमग्ने ! सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक।
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे ! मम।। याज्ञ०स्मृ० २/१०४, ना०स्मृ०, ४/२९१-२९२

४. याज्ञ०स्मृ०, २/१०५

५. षोडशाङ गुलकं ज्ञेयं मण्डलं-तावदन्तरम्। याज्ञ०स्मृ०, २/१०६, नारद ने मण्डल से दूसरे मण्डल का अन्तर ३२ अङगुल माना है–
द्वात्रिंशदङ्गुलं प्राहुर्मण्डलान्मण्डलान्तरम्। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् /२८५

६. याज्ञ०स्मृ०, २/१०३-१०७, बृहस्पति (आयगंर) ८, ५३-५७

में पवित्र आचरण वाला होता था, को नाभि तक जल में खड़ा किया जाता था। जल में खड़ा व्यक्ति शोध्य का शत्रु नहीं होना चाहिए। शोध्य के सिर पर अपराध-विवरण पत्र रख दिया जाता था। शोध्य वरुण देवता की उपासना करता था व कहता था कि हे वरुण देवता, सत्य के द्वारा मेरी रक्षा करो। जल देवता का आह्वान करके शोध्य जल में खड़े व्यक्ति की जाँघ पकड़कर पानी में डुबकी लगाता था। डुबकी लगाने के साथ ही तोरण से लक्ष्य तक एक बाण छोड़ दिया जाता था। तत्पश्चात् एक तेज दौड़ने वाला व्यक्ति छोड़े गये बाण को वापिस लेकर जब तक लौटता था तब तक शोध्य यदि पूरा डुबकी लगाये रहता था तो उसे निर्दोष माना जाता था। अन्यथा (पूरा न डूबने पर एक अंग के भी दिखाई देने पर) अपराधी मान लिया जाता था।[१]

विष का दिव्य– याज्ञवल्क्य ने विषविधि का संक्षेप में वर्णन किया है। उन्होंने विष को हिमालय से उत्पन्न एवं श्रृंग से निकले ब्रह्मा का पुत्र कहा है। शोध्य विष की प्रार्थना करते हुए कहता है– "विष। तुम ब्रह्मा के पुत्र हो व सत्यधर्म में अधिष्ठित हो, इस पाप से मेरी रक्षा करो, और मेरे लिए अमृत स्वरूप बन जाओ।"[२] तत्पश्चात् विष का भक्षण करता था, विष-पान के उपरान्त शोध्य छाया में बिना खाये-पिये न्यायाधीश की सुरक्षा में रहता था। विष का प्रभाव न होने पर शोध्य को निर्दोष समझा जाता था। पितामह के अनुसार इस विषय में सतर्कता बरतनी चाहिए कि कहीं शोध्य ने विष को प्रभावहीन करने हेतु विद्यमान (जड़ी-बूटियों) औषधि या मन्त्रों का प्रयोग तो नहीं कर लिया है। पूर्ण सन्तुष्ट होने के पश्चात् ही विष पान कराया जाता था।

नारद ने विष की तौल[३] विष के प्रकार[४] (मिला हुआ विष, खराब विष, कालकूट व अलाबु विष को वर्जित माना है।) आदि का विवरण देते हुए यह विधान

---

१. याज्ञ० स्मृ० २/१०८-१०९
आगतश्च शरग्राही न पश्यति यदा जले।
अन्तजलं यदा सम्यक् तदा शुद्धिं विनिर्दिशेत्।।
अन्यथा न विशुद्धः स्यादेकाङ्गस्यापि दर्शनात्।
स्थानाद्वान्यत्र गमनाद्यस्मिन् पूर्वं निवेशितः।। ना०स्मृ०, ऋणादानम् ३११-३१२

२. याज्ञ०स्मृ०, २/११०, त्वं विषं ब्रह्मणः पुत्रः सत्यधर्मव्यवस्थितः।
शोधयैतं नरं पापात् सत्येनास्यामृती भव।। ना०स्मृ०, ४ ऋणादानम् ३२५

३. विषस्य पलषड्भागाद्भागो विंशतिमस्तु यः।
तमष्टभागहीनं तु शोध्ये दद्यात् घृतप्लुतम्।। वही ४/३२३-३२४

४. भग्नं च चारितं चैव धूपितं मिश्रितं तथा।
कालकूटमलावुं च विषं यत्नेन वर्जयेत्।। वही ४/३२१

प्रस्तुत किया है कि पतझड़ ऋतु में विष परीक्षा न की जाए, व शोध्य व्यक्ति उपवास कर छाँव में खड़े होकर परीक्षा दे।[१] नारद के अनुसार विष देने का कार्य दोपहर, अपराह्न या संध्याकाल में नहीं करना चाहिए अपितु रात्रि के अन्तिम प्रहर में देना चाहिए।[२]

कोश विधि– (कोश दिव्य प्रमाण) धर्मशास्त्रों में कोशविधि से तात्पर्य देवताओं को चढ़ाये जानेवाले जल से है। दुर्गा, आदित्य आदि उग्र देवताओं की गंध, पुष्पादि से पूजा करके पूजित देवताओं की मूर्तियों को शुद्ध जल से स्नान कराया जाता था। स्नान कराये गये जल को न्यायाधीश ले जाता था व शोध्य को तीन अंजली जल पिलाता था। जल पीने से पूर्व शोध्य "सत्येन मामभिरक्ष। याज्ञ०, २/१०८ कहकर अभिषेक के जल की प्रार्थना करता था। जल पिलाने के पश्चात् १४ दिन तक उसके प्रभाव की प्रतीक्षा की जाती थी। और यदि १४ दिनों तक शोध्य पर कोई दैविक या राजकृत विपत्ति नहीं आती थी तो उसे शुद्ध मान लिया जाता था।[३] नारद के अनुसार यह जल प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में ईश्वर में श्रद्धा रखनेवाले व्यक्ति को ही दिया जाता था।[४] व्यसनी व नास्तिकों, को नहीं। शोध्य के लिए उपवास, स्नान व भीगे वस्त्र पहनना आवश्यक था। यदि चौदह दिनों के पश्चात् शोध्य पर कोई विपत्ति गिरती थी तो उसे दोषी नहीं माना जाता था।

तण्डुल दिव्य प्रमाण– इसके विषय में मिताक्षरा में पितामह का उदाहरण देते हुए वर्णन किया गया है।[५] धान से निकले चावलों को मिट्टी के बर्तन में रखकर सूर्य की धूप में सुखाया जाता था। फिर पूजा कार्य पूर्ण करके सूर्य के स्नान के जल में उन चावलों को रातभर भिगोया जाता था। दूसरे दिन प्रातःकाल शोध्य चावलों को तीन बार निगलता है। तत्पश्चात् शोध्य उसे पीपल या भूर्ज के पत्र पर थूकता है। यदि थूक के साथ रक्त आता है अथवा दाँत क्षत हो जाता है या पैर काँपते

---

१. छायानिवेशितो रक्ष्यो दिनशेषमभोजनः।
विषवेगकलमातीतः शुद्धोऽसौ मनुरब्रवीत्।। ना०स्मृ०, ४/३२६
बृहस्पति, ८/६३ कात्या, ४४६-४५२

२. नापराहणे न संध्यायां न मध्याह्ने तु धर्मवित्।
शरदग्रीष्मवसन्तेषु वर्षासु च विवर्जयेत्।। ना०स्मृ०, ४ ऋणादानम् ३२०

३. सप्ताहाभ्यन्तरे यस्य द्विसप्ताहेन वाशुभम्।
प्रत्यात्मिकं तु दृश्येत् सैव तस्य विभावना। ना०स्मृ० ४/३३० याज्ञ० २/११२-११३

४. पूर्वाहणे सोपवासस्य स्नातस्यार्द्रपटस्य च।
सशूकस्याव्यसनिनः कोशपानं विधीयते।। ना०स्मृ०, ४/ ऋणादानम् ३२८

५. यथा ह पितामहः- "तण्डुलानां प्रवक्ष्यामि विधिं भक्षणनोदितम्।
...मृन्मये भाजने कृत्वा आदित्यस्याग्रतः शुचिः।। याज्ञ०, मिताक्षरा, तण्डुलविधि, पृ० २६३

हैं तो उसे अपराधी माना जाता है और रक्त न निकलने पर उसे (अन्यथा) शुद्ध मान लिया जाता है।[१] शुक्र ने एक ही श्लोक में तण्डुल व धर्म-अधर्म विधियों का उल्लेख किया है। चोरी, ऋण या अन्य धन सम्बन्धी अपराधों में इसका प्रयोग किया जाता है।[२]

तप्तमाष का दिव्य– यह विधि पितामह ने कही है। जिसका उल्लेख याज्ञवल्क्य की मिताक्षरा टीका में किया गया है। तप्तमाष का अर्थ है– गर्म स्वर्ण-खण्ड। इस विधि के अनुसार सोलह अंगुल व्यास वाले तथा चार अंगुल गहरे ताम्बे, लोहे या मिट्टी के बर्तन में[३] न्यायाधीश बीसपल घृत या तेल डलवाकर उसे खौलाता (उबालता) है अच्छी प्रकार से तप्त उस तेल या घी में एक मासा तौल का स्वर्ण खण्ड डाल देता है। अंगुष्ठ व दो अंगुलियों के योग से शोध्य उस सोने को निकालता है। अंगुलियों में कम्पन न होने पर व उनके न जलने पर उसे शुद्ध मान लिया जाता है। (निर्दोष मान लिया जाता है)।

एक अन्य विधि का भी निर्देश किया गया है जिसके अनुसार किसी सोने, चाँदी, ताम्र या मृन्मय पात्र में गाय के घृत को तपाया जाता है फिर उस घी में सोने, चाँदी, ताँबे या लोहे की अंगूठी डाल दी जाती थी व न्यायाधीश प्रार्थना करता था– "हे घृत, तुम यज्ञों में पवित्रतम वस्तु हो, अमृत हो, यदि शोध्य पापी हो तो तुम उसे जला दो अन्यथा हिम सदृश शीतल हो जाओ। फिर खौलते हुए घी से शोध्य अँगूठी निकालता है। अँगूठी निकालने के पश्चात् तर्जनी ऊँगली पर जलने के निशान न होने पर शोध्य निर्दोष सिद्ध होता है।[४]

धर्म-अधर्म दिव्य प्रमाण– इस दिव्य का प्रयोग शारीरिक चोट उत्पन्न करने वाले, धन सम्बन्धी विवादी व पापमुक्ति के लिए प्रायश्चित करनेवाले लोगों के लिए किया जाता है।[५] नारद ने इस विधि का उल्लेख नहीं किया है लेकिन बृहस्पति इसका विस्तार से वर्णन करते हैं।[६] इस विधि में धर्म की रजत मूर्ति तथा अधर्म की सीसे या लोहमूर्ति का निर्माण किया जाता था। अथवा न्यायाधीश स्वयं भूर्ज (भोज) पत्र

---

१. नारद, ४, ३३७ - ३४२ बृहस्पति, ८/६६-६८

२. अधर्मधर्ममूर्तीनामदृष्टहरणं तथा।
कर्षमात्रांस्तण्डुलांश्च चर्वयेच्च विशङ्कितः। शुक्रनीति, ४/५/२४१

३. सौवर्णं राजतं वापि ताम्रं वा षोडशाङगुलम्।
चतुरङ्गुलखातं तु मृन्मयं वाऽथ मण्डलम्।। याज्ञ०स्मृ० मिताक्षरा, तप्तमाषविधि, पृ० २६३

४. ना०स्मृ०, ४ ऋणादानम् ३४५-३४८

५. अधुना संप्रवक्ष्यामि धर्माधर्मपरीक्षणम्।
हन्तृणां याचमानानां प्रायश्चित्तार्थिनां नृणाम् इति।
पितामह, याज्ञ०स्मृ० मिताक्षरा में उद्धृत० पृ० २६४

६. बृहस्पतिस्मृति, ८/८२-९२ (आयंगर द्वारा सम्पादित)

अथवा वस्त्र पर धर्म व अधर्म का चित्र श्वेत व कृष्ण वर्ण के बनाता था। इन चित्रों या मूर्तियों पर पंचगव्य (घृत, दूध, दही, गौमूत्र, गोबर) को छिड़का जाता था। श्वेत पुष्पों से धर्म की तथा कृष्ण पुष्पों से अधर्म की पूजा की जाती थी। इसके पश्चात् न्यायाधीश ब्राह्मणों की उपस्थिति में दोनों चित्रों अथवा मूर्तियों को मिट्टी के या गोबर के दो पिंडों पर रखता था। फिर उन पिण्डों को गोबर से लिपे पुते स्थान पर एक नये बर्तन में रखा जाता था। तत्पश्चात् न्यायाधीश देवताओं व लोकपालों का आह्वान करता था। एक पत्र पर अपराध लिखकर शोध्य के सिर पर रख देता था। तत्पश्चात् शोध्य कहता था कि "यदि मैं निरपराधी हूँ तो धर्म की मूर्ति मेरे हाथ में आ जाये। फिर शोध्य मिट्टी के बर्तन से एक पिण्ड निकालता था यदि धर्म की मूर्ति पिंड हाथ में आ जाता था तो वह निर्दोष समझा जाता था और अधर्म की मूर्ति पिंड निकल आने पर दोषी समझा जाता था।[१] शुक्रनीति के अनुसार आँख पर पट्टी बाँधकर धर्म की मूर्ति उठानी पड़ती थी।[२]

फाल का दिव्य– इस दिव्य का वर्णन बृहस्पति स्मृति, स्मृतिचन्द्रिका[३] व्यवहारप्रकाश (पृ० २१८) में मिलता है। इसमें हल के लोहे के फाल को जो तौल में बारह पलों वाला, आठ अंगुल लम्बा एवं चार अंगुल चौड़ा हो उसे तपाकर लाल किया जाता था। जिसे चाटकर शोध्य को अपनी निर्दोषिता प्रमाणित करनी पड़ती थी।[४] कहीं-कहीं पर इस दिव्य को पशु चोरों के लिए बताया गया है।[५] शुक्र द्वारा वर्णित अग्नि दिव्य के संदर्भ में लाल तपे लोहे के पत्तरों को चाटने का नियम बृहस्पति द्वारा वर्णित उक्त दिव्य के समान है।[६]

शपथ– दिव्य के साथ-साथ शपथ को भी ईश्वरीय प्रमाण की कोटि में रखा जाता है। मानुषी प्रमाणों में साक्षी की आवश्यकता प्रायः तीनों प्रकार के प्रमाणों में पड़ती है परन्तु ईश्वरीय प्रमाण (दिव्य व शपथ) में साक्षी की आवश्यकता नहीं पड़ती है, अथवा वहाँ पर ईश्वर ही साक्षी के रूप में रहता है। वही निर्णय का कारण बनता

---

१. याज्ञ० स्मृ० दिव्यप्रकरण, पर मिताक्षरा, पृ० २६४

२. अधर्मधर्ममूर्तीनामदृष्टहरणं तथा।
कर्षमात्रांस्तण्डुलांश्चचर्वयेच्च विशङ्कितः शुक्रनीति, ४/५/२४१

३. स्मृ० च० २ पृ० ११९

४. बृहस्पति, स्मृ० ८/७९-८१ (आयंगरद्वारा सम्पादित)

५. वही, ८/३१

६. तप्तायोगोलकं धृत्वा गच्छेन्नव पदं करे।
तप्ताङ्गारेषु वा गच्छेत् पद्भयां सप्त पदानि हि।
तप्ततैलगतं लोहमाषं हस्तेन निर्हरेत्।
सुतप्तलोहपत्रं वा जिह्वया सँल्लिहेदपि।। शुक्र० ४/५/२३७-२३८

है। नारद ने शपथ व दिव्य में भेद नहीं किया है।[१] मनु का भी कथन है कि जहाँ पर वादी व प्रतिवादी के पक्षों के समर्थन के लिए कोई साक्षी नहीं होता है व तत्त्व निर्णय नहीं होता है तो स्थान, समय एवं विवादी की शक्ति के अनुकूल शपथ या दिव्य होना चाहिए।[२] शपथ की प्रामाणिकता बताने के उद्देश्य से मनु इतिहास का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि महर्षियों तथा देवों ने भी कार्य के लिए पुरा काल में शपथ की थी। वशिष्ठ ऋषि ने भी यवनपुत्र सुदास राजा के समक्ष शपथ का आश्रय लिया था।[३]

लेकिन मनु ने वृथा शपथ करने का निषेध किया है। बुद्धिमान मनुष्य को हर छोटे काम के लिए शपथ नहीं करनी चाहिए क्योंकि वृथा शपथ करने से इहलोक व परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।[४] मनु ने पुत्र अथवा स्त्री के सिर को स्पर्श करके शपथ करने का निर्देश दिया है।[५] नारद के अनुसार छोटे अपराधों में शपथ व बड़े अपराधों में दिव्य परीक्षा होती थी।[६] बृहस्पति भी अर्थमूल व हिंसामूल के छोटे विवादों में शपथ को प्रयुक्त करते हैं व उनका प्रकार बताते हैं। शुक्र ने दिव्य के प्रकारों में अन्तिम प्रकार शपथ को माना है। उनके अनुसार एक सहस्रमुद्रा के षोडषांश के अपहृत करने पर "शपथ" दिव्य की परीक्षा की जानी चाहिए।[७] कौटिल्य ने दिव्यों का उल्लेख नहीं किया है।

---

१. यदा साक्षी न विद्येत विवादे वदतां नृणाम्।
तदा दिव्यैः परीक्ष्येत शपथैश्च पृथग्विधैः।। ना०स्मृ०, ४/२४७

२. असाक्षिकेषु त्वर्थषु मिथो विवदमानयोः।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लभ्भ्येत्। मनु०स्मृ० ८/१०९

३. महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः।
वसिष्ठश्चापि शपथं शेपे पैजवने नृपे। मनु०स्मृ०, ८/११०

४. न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः।
वृथा हि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह च नश्यति।। मनु०, ८/१११ देखिए, शुक्रनीति, ४/५/२४२

५. अग्निं वाहारयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत्।
पुत्रदारस्य वाप्येनं शिरांसि स्पर्शयेत्पृथक्। मनु०स्मृ० ८/११४

६. महापराधे दिव्यानि दापयेत्तु महीपतिः।
अल्पेषु तु नृपश्रेष्ठः शपथैः श्रावयेन्नरम्। ना०स्मृ० ४/२४९
सत्यं वाहनशस्त्राणि गोबीजकनकानि च।
देवब्राह्मणपादाश्च पुत्रदारशिरांसि च।
एते तु शपथाः प्रोक्ताः स्वल्पेऽर्थे सुकरास्सदा। वही, २४७-२४९

७. सहस्रेऽपहृते चाग्निः पादोने च विषं स्मृतम्।
त्रिभागोने घटः प्रोक्तो ह्यर्धे च सलिलं तथा।।
धर्माधर्मो तदर्धे च ह्यष्टमांशे च तण्डुलाः।
षोडशांशे च शपथा एवं दिव्यविधिः स्मृतः। शुक्रनीति, ४/५/२४४-२४५

उपर्युक्त समस्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि साक्षी आदि के द्वारा यथार्थ तत्त्व का निर्णय करना संभव न होने पर ही दैवी शक्ति का आश्रय लेकर वास्तविकता का निर्णय किया जाता था। प्राचीनकाल के न्यायाधीश सत्य के अन्वेषण में कोई भी कसर शेष नहीं रखते थे। सत्य की खोज उत्सुकता व तत्परता से की जाती थी। इससे यह सिद्ध होता है कि न्यायाधीश या जज की सत्य की खोज में इतनी उत्सुकता व आयास इसलिए किया जाता था कि सत्य का यथार्थ निर्णय हो सके व राजा तथा न्यायाधीश पर अनवधानता से अदण्डय को दण्ड देने का दोष न लग पाये।[१] पाप से बचने के लिए सब प्रकार का कष्ट उठाकर भी सत्य की खोज की जाती थी।

इस प्रकार अनेक प्रकार के आयास अंगीकार करके सत्य का अन्वेषण करना हिन्दू शासन पद्धति की महत्ता का द्योतक है।

---

१. अदण्डयान् दण्डयन् राजा दण्डयांश्चैवाप्यदण्डयन्
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति। मनु० स्मृ० ८/१२८

सप्तम परिच्छेद

वाद का निर्णय एवं पुनर्न्याय

न्यायप्रक्रिया के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए यह देखा गया है कि किसी भी वाद के निर्धारण में चार पाद कहे गये हैं– भाषापाद, उत्तरपाद, क्रियापाद व निर्णय। उपर्युक्त चार पादों में से भाषापाद ही व्यवहार (न्यायप्रक्रिया) का प्राण माना गया है क्योंकि उसी के ऊपर संपूर्ण व्यवहार आधारित रहता है। भाषा अथवा प्रतिज्ञा का ही क्रियात्मक स्वरूप द्वितीय तथा तृतीयपाद रहता है। अत्यधिक क्रियाशील होने के कारण ही उसे क्रियापाद कहा जाता है। क्रियापाद के उपरान्त व्यवहार का चतुर्थ पाद "निर्णयपाद" आता है। इसी से भाषा की सिद्धि अथवा असिद्धि होती है। जय-पराजय का निर्णय होने के कारण ही इसे "निर्णयपाद" कहा जाता है। निर्णय के समय वादी व प्रतिवादी को हटा दिया जाता था।[१] याज्ञवल्क्य ने "निर्णय" को "सिद्धि" कहा है।[२] भोग, लेख व साक्षी आदि त्रिविध प्रकार के प्रमाणों, हेतु (अनुमान), सदाचार अर्थात् (देश, जाति व परिवार की परम्परायें), वादी की सम्मति व शपथ व दिव्य व राजा की आज्ञा इन आठों बातों पर विचार करने के पश्चात् किसी विवाद पर निकलने वाले निष्कर्ष को "निर्णय" कहा जाता है।[३] गौतमधर्मसूत्र में वेदादि के अनुकूल देश, जाति व कुल के धर्मों को भी प्रमाण माना गया है। उन्होंने "निर्णय" (न्याययुक्त अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना) में तर्क को भी एक उपाय माना है व निर्णय करने में तर्क द्वारा विचार-विमर्श करने पर भी बल दिया है।[४] जिस विवाद में प्रत्येक प्रकार के प्रमाण से निर्णय न हो सके उस स्थल पर

---

१. उक्तप्रकाररूपेणस्वमतस्थापिता क्रिया।
राजा परीक्ष्य सभ्यैश्चस्थाप्यो जयपराजयौ। स्मृ०च० २, पृ० १२०
पक्षानुत्सार्य तु सभ्यैः कार्यो विनिश्चयः सदा।
अनुत्सारितनिर्णिक्ते विरोधः प्रेत्य चेह च। ना०स्मृ०, २/४२

२. "तत्सिद्धौ सिद्धिमाप्नोति" इति साध्यसिद्धिपादश्चतुर्थः। याज्ञ०स्मृ०, २/८ पर मिताक्षरा।

३. शुक्र ने प्रमाणों को पृथक्-पृथक् न मानकर एक माना है व निर्णयसिद्धि के छः साधनों का उल्लेख किया है– प्रमाणैर्हेतुचरितैः शपथेन नृपाज्ञया।
वादिसंप्रतिपत्त्या वा निर्णयः षड्विधः स्मृतः।। शुक्रनीति, ४/५/२६५

४. देशजातिकुलधर्माश्चाऽऽम्नायैरविरुद्धाः प्रमाणम्।...
तेभ्यो यथाधिकारमर्थान्प्रत्यवहृत्य धर्मव्यवस्था।
न्यायाधिगमे तर्कोऽभ्युपायः। तेनाभ्यूह्य यथास्थानं गमयेत्। गौ०ध०सू० २/२/२०-२४

राजाज्ञा ही प्रमाण व निर्णय के रूप में स्वीकार की जाती थी, क्योंकि राजाज्ञा को सर्वोच्च प्रमाण के रुप में मान्यता प्राप्त थी।[१] लेकिन राजा के द्वारा भी निर्णय करना कठिन होने पर त्रयी विद्या में निष्णात ब्राह्मणों से परामर्श लेकर अर्थ का निश्चय किया जाना चाहिए।

नारद स्मृति में निर्णय के चार पादों का उल्लेख मिलता है। धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राजशासन[२] इनमें पूर्वकी अपेक्षा परवर्ती की मान्यता है।[३] अर्थात् नारद के अनुसार चार पादों में राजशासन की औरों की अपेक्षा मान्यता रहती है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि राजा धर्मशास्त्रों के विपरीत अपना निर्णय देने में स्वतंत्र था और न ही उसका यह अर्थ उचित होगा कि व्यवहार को धर्म से अधिक मान्यता मिलती है। यहाँ "धर्म" को बलाबल की दृष्टि से अन्तिम स्थान दिया गया है जिससे राजाज्ञा या राजशासन से धर्म के बाधित होने की भ्रान्ति होती है। वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि ये चारों शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

धर्म से यहाँ तात्पर्य सत्य अथवा शपथ, दिव्य आदि से है, तथा व्यवहार का अर्थ प्रमाण आदि (साक्षी) के द्वारा जो निर्णय किया जाय।[४] बृहस्पति भी कहते हैं कि केवल शास्त्रों का ही आश्रय लेकर निर्णय नहीं करना चाहिए।[५] धर्म और व्यवहार के बलाबल का औचित्य एक और प्रकार में भी संभव है दिव्य के प्रसंग में कहा जा चुका है कि मानवीय प्रमाणों के अभाव में ही ईश्वरीय प्रमाणों (दिव्य-शपथ) को लेना चाहिए, अतः व्यवहार जो कि मानवीय प्रमाण है स्वयमेव ही (शपथ-दिव्य) धर्म को बाधित करता है। कात्यायन के अनुसार भी व्यवहार वहीं

---

१. लेख्यं पत्रं न विद्येत न भुक्तिर्न च साक्षिणः।
न च दिव्यावतारास्ति प्रमाणं तत्र पार्थिवः।
निश्चेतुं येन शक्याःस्युर्वादाः सन्दिग्ध रुपिणः
तेषं नृपः प्रमाण स्यात्स सर्वस्य प्रभुर्मतः। पितामह, उद्०स्मृ०च० २ पृ० २६

२. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम्
चतुष्पादं व्यवहारोऽयमुत्तरः पूर्वबाधकः। ना०स्मृ० १/१०

३. तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु।
चरित्रं पुस्तकरणे राजाज्ञायां तु शासनम्।। वही, ११
(जब वादी की आपत्ति को प्रतिवादी मान लेता है तब वह धर्म है। जब साक्षियों द्वारा प्रमाणित किया जाता है। तब वह व्यवहार है। जब लिखित पत्रों के द्वारा प्रमाण अपेक्षित है तब वह चरित्र, जहाँ राजा की आज्ञा से शासन (निर्णय) किया जाता है वह शासन है।

४. तत्र सत्ये स्थितो धर्मः। बृहस्पति, वीर०मि०, पृ० ८७७
प्रमाणौ निश्चियौ यस्तु व्यवहारः स उच्चते।। वही, पृ० ८७

५. केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो हि निर्णयः। बृह०, वी०मि०, पृ० ८८

धर्म को बाधित करता है जहाँ पर दिव्य वर्जित होता है।[१] अतः स्पष्ट होता है कि धर्म तथा व्यवहार का बलाबल मानवीय प्रमाण तथा ईश्वरीय प्रमाण के प्रसंग में ही किया जायेगा अन्यथा नहीं। सामान्य अवसर में तो धर्म के अनुसार ही व्यवहार होगा।

इसी प्रकार व्यवहार तथा चरित्र के बलाबल में भी औचित्य है। बृहस्पति चरित्र की परिभाषा देते हुए उसे दो प्रकार का मानते हैं। १. जहाँ अनुमान के द्वारा निर्णय किया जाय तथा दूसरा-देशस्थिति के अनुसार जहाँ निर्णय हो। "अनुमान" से तात्पर्य यहाँ पर "भुक्ति" आदि के द्वारा निर्णय किये जाने से है तथा "देशस्थिति" से तात्पर्य लोकाचार से है लोकाचार के अन्तर्गत ही श्रेणी, जाति जानपद आदि में प्रचलित आचार भी आते हैं और मनु ने श्रेणी आदि में पाये जानेवाले नियमों को मान्यता प्रदान की है अतः यहाँ पर लोकाचार तथा व्यवहार में अन्तर आने पर लोकाचार को व्यवहार की अपेक्षा स्वीकार किया गया है व्यवहार को लिखित व लोकाचार को परम्परागत नियम (अलिखित) कहा जा सकता है। लिखित नियमों की समाज के लिए इतनी उपयोगिता नहीं रह जाती है इनकी (लिखित नियमों की) जटिलता को परम्परायें दूर करती है। नारद ने इन्हीं परम्पराओं को स्पष्ट रुप से मान्यता प्रदान की है।

चरित्र (परम्परायें) की अपेक्षा राजशासन अधिक बली माना गया है। लोकाचार के विरुद्ध यदि राजा किसी प्रकार की आज्ञा प्रसारित करता है तब वह लोकाचार की अपेक्षा मान्य समझी जाती है क्योंकि राजा को धर्म की संस्थापना करने वाला कहा जाता है अतः लोकाचार के विरुद्ध वह जिस धर्म की स्थापना करता है वही मान्य होती है। यदि किसी प्रदेश में स्मृतियों के विरुद्ध कोई परम्परा दिखायी देती है तो उसे हटा कर वह नवीन नियम स्थापित कर सकता है।[३]

राजशासन से अभिप्राय यहाँ पर राजा की आज्ञा से है लेकिन "राजशासन" के धर्म, व्यवहार तथा चरित्र की अपेक्षा बली होने का तात्पर्य यह नही है कि राजा धर्म के विरुद्ध भी नियम बना सकता था। राजा को इस प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। नारद के श्लोक का केवलमात्र इतना ही अभिप्राय है कि वह एक निष्पक्ष दर्शक की भाँति सामाजिकों के कार्यों को देखता रहे और जब वह देखे कि औचित्य की अथवा स्मृतियों की सीमा का अतिक्रमण करने वाली परम्परायें

---

१. युक्तियुक्तं तु कार्य्यं स्याद्दिव्यं यत्र विवर्जितम्।
धर्मस्तु व्यवहारेण बाध्यते तत्र नान्यथा। कात्यायन, वीर मि०पृ० ८९

२. अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कीर्तितम्।
देशस्थित्या द्वितीयं तु शास्त्रविद्भिरुदाहतम्। बृहस्पति, वीर०मि०, पृ० ८७

३. न्यायशास्त्रविरोधेन दोषदृष्टेस्तथैव च।
यं धर्मं स्थापयेद्राजा न्याय्यं तद्राजशासनम्।। कात्यायन, वी०मि० व्य०प्र० पृ० ७

सामने आ रही हैं तब वह अपनी आज्ञा से उनको समाप्त कर दे नारद का उक्त श्लोक निर्णय के कार्य में मार्ग प्रदर्शक कहा जा सकता है।

अयोग्य एवं दुष्टों को मार्ग से पृथक् कर प्रत्येक प्रकार के अपराधी को नियन्त्रित करना निर्णय का मुख्य उद्देश्य था।[१] वादपत्रों को सुनकर तथा अपराधी के सम्पूर्ण क्रिया कलापों का परीक्षण करके व गम्भीर अपराधों में गुप्तचर विभाग से परीक्षण कराकर ही निर्णय दिया जाता था।[२] निर्णय सफल पक्षकार को लिखित रुप में दिया जाता था जिसे "जयपत्र" की संज्ञा दी गई थी।[३]

जयपत्र के विषय में मनु तथा याज्ञवल्क्य कुछ नहीं कहते। "जयपत्र" के स्वरुप का वर्णन नारद, बृहस्पति व कात्यायन आदि के द्वारा किया गया है। "जयपत्र" लिखित रूप में राजकीय निर्णयपत्र या आदेशपत्र होता था। अभियोग से सम्बन्धित पूर्वपक्ष व उत्तरपक्ष की साक्षियाँ, वाद-विवाद तर्क, स्मृतिसिद्धान्त (स्मृति सम्बन्धित विधि है) सभ्यों की सम्मति व न्यायाधीश के विवेकपूर्ण विचार आदि विवरण जयपत्र में विस्तारपूर्वक अंकित रहता था। अन्त में न्यायाधीश के हस्ताक्षर के साथ ही न्यायालय की मुहर व राजमुद्रा का अंकन भी होता था।[४] वशिष्ठ का कथन है कि जयपत्र में तद्विषयक पूर्व निर्णयों का भी विवरण देना आवश्यक है।[५] जयपत्र के विषय में शुक्र का कहना है कि जिसमें यथायोग्य कहे गये अभियोग के विषयों का एवं उसके उत्तर में कही हुई बातों का तथा अन्तिम निर्णय का लेख लिखा हो उसे "जयपत्रक" कहते हैं।[६] जयपत्र के कारण भविष्य में विवाद खड़ा नहीं हो सकता था।[७]

---

१. ऋग्, १.३३.१२, कौ०अ०, ६/८८/३

२. यजु० वे०, ८/३४, ८/८५, अग्निपु० अध्याय २५३
उदासीनारिमित्राणां सर्वमेवचिकीषतम्।
पुरे जनपदे चैवाज्ञात्वयं चार चक्षुषा।। महा० (महाभारत) शान्ति पर्व, ८६/२१

३. मभ्यैरेव जितः पश्चाद्राज्ञा शारयः स्वशास्त्रतः।
जयिने चापि देयं स्याद्याथावज्जयपत्रकम्। ना०स्मृ० २/४३

४. राज्ञः स्वहस्तसंयुक्तं स्वमुद्राचिह्नितं तथा।
राजकीयं स्मृतं लेख्यं सर्वेष्वर्थेषु साक्षिमत्।
याज्ञ०, २/९१ पर मिताक्षरा, व्यास, उद्०स्मृ०च० २ पृ०५७ कात्यायन २५९, २६५ तुलना कीजिए आधुनिक सिविल प्रक्रिया संहिता (१९०८)

५. "यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम्।
सावधारणं चैव जयपत्रकमिष्यते।
प्राड्विवाकादिहस्ताङ्कमुद्रितं राजमुद्रया।
सिद्धेऽर्थे वादिने दद्याज्जयिने जयपत्रकम्।। वशिष्ठ, उद् मिताक्षरा टीका, याज्ञ०स्मृ० २/९१

६. यथोपन्यस्तसाध्यार्थसंयुक्तं सोत्तरक्रियम्।
सावधारणकं चैव जयपत्रकमुच्यते।। शुक्रनीति, २/३००

७. याज्ञ०२/९१ मिताक्षरा

किसी विवाद में दिये गये निर्णय के कात्यायन ने दो प्रकार बताये हैं "जयपत्र" और पश्चात्कार। जो निर्णय विवाद के पूर्ण विचारण के बाद दिया जाता है उसे "पश्चात्कार" कहा गया है। उसको विस्तार से बताया गया है। जैसे जिस पत्र में वादी का वक्तव्य, प्रतिवादी का उत्तर, साक्षियों के वक्तव्य, राजा द्वारा किस प्रकार विवाद को सुना गया, सभ्यों, परिवार के सदस्यों, न्यायाधीश आदि के वक्तव्य एवं अन्त में स्मृति के नियमों के अनुसार राजा के विचार व निर्णय लिखे हों, वह "पश्चात्कार" कहलाता है। इतना ही नहीं वादी को इस पत्र पर विजयी होने पर राजा व सभ्यों के हस्ताक्षर भी प्राप्त होते थे। जहाँ मुकद्दमा करनेवाला साक्ष्यों के आधारपर विजयी होता था वहाँ "पश्चात्कार" पत्र दिया जाता था। कात्यायन के अनुसार हर प्रकार के विवादों के निर्णयों में "पश्चात्कार" नहीं दिया जाता था।[१] जो निर्णय पूर्ण विचारण हुए बिना दिया जाता था या जहाँ वादी अपने विवाद के विचारण में परिवर्तन कर देता है (उसे हीन वादी कहा गया है) और जिसमें मात्र घटना का वर्णन किया गया है उसे "जय-पत्र कहा गया है।[२] इस विषय में कात्यायन का मत बृहस्पति, व्यास आदि से भिन्न है। उनके अनुसार हर प्रकार के निर्णय में "जयपत्र" दिया जाता है। सम्पूर्ण क्रिया का विवरण देते हुए अन्त में राजा का निर्णय जो लिखा जाय वह "जय-पत्र" है, उसमें राजमुद्रांकन आवश्यक था।[३]

बृहस्पति ने "निर्णय" को चार प्रकार में विभाजित किया है प्रथम-धर्मानुसार (जहाँ वादी प्रतिवादी अपराध स्वीकार कर लें व दिव्य द्वारा भी प्रमाणित हो।[४]) २. व्यवहार (जिसमें साक्ष्यों प्रतिसाक्ष्यों पर पूर्ण विचार किया गया हो ३. तर्कों पर आधारित (तथ्य, भोग प्रथा) व चतुर्थ कुछ भी संभव न होने पर राजाज्ञा। कौटिल्य ने "पंश्चात्कार" शब्द का प्रयोग दूसरे ही प्रसंग में किया है। वे हिंसा जन्य अपराधों में प्रतिवादी द्वारा उसी दिन उत्तर न देने पर उसे पराजित मानने के अर्थ में उक्त शब्द का प्रयोग करते हैं।[५]

---

१. कात्यायन, २५९-२६५ (काणे अनुवाद)

२. अनेनविधिना लेख्यं पश्चात्कारं विदुर्बुधाः।
निरस्ता तु क्रिया यत्र प्रमाणेनैव वादिना।
पश्चात्कारो भवेतत्र न सर्वासु विधीयते।
अन्यवाद्यादि हीनेभ्य इतरेषां प्रदीयते।
वृत्तानुवादसंसिद्धं तच्च स्याज्जयपत्रकम्। कात्यायन, २६४-२६५

३. साधयेत् साध्यमर्थं तु चतुष्पादन्वितं जये।
राजमुद्रान्वितं चैव जयपत्रकमिष्यते।। बृहस्पति, उद्धृत स्मृ०च० २. पृ० १३१

४. बृहस्पति, ९/१ (आयंगर द्वारा सम्पादित)

५. घाताभियोगमप्रतिब्रुवतस्तदहरेव पश्चात्कारः।। कौ०अ० ३/१९

पुनर्न्याय (अपील)

व्यवहार की परिसमाप्ति निर्णय से होती है। परन्तु यह निर्णय, कुछ अवस्थाओं में अन्तिम निर्णय नहीं कहा जा सकता। अतः धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) में न्याय को पूर्णतः पवित्र रखने की भावना की प्रेरणा के फलस्वरूप पुनर्न्याय का विधान भी किया गया है। प्राचीन भारतीय न्यायप्रक्रिया में "अपील" के लिए विचार्य या 'पुनः विचारण' तथा पुनः "व्यवहारदर्शनम्" शब्दों का प्रयोग मिलता है। इन शब्दों के अर्थों में कोई भिन्नता व्यक्त नहीं की गई है। ये सभी शब्द धर्मशास्त्रकाल में समानार्थी रहे होगें और इनका तात्पर्य यही होगा कि उस समय सम्पूर्ण विवाद का विचारण प्रारम्भ से अन्त तक फिर से किया जाए। कात्यायन ने इसे व्यवहार लक्षणों में "प्रत्याकलित" कहा है[१] तथा याज्ञवल्क्य एवं बृहस्पति ने "क्रियापाद"[२] कहा है आगे बृहस्पति भी व्यवहार के चतुर्थपाद को "प्रत्याकलित"[३] कहते हैं। प्रत्याकलित का अर्थ है प्रमाणों और साक्षियों के विषय में सभ्यों के बीच विचार-विमर्श अर्थात् उसकी विश्वसनीयता का आकलन। यही अर्थ क्रियापाद का है। अतः पुनः विचारण प्रमाणों एवं साक्ष्य के प्रस्तुतीकरण के बाद की स्थिति का ही किया जाता होगा।

मनु, याज्ञवल्क्य व नारद तीनों ने ही पुनर्न्याय का विधान किया है जिन अवस्थाओं में पुनर्न्याय का विधान हो सकता है उन अवस्थाओं के लिए स्मृतियों में दो शब्द मिलते हैं वे शब्द है– "तीरित" तथा "अनुशिष्ट" निर्णय की ये दो अवस्थायें हैं। इन दोनों अवस्थाओं में भी पुनर्न्याय हो सकता था। "तीरित" का अर्थ है– समाप्त करना अथवा निर्णय तक पहुँचना अर्थात् (जहाँ कोई विवाद सभ्यों द्वारा सत्य सिद्ध किया जा चुका हो जबकि वास्तव में वह असत्य हो, वह तीरित कहलाता है। "अनुशिष्ट" का अर्थ है आदेशित अथवा जयपत्र में उल्लिखित होना। निर्णय के अनुसार दण्ड विधान)। यदि धर्मपूर्वक निर्णय ले लिया गया हो अथवा निर्णय को उक्त अवस्थायें प्राप्त हो गयी हों तो पुनर्न्याय नहीं होता था[४] चाहे दंड पाने वाला उससे सहमत हो अथवा असहमत हो। यह व्यवस्था स्पष्ट रूप से सभी निर्णयों में पुनर्न्याय को अस्वीकार करती है। परन्तु नारद के अनुसार उक्त

---

१. पूर्वपक्षश्चोत्तरं च प्रत्याकलितमेव च।
क्रियापादश्च तेनायं चतुष्पादसमुदाहृतम्।। कात्यायन०, ३१

२. याज्ञ०स्मृ०, २/६/८

३. बृहस्पति, २/१ (आयंगर के संकलन में बृहस्पति के श्लोक में 'प्रत्याकलित" शब्द का प्रयोग है, जबकि अपरार्क के अनुसार "निर्णय" शब्द है। अपरार्क पृ० ६१६)

४. तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्।
कृतं तद्धर्मतो विधान्न तद्भूयो निवर्तयेत्।। मनु०स्मृ० ९/२३३

अवस्थाओं (तीरित तथा अनुशिष्ट) में यदि कोई यह मानता है कि निर्णय अधर्मपूर्वक हुआ है तब जितना दण्ड विधान निर्णय में हुआ हो उसका दुगुना निर्धारित करके पुनः उसे देखना चाहिए।[1] पुनर्न्याय तभी होता था जब साक्षी, सभ्य, प्राड्विवाक आदि कोई अनुचित रीति से व्यवहार देखते हो। मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद इन अवस्थाओं में पुनर्न्याय का विधान करते हैं। राजा को यह अधिकार है कि वह सभ्य तथा प्राड्विवाक आदि के अनुचित निर्णय को फिर से देखे तथा अनुचित कार्य के लिए उनको दण्ड दे।[2] याज्ञवल्क्य पुनरीर्क्षण की स्थितियों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पूर्वनिर्णय, बल एवं भय द्वारा निष्पन्न व्यवहारों एवं स्त्रियों के साथ, रात्रि को घर के भीतर, ग्राम आदि के बाहर और शत्रुओं द्वारा किये गये व्यवहारों पर पुनः विचार किया जाना चाहिए।[3] मत्त (नशे में), उन्मत्त (पागल), रोगी, प्रियजन की मृत्यु से विपत्तिग्रस्त, बालक, त्रस्त व्यक्तियों पर चलाया गया व्यवहार एवं असम्बद्ध व्यक्ति द्वारा चलाया गया व्यवहार सिद्ध नहीं होता।[4] इसी प्रकार से कूटसाक्ष्य का पता लगने पर निर्णय की जो भी स्थिति रहेगी वह सब नहीं के बराबर समझी जाती थी। प्राड्विवाक आदि के अन्यथा कार्य करने पर पुनर्न्याय के अतिरिक्त उनको दण्ड देने का भी विधान था। लेकिन पुनर्न्याय की एक ही अवस्था थी, केवल नियम विरुद्ध कार्य में ही पुनर्न्याय होता था। नारद ने स्पष्ट रुप से कहा है कि साक्षी तथा सभ्यों आदि के दोष में ही पुनर्न्याय होता है तथा अपने कार्यों से हारने वाले के लिए पुनर्न्याय नहीं कहा जा सकता।[5] अतः उन्होंने स्पष्ट शब्दों में पुनः विचारण को मान्यता दी है। कात्यायन भी लिखते हैं कि यदि कोई पक्ष

---

१. तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः।
द्विगुणं दण्डमास्थाय तत्कार्यं पुनरुद्धरेत्।। ना०स्मृ० १/६५

२. (i) अमात्याः प्राड्विवाको वा यत्कुर्यः कार्यमन्यथा।
तत्स्वयंनृपतिः कुर्यात्तान्सहस्रं च दण्डयेत्।। मनु० ९/२३४

(ii) दुर्दृष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु।
सभ्याः सजयिनो दण्डया विवादाद् द्विगुणं दमम्।

(iii) दुर्दृष्टे व्यवहारे तु सभ्यास्तं दण्डमाप्नुयुः। ना०स्मृ०, १/६६

३. बलोपाधिविनिर्वृत्तान्व्यवहारान्निवर्तयेत्।
स्त्रीनक्तमन्तरागारबहिः शत्रुकृतांस्तथा। याज्ञ०स्मृ० २/३१
स्त्रीषु रात्रौ बहिर्ग्रामादन्तर्वेश्मन्यरतिषु।
व्यवहारः कृतोऽप्येषु पुनः कर्त्तव्यतामियात्।। ना०स्मृ० १/४३

४. मत्तोन्मत्तार्तव्यसनिबालभीतादियोजितः।
असंबद्धकृतश्चैव व्यवहारो न सिद्धयति। याज्ञ०स्मृ०, २/३२

५. साक्षिसभ्यावसन्नानां दूषणे दर्शनं पुनः।
स्वचर्यावसितानां तु नास्ति पौनर्भव विधिः।। ना०स्मृ०, २/४०

निर्णय से सन्तुष्ट न हो यद्यपि वह निर्णय "कुल" या अन्य न्यायालयों से दिया गया हो, राजा को चाहिए कि वह निर्णय पर पुनः विचार करे और गलत निर्णय को बदले।[१]

---

१. कुलादिर्भिनिश्चितेपि सन्तोषं न गतस्तु यः।
विचार्य तत्कृतं राजा कुकृतं पुनरुद्धरेत्।। कात्यायन, ४९६

पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची

मूल संस्कृत ग्रन्थ

अग्निपुराणम् — महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यासप्रणीत, आ० बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी– १, १९६६

अत्रिस्मृति — धर्मशास्त्र मूलभाग - १, मनमोहननाथ दत्त द्वारा सम्पादित व प्रकाशित, कलकत्ता, १९०८

अभिधर्मकोश — वसुबन्धु अनुवादक आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तरप्रदेश, इलाहबाद १९५८

अथर्ववेदसंहिता — स० पाण्डुरंग पंडित द्वारा सम्पादित बम्बई, १८९५ - १८९८

आपस्तम्बधर्मसूत्र — जार्जव्यूहलर, बोम्बे संस्कृत सीरीज़, १९३२

ऋग्वेद का सुबोधभाष्य — पं० दामोदर सातवेलकर, प्रकाशक, श्रीपाद सातवेलकर स्वाध्याय मंडल, भारतमुद्रणालय, पारडी, जि० बलसडा०

ऐतरेयब्राह्मण — मार्टिनहग द्वारा सम्पादित व अनुवादित, भाग - १, गवर्नमैंट सैन्ट्रल डिपो, बम्बई

कामसूत्र — जयमंङगला व्याख्यासहित, हिन्दीव्याख्याकार श्रीदेवदत्तशास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी

कात्यायनस्मृतिसारोद्धार — अनु०पी०वी० काणे, अंग्रेशवाडी, गिरगांव बुक डेपो, बम्बई, १९३३

कामन्दकीयनीतिशास्त्र — ज्वालाप्रसाद मिश्रकृत भाषा टीका, खेमराज-श्रीकृष्णदास, बम्बई १९७४

कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीय संहिता — अनन्तशास्त्रिसम्पादित द्वितीयसंस्करण, १९५७

कौटिल्य अर्थशास्त्र — व्याख्याकार वाचस्पतिगैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७७

गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि — हरदत्त की मिताक्षरावृत्ति सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, १९३१

तैत्तिरीय ब्राह्मण — महादेवशास्त्रि एवं श्रीनिवास सम्पादित, मोती लाल बनारसी दास १९१३

तैत्तिरीय संहिता — भट्टभास्करमिश्र व सायणाचार्य की टीका सहित एन०एस० सोनटक्के सम्पादित, धर्माधिकारी, १९७२.

नारदस्मृति — हिन्दी व्याख्याकार डा० ब्रजकिशोर स्वाई, चौखम्बा संस्कृतभवन, वाराणसी, १९९६.

निरुक्त — सुबोधिनी हिन्दी व्याख्यायुक्त, मेहरचन्दलक्ष्मण दास, दिल्ली, १९६३

नीतिवाक्यामृतम् — दीपिकानामक भाषाटीकायुक्त, पं० सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा अनुवादित, सम्पादित व प्रकाशित, श्री महावीर जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, १९७६

नीतिशास्त्रम् — जोशी, शान्ति, दिल्ली, १९७९

पराशरस्मृति — श्यामसुन्दर त्रिपाठी द्वारा सम्पादित, बम्बई १९५८

पितामह स्मृति — स्मृतिचंद्रिका में संकलित

पराशर धर्मसंहिता या पराशरस्मृति — सायणमाधवाचार्य की टीका सहित, पं० वामनशास्त्री द्वारा सम्पादित, भाग- २, गवर्नमैंट सैंट्रलप्रैस, बम्बई, १९११

बौधायन धर्मसूत्र — गोविन्दस्वामी की टीका, पं०अ० चिन्नस्वामी द्वारा सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३४

बृहस्पतिस्मृति — के०वी०आर० आयंगरसम्पादित, बरौदा ओरियन्टल इन्स्टीटयूट, १९४१

मनुस्मृति — कुल्लूकभट्ट के भाष्यसहित, मनु० हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान

मनुस्मृति — दी लॉज आफ मनु, मेधातिथि के भाष्यसहित अनुवादक गंगानाथ झा, भाग १ व २, कलकत्ता, १९३२, १९३९

मानवधर्मसंग्रह — सम्पादकलक्ष्मण सिंह, कौवा प्रान्त, इटावा, स० १९७८ वि०

मैत्रायणिसंहिता — लियोपोलवोन श्रोडे विरटे बुक फ्रैंच स्टीने वर्लण जीएमबीएच विजबाडेन, १९७२.

याज्ञवल्क्यस्मृति — अपरार्क टीका सहित, आनन्द आश्रम मुद्रणालय, प्रकाशित, ९९०४

रामायण — वाल्मीकि, आर० नारायण स्वामी अय्यर द्वारा सम्पादित, मद्रास लॉ जर्नल आफिस, १९३३.

वीरमित्रोदय — मित्रमिश्र, चौखम्बा, बनारस, ९९८९.

व्यवहारमयूख — नीलकण्ठभट्ट रचित, एम०जी० नक्रे तथा वी० आर० लेले द्वारा सम्पादित, १९२३.

व्यास स्मृति — विवादरत्नाकर एवं स्मृति-चंद्रिका में संकलित।

विष्णुस्मृति — जूलियस जॉली, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२

विष्णुस्मृति — स्मृतिचन्द्रिका में संकलित

शुक्रनीति — "विद्योतिनी" हिन्दी व्याख्योपेता- अनु० ब्रह्मशंकरमिश्र, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ आफिस, वाराणसी, १९६८

शुक्रनीतिसार — जीवानन्द द्वारा सम्पादित

शुक्लयजुर्वेद संहिता — पं० जगदीश लाल शास्त्री द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, १९९१

श्रीमद्भगवद्गीता — श्रीमद् ए०सी० भक्तिवेदान्त स्वामीप्रभुपाद, भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट, १९८३

श्रीवासिष्ठधर्मशास्त्र — एलोइस एनटोन फयूहरर भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३०.

सामवेद — पं० तुलसीराम स्वामिकृत हिन्दी भाष्य, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, १९७२.

स्मृतिचन्द्रिका — देवेणभट्ट, एल. श्रीनिवासाचार्य द्वारा सम्पादित, भाग-१, गवर्नमैंट ब्रांच प्रैस

सहायक ग्रन्थ

हिन्दी गन्थ

अनिरुद्ध तथा रामनन्दमिश्र — आचारशास्त्र के मूलसिद्धान्त, पटना, १९७८

गौरीशंकर भट्ट — भारतीय संस्कृतिः एक समाज-शास्त्रीय समीक्षा, साहित्यसदन, देहरादून।

गीतारानी अग्रवाल — धर्मशास्त्रों का समाजदर्शन, आदर्शविद्या निकेतन, वाराणसी, १९८३

जूलियस जॉली — हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम, कलकत्ता, १९२८।

प्रतिभारानी — वैदिकसंहिताओं में आचारमीमांसा, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

पी०वी० काणे — हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र खण्ड १ से ३, अनु० अर्जुन चौबे काश्यप, लखनऊ, १९७३

महेन्द्रनाथ सिंह — बौद्ध तथा जैन धर्म विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १९९०

महात्मा गाँधी — नीतिः धर्मः दर्शन, इलाहबाद, १९६७

मैक्समूलर एफ — सेक्रेट बुक्स आफ द ईस्ट, वाल्यूम- १४ मोतीलाल बनारसीदास

मुंशीराम शर्मा — वैदिक संस्कृति और सभ्यता रामबाग, कानपुर, १९८७

रवीन्द्रनाथ — धर्मशास्त्रीय विधि पद्धति, किताबमहल, इलाहबाद

रघुवीर वेदालंकार — वैदिक दर्शन, नागपब्लिशर्स, दिल्ली।

राधाकृष्णनन् — इण्डियन फिलासफी द मैकमिलन कम्पनी

रामचन्द्रवर्मा — हिन्दूराज्यतन्त्र (पहला खण्ड) नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २००८

लक्ष्मीदत्तठाकुर — प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५।

वाचस्पति गैरोला — वैदिक साहित्य और संस्कृति, संवर्तिका प्रकाशन, इलाहवाद, १९७०

विशम्भरदयाल अवस्थी — वैदिक संस्कृति और दर्शन, सरस्वती प्रकाशन मंदिर, इलाहबाद।

वेदप्रकाश उपाध्याय — हिन्दू विधि एवं स्रोत, इन्टरनेशनल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद

वेदवाचस्पति प्रियव्रत — वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, मेरठ १९८३

शकुन्तला तिवारी — महाभारत में धर्म, पाटलप्रकाशन, आगरा, १९७३

स्वामी दयानन्द — धर्मविज्ञान (प्रथमखण्ड) शास्त्रप्रकाशविभाग, बनारस, १९३९

सूर्यकान्त — वैदिक धर्म एवं दर्शन, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९६३

अंग्रेजी ग्रन्थ

A Treatise of Hindu Law – G.C. Sarkar, 2nd Edition, Eastern Law House, Calcutta

Dharma Sutra: A Study in their origin and development – S.C. Banerjee, Punthi Pustaka, Calcutta - 1962.

Epochs in Hindu Legal History – U.C. Sarkar, Vishveshvaranand vedic Research Institute, Hoshiarpur, 1958

Evolution of Smriti Law – Shivaji Singh, Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1972

Hindu Jurisprudence – K.R.R. Shastri, Eastern Law House Private Ltd., Calcutta, 1961.

Hindu Law in its sources – Allahabad, 1930

Hindu Law – N.R. Raghavachariar, Madras Law Journal Office, Madras, १९७०.

Hindu Philosophy of law in vedic and Post vedic Times to the Institute of Manu – Radhabinodapal, Calcutta.

History and sources of Law in Ancient India. – Chakradhar Jha, Ashish publishing House, New Delhi, 1987

History of Dharmaśāstra – P.V. Kane, Bhandarkar oriental Research Institute, Poona, 1946.

Indian Law and Justice in Ancient India. – R.K. Chawdhari, 1957

Justice for Common man – Papers by A.K. Sen, G.S. Pathak, M.C. Satalvad, Eastern Book Company, Lucknow, 1964

Laws of Manu (in 5 volumes) – Dr. G. N. Jha, Translation of Manu-Smriti, university of Calcutta, 1921-1926.

Manu Dharma Shastra – Kewal Motwani, 1958.

Principals of Hindu law – D.F. Mulla, Bombay, 1959

Some Aspects of Ancient Indian Polity – K.V. Aianger, RangaSwami, Madras, 1935.

Sources of Law and society in Ancient India. – N.C. Sengupta

कोषग्रन्थ

Apte, vaman Shivram – A Students Sanskrit English Dictionary, Motilal Banarsi Das, 1976.

Bhargava – Standard Illustrated Dictionary of the English Language, Bhargava Book Depot, Chowk, Varanasi, 1976

Moniar williams – Sanskrit English Dictionary, oxford university, 1956

आदित्येश्वर कौशिक – संस्कृत हिन्दी-कोश, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, मानवसंसाधन विकास मंत्रालय, शिक्षाविभाग, दिल्ली।

धर्मकोश (व्यवहारकाण्ड) – लक्ष्मणशास्त्री जोशी द्वारा सम्पादित, प्राज्ञण्य पाठशाला मण्डल, सतारा, 1941

राजवीर शास्त्री – दयानन्द वैदिक-कोश, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली, 1975

लक्ष्मण शास्त्री जोशी – धर्मकोश

सूर्यकान्त त्रिपाठी – वैदिक कोश, बनारस हिन्दू यूनीवर्सिटी, 1963